प्रमाणविवेक

रूपकुमारीदेवी—नृपपुत्री ! प्रमाणनिदर्शनपूर्वक अतिसंक्षेप से अन्तःकरण की वृत्तियों का वर्णन करूंगी। इसके पूर्व तुझे यह जानना चाहिये कि ज्ञान की मात्रा बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक अनुभवद्वारा बढ़ती जाती है। कुछ पूर्वजन्म का संस्कार और कुछ इस जन्म का संस्कार इन दोनों से संसार का कार्य्य होता रहता है। इस सृष्टि में जीव सृष्टि अतिविलक्षण है यह तू देख रही है। एक कोष्ठक से लेकर सहस्रशः कोष्ठक तक जीव इस पृथिवी पर पाए जाते हैं। बहुत से, प्रत्युत अगण्य जीवशरीर भूमि पर अधिक हैं। जिन को आज कल आविष्कृत सूक्ष्म यन्त्र द्वारा देख सकते हैं। हम अपने इन्द्रियों द्वारा तब तक उनको नहीं देख सकते जब तक उन सूक्ष्म यन्त्रों की सहायता न लेवें। क्या आश्चर्य्य है कि अत्यन्त अणुतम कीट में भी वेही सब गुण देखे जाते हैं जो हम मनुष्यों में हैं। वे अणुतम कीट भी मनुष्यवत् सुख दुःख का पूरा अनुभव करते हैं। पारिवारिक सुख का भी आनन्द वे उठाते हैं। देख, चींटियां सदा अपने परिवार के साथ देखी जाती हैं। बहुतसी चींटियां मिल कर सुन्दर घर बनाती हैं। बहुत भ्रमर मिल कर कैसा उत्तम स्वगृह रचना करते हैं। इस प्रकार पशु पक्षी इत्यादि सर्वजीव में मनुष्यवत् ही प्रायः सब व्यवहार होते हैं। हां, इतनी बात अवश्य है कि मनुष्य जाति में उत्तरोत्तर उन्नति आश्चर्य्यरूप से होती चली आती है। शैशवावस्था में जिस वस्तु का लेश भी नहीं रहता वह यौवनावस्था में अतिवृद्ध हो जाती है। लज्जा, घृणा, दया, प्रेम, सदाचार, विचार इत्यादि क्रमशः बढ़ते जाते हैं। अनुभव से बहुत ज्ञान प्राप्त होता है। शैशव में मनुष्यशिशु को भय नहीं लगता क्योंकि यदि सिंह वा सर्प वा अग्नि उस शिशु के निकट लाया जाय तो जातमात्र बालक में भय का कोई विकार नहीं पाया जाता। किन्तु खटमल आदिक जीवों में प्रायः जन्मकाल से ही भय देखा जाता है। एवमस्तु विषयान्तर में न जाकर प्रकृत मनुष्यजाति का यहां वर्णन करना है।

इसी जाति में विधि, निषेध, सदाचार, कदाचार, मान, अपमान, मर्य्यादा, बोध, अबाध इत्यादि की मीमांसा होती है।

देख, ज्ञान प्राप्ति की सामग्रियां बहुत हैं तथापि विचार करने से वे थोड़ी हैं। मनुष्यजाति अन्यान्य जातिवत् अपूर्ण ही है। इस को अपने उदर के अभ्यन्तर का भी पूर्ण बोध नहीं इस शरीर में ही कितनी वस्तुएं कहां हैं, क्योंकर यह शरीर रुग्ण और कभी नीरोग कोई बलिष्ठ कोई दुर्बल कोई लम्बे और खर्व कोई जन्म से ही अन्धे, गूंगे और कोई सर्वांग कुष्ठ इत्यादि भेद क्यों होता है। इसका भी तो परिचय मनुष्य को नहीं। एक ही वायुमण्डल और देश में रहते हुए कोकिल क्यों काले और बक क्यों श्वेत इत्यादि का कौनसा ज्ञान मनुष्य को प्राप्त है। इस प्रकार कोटियों अज्ञानों से आवृत किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर किस दरजे तक मनुष्य अभिमानी, गर्वान्वित, और मदोन्मत्त हो जाता है। यह तू देख रही है। मैं सत्य कहती हूं कि मनुष्यजाति अतिशय मूढ़ा है तथापि इस में अहङ्कार की सीमा नहीं यद्यपि इस की आयु क्षणिक और विषय सुख भी तदनुसार स्वल्प तथापि इतना ही। नरनारियां कितनी सौख्यवती हो रहा हैं। ये सब लीलाएं इसी आत्मा के विकाश का फल हैं। क्योंकि सृष्टि की आदि से आज तक महात्मा अपनी २ बुद्धि के अनुसार सब देशों और सब कालों में उत्तमोत्तम उपदेश देते आए तथापि यह जाति सुखिनी नहीं हुई और न भविष्यत् में होने को कोई प्रत्याशा देखती हैं। इतने प्रयत्न होने पर भी मनुष्य में भ्रातृभाव का लेश भी न आया शत्रुता सदा से बढ़ती हो चली आई और बढ़ती चली जाती है। स्वार्थ का महासागर यह जाति है इस में अणुमात्र भी सन्देह नहीं। हे राज-पुत्रि! तू अपनी चित्तवृत्ति को एकाग्र कर। वृत्तियों का ही मैं संक्षिप्त भेद बतलाती हूं। ध्यान से सुन।

प्रत्येक मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों को प्राप्त करना चाहता है। यह साधारण प्रवृत्ति है। इन में भी काम और अर्थ की ओर सर्वप्राणी की प्रवृत्ति है। मनुष्यजाति धर्म की

और बढ़ती तो है किन्तु छल, कपट, आडम्बर, कुटिलता और अभिमानादि अनेक दोषों से दूषित होने पर भी वह पुरुष अपने को धर्म धुरन्धर समझता है। इस जगत् में मानवलीला अत्यन्त रोचक और शोचप्रद है। मोक्ष की ओर तो कोटियों में एक आध पुरुष ही अग्रसर होते हैं। हे पुत्री! ये सारी लीलाएं परिस्थिति के अनुसार होती हैं। परिजन, पुरजन, देशजन और विदेशजन इत्यादिकों की दशा और कार्य्यक्रम देख कर मनुष्य अपना भी क्रम वैसा ही रखना चाहता है। भूपतियों तथा धनाढ्य पुरुषों की प्रशसनीय गति देख कर वह भी तत्समान बनने की चेष्टा करता है। कभी विद्या का महत्व देख वा सुन विद्वान् होना चाहता है। कभी चिरस्थायी स्वर्गीय सुख को सुन उसकी सिद्धि के साधन में प्रवृत्त होता है। कभी तपस्वी और व्रती बन तीर्थों और देशों मे यात्रा करता अथवा बन में एकान्तवास चाहता है। मनुष्यों की चित्त वृत्तियों का कहीं अन्त नही है। यह वृत्ति पृथिवी से भी बड़ी है। समुद्र इस के एक कोने में छिप सकते हैं। यदि कहा जाय कि वृत्ति की लम्बाई और चौड़ाई उतनी है जितना यह महान् आकाश है तो यह अत्युक्ति न होगी। उपदेशप्रदर्शक ब्राह्मण, पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में चित्तवृत्तियों का चित्र साधु रीति से खैंचा गया है। यद्यपि वे काल्पनिक गाथाएं हैं तथापि वे बहुधांशों में मनुष्य पर घट सकती हैं। नमुचि नाम का असुर प्रलय काल पर्य्यन्त जीवित रहना चाहता था। हिरण्य कशिपु भी शाश्वतिक आयु का प्रार्थी हो त्रिभुवन का राज्य प्राप्त करके भी सन्तुष्ट न हुआ। रावण सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में रखकर त्रिलोकीपिता जगदीश के कार्य्य को भी हंसा करता था। इसी प्रकार अनेक असुरोंका वृत्तान्त दिखला चित्तवृत्ति कैसी प्रबल और बढ़ती जाती है इस का वर्णन दिखलाया है। एवमस्तु। हे पुत्री तू निज अनुभव से और परित-स्थित मनुष्यों के चरित्रों को देखने से चित्तवृत्तियों की परीक्षाकर और ऋषियों, मुनियों, और आचार्य्यों की शिक्षा को प्रणाली के

अनुसार चित्तवृत्तियों को रोकने के लिये प्रयत्नवती हो और समाधिनिमग्ना होकर अपने स्वरूप को पहचान और ध्यान धर।

शास्त्रों में चित्तवृत्तियों का निरूपण अतिविस्तार से और शास्त्रीय शब्दों द्वारा किया गया है। विषय कठिन है तथापि सरल भाव से मैं उनका संक्षिप्त निरूपण करती हूं। प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं। स्मृति को छोड़ अनधिगत और अबाधित विषय के ज्ञान का नाम प्रमा है अर्थात् यथार्थानुभव का नाम प्रमा है। असाधारण साधन का नाम करण है। जैसे रूप के ज्ञान के लिये नेत्र असाधारण कारण हैं। नेत्र के विना रूप का बोध कदापि नहीं हो सकता। इसी प्रकार श्रोत्रादिक भी अपने २ विषय ग्रहण करने में असाधारण करण हैं। यद्यपि स्मृतिज्ञान भी अबाधित है किन्तु अनधिगत नहो। भ्रमादिक ज्ञान अनधिगत तो है किन्तु अबाधित नहीं क्योंकि अधिकरण ज्ञान से भ्रम-ज्ञान बाधित हो जाता है।

शङ्का होती है कि यह घट यह पट इत्यादि प्रकारक धारावाहिक स्थल में अधिगत ही ज्ञान रहता है। वहां लक्षण समन्वय कैसे ?

उत्तर–ऐसे स्थल में जैसे नीरूप काल का भी इन्द्रियवेद्यत्व वेदान्त मत में स्वीकृत है वैसे ही धारावाहिक बुद्धिस्थल में भी पूर्व ज्ञान का अविषय जो तत् तत् उत्तर कालिक क्षण उसका वह विषय होताहै। अतः अव्याप्ति दोष नहीं। किञ्च सिद्धान्त में ज्ञान भेद का स्वीकार नहीं। धारावाहिक बुद्धि स्थल में जब तक घट स्फुरण रहता है तबतक घटाकार जो अन्तःकरण की वृत्ति वह एक ही रहती है नाना नहीं। क्योंकि वृत्ति को रोकने वाली दूसरी वृत्ति जब तक उत्पन्न नहीं होती तब तक एक ही स्थायी वृत्ति रहती है। और तत्प्रतिफलित चैतन्यरूप घटादिक ज्ञान भी तात्कालीन एक ही रहता है। इस लिये अव्याप्ति शङ्का भी नहीं।

पुनः शङ्का होती है कि सिद्धान्त में घटादिक ज्ञान भी मिथ्या है। चैतन्यज्ञान से उसका बाध होता है। तब घटादिक ज्ञान प्रमाण कैसे ?

उत्तर-ब्रह्मसाक्षात्कार के अन्तर घटादिक ज्ञान का बाध होता है संसार दशा में नहीं। क्योंकि श्रुति कहती है:-

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्। यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति"

जिस तत्व की साक्षात्कार दशा में ब्रह्मसाक्षात्कारवान् पुरुष का सब आत्मा ही होता है। उस दशा में किस कारण से किस इन्द्रिय से किस विषय को देखे? क्योंकि तत्वज्ञान से सबका बाध होजाता है। जिस संसार दशा में द्वैत के समान होता है उस दशा में इतर, इतर को देखता है। इस से सिद्ध है कि संसार दशा में घटादिक ज्ञान अबाधित रहता और ब्रह्म साक्षात्कार दशा में सब का बाध हो जाता है। इस हेतु घटादि प्रमा में अव्याप्ति नहीं। कहा भी गया है:-

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः। लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥

जैसे देहेन्द्रियादिका ज्ञान प्रमाण समझा जाता है तद्वत् ब्रह्म साक्षात्कार जब तक नहीं हुआ है तब तक ही लौकिक प्रमाण समझा जाता है।

वे प्रमाण छः हैं, वे ये हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। प्रत्यक्ष प्रमाके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमितिप्रमा के करण को अनुमान, उपमिति प्रमा के करण को उपमान, शाब्दी प्रमा के करण को आगम, अर्थापत्ति प्रमा के करण को अर्थापत्ति, और अभाव प्रमा के करण को अनुपलब्धि कहते हैं। सिद्धान्त में प्रत्यक्ष प्रमा भी चैतन्य ही है।

शङ्का-निरवयव अन्तःकरण को परिणामात्मिका वृत्ति कैसे?

उत्तर-अन्तःकरण निरवयव नहीं। सिद्धान्त में वह सावयव पञ्चीकृत हुआ है। क्योंकि श्रुति कहती है "तन्मनोऽसृजत" तब मन को बनाया। वृत्तिरूप ज्ञान का मनो धर्मत्व है। इस में प्रमाण यह है

काम: संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मनएव ॥

काम, सङ्कल्प, विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री (लज्जा) धी (ज्ञान) भी (भय) ये सब मन ही हैं। यहां धी शब्द से वृत्तिरूप ज्ञान का ग्रहण है। अतएव कामादिक भी मनोधर्म कहलाते हैं। मन, चित्त, और अन्तःकरण ये तीनों एकार्थक हैं।

शङ्का– मैं चाहती हूं, मैं जानती हूं, मैं डरती हूं इत्यादि अनुभव आत्मा का धर्म प्रतीत होता है। तब कामादिक की अन्तःकरण धर्मता कैसे ?

उत्तर–जैसे लोहगोलक स्वयम् जलाने वाली चीज़ नहीं। तथापि जब वह लोह अग्नि से सन्तप्त हो जाता है तब लोग कहते हैं कि "यह लोहगोलक जलाता है"। क्योंकि लोह और अग्निताप दोनें मिश्रित होगये हैं। तद्वत् सुखाद्याकारपरिणामी जो अन्तःकरण उस अन्तःकरण में चैतन्याध्यास के कारण "मैं सुखी, मैं दुःखी हूं" इत्यादि व्यवहार होता है। वास्तव में सुख दुःखादि का ज्ञान भी अन्तःकरण का परिणाम है। तथापि आत्मा का परिणाम इस लिये मालूम होता है कि आत्मा और अन्तःकरण दोनें सम्मिलित हैं।

शङ्का–अन्तःकरण इन्द्रिय है। परन्तु मैं जानती हूं इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं। इस लिये अतीन्द्रियजन्य है। तब "मैं जानती हूं", इत्यादि की प्रत्यक्षविषयता कैसे ? भाव यह है कि मैं जानती हूं, मैं डरती हूं इत्यादि ज्ञान तो प्रत्यक्ष है किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण नयनादिक हैं। उनसे यह ज्ञान होता नहीं। आप कहती हैं कि इस का ज्ञान अन्तःकरण से होता है। तब इस की प्रत्यक्षता नहीं होनी चाहिये।

उत्तर–अन्तःकरण इन्द्रिय नहीं है।

शङ्का-" मनः षष्ठानीन्द्रियाणि " यह मन को षष्ठ इन्द्रिय कहा गया है।

उत्तर-नहीं, यहां अनिन्द्रिय भी मन से षट्त्व संख्या की पूर्त्ति की गई है। क्योंकि इन्द्रियगत संख्या की पूर्त्ति इन्द्रिय हां से की जाय यह नियम नहीं। क्योंकि-

"यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति"

यजमान सहित पांच आदमी इडां (यज्ञशेषान्न) खाते हैं। यहाँ ऋत्विग्गत जो पञ्चत्व संख्या उस की पूर्त्ति अनृत्विक् यजमान से की गई। और भी-

वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।

यहां वेदगत पञ्चत्व संख्या का पूरण अवेद महाभारत से किया गया है। और भी-

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्थाह्यर्थेभ्यश्च परं मनः।

इन्द्रियों से पर अर्थ हैं और अर्थों से पर मन है यह श्रुति मन को अनिन्द्रिय कहती है।

शङ्का-मनके अनिन्द्रिय होने से सुखादि प्रत्यक्ष का साक्षात्कारत्व न होगा।

उत्तर-इन्द्रियजन्य ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है-यह नियम नहीं क्योंकि तब अनुमिति का भी मनोजन्य होने से साक्षात्कारत्व हो और ईश्वर ज्ञान का अनिन्द्रियजन्य होने से साक्षात्कारत्व कभी न हो।

शङ्का-सिद्धान्त में प्रत्यक्षत्व प्रयोजक कौन ?

समाधान-क्या ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक (प्रेरक) पूछते हो ? यद्वा विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक पूछते हो ? प्रथम पक्ष का उत्तर यह है-प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद ही प्रयोजक है। क्योंकि चैतन्य त्रिविध हैं। १-प्रमातृचैतन्य २-प्रमाणचैतन्य ३-विषयचैतन्य। यहां घटाद्यवछिन्न चैतन्य को विषय चैतन्य,

अन्तःकरण वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रमाणचैतन्य और अन्तः करणा-वच्छिन्न चैतन्य को प्रमातृचैतन्य कहते हैं। सिद्धान्त में एक ही चैतन्य है। यह वारंवार कथित हुआ है। इस हेतु प्रमाता (ज्ञाता जानने वाला जीव) प्रमाण नयनादिक इन्द्रिय और प्रमेय घटपटादि सम्पूर्ण जगत् ये तीनों चैतन्य ही हैं। इन तीनों में व्यावहारिक भेद हैं पारमार्थिक नहीं। और इन तीन चैतन्यों के सन्निकर्ष से जो चतुर्थी प्रमा (यथार्थबोध) होती है। वह भी चैतन्य ही है।

वृत्तिनिर्गमन

जैसे तड़ागस्थ जल किसी छिद्र से निकल खेत की क्यारियों में आ उसी के आकार के समान त्रिकोण चतुष्कोण टेढ़ा सीधा आकार वाला होजाता है, अथवा जैसे मूषा (सांचा) में ढाला तरल धातु उसी के आकार के समान होता है। वैसे ही तैजस अन्तःकरण भी नेत्रादि छिद्रद्वारा निकल घटादि विषय देश को पा घटादि विषय के आकार में परिणत होता है इसी परिणाम का नाम वृत्ति है। और इस प्रकार अन्तःकरण से वृत्ति बाहर निकलती है। इस को वृत्तिनिर्गमन कहते हैं। अनुमित्यादि स्थल में अन्तःकरण की वृत्ति का गमन वह्न्यादि देश में नहीं होता। क्योंकि वहां वह्न्यादि और चक्षुरादि का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) नहीं है और "यह घट है" इत्यादि प्रत्यक्षस्थल में घटादि का और तदाकार वृत्ति का बाहर एक देश में सन्निकर्ष होने से तदुभयावच्छिन्न चैतन्य एक ही है। यद्यपि अन्तः-करण वृत्ति और घटादिक विषय दोनों विभाजक अर्थात् परस्पर भिन्नदेशस्थ हैं। तथापि वृत्ति द्वारा एक देशस्थ होजाने से भेद के उत्पादक नहीं होते। अतएव मठान्तरवर्ती घट तदवच्छिन्न जो आकाश वह मठावच्छिन्न आकाश से भिन्न नहीं। तथा च " यह घट है " यहां घट प्रत्यक्षस्थल में घटाकार जो वृत्ति सो घट संयोगी है। इस लिये घटावच्छिन्न जो चैतन्य उस का और तद्वृत्त्यवच्छिन्न जो

जो चैतन्य उस का अभिन्न होने से घटांश में घट ज्ञान को प्रत्यक्षता है। इसी प्रकार अन्यान्य प्रत्यक्षता के सम्बन्ध में भी जानना।

" तू दशम है " इत्यादि स्थल में सन्निकृष्ट विषय मे शब्द से अपरोक्षज्ञान का स्वीकार है। अतएव " पर्वतवह्निमान् है " इत्यादि ज्ञान भी वह्न्यंश में परोक्ष और पर्वतांशमें अपरोक्ष है क्योंकि,पर्वताद्यवच्छिन्न चैतन्य का बहिर्निःसृत जो अन्तःकरणवृत्ति तदवच्छिन्न जो चैतन्य उस से अभिन्न है। किन्तु वह्न्यंश में अन्तःकरण की वृत्ति निःसृत होकर वहां नहीं जा सकती। इस हेतु वह्न्यवच्छिन्न चैतन्य का और प्रमाण चैतन्य का परस्पर भेद है। वैसा अनुभव भी होता है " पर्वत देखती हूं " और वह्नि का अनुमान करती हूं।

जहां पक्ष असन्निकृष्ट है उस अनुमिति के सर्वांश में ज्ञान परोक्ष ही होता है।"चन्दन सुगन्धित है" इत्यादि ज्ञान भी चन्दनखण्डांश में अपरोक्ष किन्तु सौरभांश में परोक्ष है। क्योंकि सौरभ्य की चक्षुरिन्द्रिय से ग्रहण की अयोग्यता है।

शङ्का-एक ही ज्ञान को परोक्ष और अपरोक्ष दोनों कहने से ज्ञान का जातित्व सिद्ध न होगा।

उत्तर-जातित्व न हो यह इष्ट ही है "यह घट है" इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान घटत्वादि के सद्भाव से प्रमाण है न कि उस का जातित्व स्वीकार करने से।

चतुर्विधवृत्तियां

१-संशय २-निश्चय ३-गर्व ४-स्मरण एवंविध वृत्ति भेद से एक ही अन्तःकरण को मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त शब्द से पुकारते हैं कहा गया हैः-

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त ये चार भीतर के करण हैं। इस

लिये ये अन्तःकरण कहाते हैं। इन के क्रमशः संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण ये चार विषय हैं।

द्विविधप्रत्यक्ष

सविकल्पक निर्विकल्पक भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। वैशिष्ट्यावगाहिज्ञान का नाम सविकल्पक। जैसे घट को मैं जानता हूं इत्यादि ज्ञान। संसर्गानवगाहिज्ञान का नाम निर्विकल्पक है। जैसे "वह यह देवदत्त है" "वह तू है" इत्यादि वाक्यजन्यज्ञान है।

शङ्का–यह शाब्द ज्ञान अप्रत्यक्ष है। क्योंकि इन्द्रियों से इस की उत्पत्ति नही।

उत्तर–ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञान की ही प्रत्यक्षता है। यह वेदान्त में स्वीकार नहीं। किन्तु योग्य वर्तमान विषयक होने से प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से भेद होना प्रत्यक्ष प्रयोजक है यह कहा गया है। इस हेतु "वह यह देवदत्त है" इस वाक्य से जन्य जो ज्ञान उस का सन्निकृष्ट विषय होने से बहिर्निःसृत जो अन्तःकरण वृत्ति उस के द्वारा देवदत्तावच्छिन्न चैतन्य का और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद होने से "वह यह देवदत्त है" इस वाक्यजन्य ज्ञान की प्रत्यक्षता है एवम् "तत्वमसि" इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान का भी प्रत्यक्षत्व है। क्योंकि प्रमातृ चैतन्य का ही यह विषय है। इस लिये दोनो में अभेद बनाही है।

शङ्का–वाक्यजन्य ज्ञान पदार्थ संसर्गावगाही होने से निर्विकल्पक कैसे।

उत्तर–वाक्यजन्यज्ञान की विषयता में पदार्थ की संसर्गता स्वीकार नहीं। अनभिमत संसर्ग का भी वाक्यजन्य ज्ञान का विषयत्व आजायगा। किन्तु तात्पर्य्य ही का यहां ग्रहण है। प्रस्तुत यह है कि "सदेव सौम्येदमग्रआसीत्" हे सौम्य! पहले यह सब सद्रूप ही था। इतना प्रारम्भ करके–

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"

वह सत्य है वह आत्मा है वह तू है ऐसा उपसंहार करते हैं। इस से विशुद्ध ब्रह्म में सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य्य है। यह निश्चय होता है। तब तात्पर्य्य का अविषय जो संसर्ग उसको कैसे बतलावें यही तत्वमस्यादि वाक्यों का अखण्डार्थ है। जो संसर्ग में न प्रवेश करके यथार्थ ज्ञान का जनक हो वह अखण्डार्थ है। कहा गया है:—

संसर्गासंगिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता॥

वाक्यों का जो संसर्ग उस से रहित जो हेतुता वही खण्डार्थ कहलाता है। अथवा तत्प्रातिपदिकार्थ अखण्डार्थ है।

पुनः प्रत्यक्ष दो प्रकार का है एक जीव साक्षी दूसरा ईश्वरसाक्षी अन्तःकरणावच्छिन्न जो चैतन्य उस को जीव कहते हैं। और अन्तःकरणोपहित जो चैतन्य उसे जीव साक्षी कहते हैं। प्रथम लक्षण में अन्तःकरण विशेषण है। द्वितीय लक्षण में उपाधि है। यह दोनों का भेद है। कार्य्य में प्रविष्ट होकर जो व्यावर्त्तक वह विशेषण है। और कार्य्य में न प्रविष्ट होकर जो व्यावर्त्तक हो वह उपाधि है। जैसे "रूप विशिष्ट घट अनित्य है" यहां रूप विशेषण है "कर्ण शष्कुलीगत जो आकाश वह श्रोत्र है" यहां कर्णशष्कुली उपाधि है। इसी उपाधि को नैयायिक परिचायक कहते हैं। इससे यह निष्कर्ष हुआ कि यद्यपि अन्तःकरण जड़ होने के कारण विषय भासक न होने से विषयभासक चैतन्य का उपाधि है। यह जीव साक्षी प्रत्येक शरीर में नाना है। क्योंकि यदि आत्मा एक हो तो मैत्र के ज्ञान से चैत्र को भी ज्ञान हो।

मायोपहित चैतन्य को ईश्वरसाक्षी कहते हैं। वह एक है क्योंकि उसकी उपाधिभूता जो माया वह एक है।

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

इत्यादि श्रुति में मायाशब्दगत जो बहुवचन आया है वह मायागत बहुतशक्तियों को बतलाता है। अथवा माया में सत्व,

रज, तम ये तीन गुण हैं। इन के सूचनार्थ बहुवचन आया हुआ है। एक वचन का भी प्रयोग बहुत है यथाः—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ॥ अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ॥ अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ तरत्यविद्यां विततां हृदियस्मिन्निवेशिते ॥ योगीमाया ममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥

प्रकृति को माया जाने और महेश्वर को मायी। रक्तशुक्लकृष्णरूपवती, विविध प्रजाओं को समानरूप में बनाती हुई एक अजा (माया) है। उसको एक अज (जीव) सेवता हुआ सोचता रहता है। और दूसरा जीव भोगभोगकर निवृत्त हुई उस माया को छोड़ देता है। जिस परमात्मा को हृदय में सन्निविष्ट होने पर योगिगण सर्वत्रव्यापिनी अति प्रबल माया को लांघ जाते हैं। उस व्यापी विद्यास्वरूप परमात्मा को नमस्कार हो।

इत्यादि श्रुतिस्मृतियों में एक वचन के बल से लाघवार्थ माया एक है यह निश्चय होता है। उस माया से उपहित चैतन्य को ईश्वर साक्षी कहते हैं। वह अनादि है क्योंकि उसकी उपाधिभूता माया अनादि है। मायावच्छिन्न चैतन्य को परमेश्वर कहते हैं। तब ईश्वर और ईश्वरसाक्षी में भेद सिद्ध होता है कि ईश्वरत्व में माया विशेषण है और साक्षित्व में माया उपाधि है। वह परमेश्वर यद्यपि एक है तथापि उपाधि भूता जो माया तन्निष्ठ जो सत्व, रज और तम गुण तदनुसार ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर इत्यादि नामवाले होते हैं।

पुनः प्रत्यक्ष द्विविध है एक इन्द्रियजन्य और दूसरा इन्द्रियाजन्य अर्थात् इन्द्रिय से अजन्य। सुखादि प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य है क्योंकि

मन इन्द्रिय नहीं है यह पूर्व में कह आए हैं। इन्द्रिय पांच हैं घ्राण, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा। सब ही इन्द्रिय अपने २' विषय में संयुक्त होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक होते हैं। उन में घ्राण, रसना और त्वचा इन्द्रिय अपने स्थान में रहते हुए ही क्रमशः गन्ध, रस, और स्पर्श की प्राप्ति करते हैं किन्तु नयन और श्रोत्र ये दोनों विषय देश में जाकर स्व स्व-विषय का ग्रहण करते हैं। श्रोत्र भी नयनादिवत् परिछिन्न हैं इस लिये दूरस्थ दुन्दुभी आदि के निकट नहीं पहुंच सकता इस लिये मैंने दुन्दुभी का शब्द सुना यह अनुभव होता है। इस प्रकार संक्षेप से प्रत्यक्षप्रमाण का निरूपण वेदान्तपरिभाषा के अनुसार किया गया है।

निष्कर्ष

वेदान्त मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि ये छः प्रमाण हैं। यथार्थज्ञान का नाम प्रमा है प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमिति प्रमा के करण को अनुमानप्रमाण, शाब्दी प्रमा के करण को शब्दप्रमाण, उपमितिप्रमा के करण को उपमान प्रमाण, अर्थापत्ति प्रमा के करण को अर्थापत्ति प्रमाण और अभाव प्रमा के करण को अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। अज्ञान का बोधक प्रमाण कहाता है। अथवा प्रमाके करण को प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्षप्रमा के करण चक्षुरादि इन्द्रिय हैं। इस हेतु चक्षुरादि इन्द्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। वह प्रत्यक्ष प्रमा दो प्रकार का है एक अभिज्ञाप्रत्यक्ष दूसरी प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष। केवल इन्द्रियादि सम्बन्धजन्यज्ञान अभिज्ञा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष सामग्री सहित जो संस्कारजन्य ज्ञान वह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है। वह प्रत्येक भी आन्तर प्रत्यक्षप्रमा और बाह्य प्रत्यक्ष प्रमाके भेद से दो प्रकार की है। आन्तर प्रत्यक्षप्रमा भी दो प्रकार की है। एक आत्मगोचर दूसरी अनात्मगोचर। आत्मगोचर भी दो प्रकार की है एक शुद्धात्मगोचर दूसरी विशिष्टात्मगोचर। शुद्धात्मगोचर भी दो प्रकार की है एक ब्रह्मागोचर दूसरी अब्रह्मगोचर इत्यादि भेद जानने चाहियें।

अनुमानप्रमाणनिरूपण

अनुमिति प्रमा का जो करण उसे अनुमानप्रमाण कहते हैं। लिङ्गज्ञानजन्य जो ज्ञान उसे अनुमिति कहते हैं जैसें पर्वत में धूमका प्रत्यक्षज्ञान होके वह्नि का ज्ञान होता है। वहां धूम का जो प्रत्यक्ष ज्ञान यह लिङ्गज्ञान है उस से वह्नि का ज्ञान होता है अतः पर्वत में वह्नि का ज्ञान अनुमिति है। जिस के ज्ञान से साध्य का ज्ञान होता है वह लिङ्ग कहलाता है। अनुमितिज्ञान के विषय को साध्य कहते हैं। यहां अनुमितिज्ञान का विषय वह्नि है अतः वह साध्य है। धूम ज्ञान से वह्नि रूपसाध्य का ज्ञान होता है। अतःधूम लिङ्ग है। व्याप्य के ज्ञान से व्यापक का ज्ञान होता है। अतः व्याप्य लिङ्ग और व्यापक को साध्य कहते हैं। व्याप्ति वाले को व्याप्य और व्याप्ति के निरूपक को व्यापक कहते हैं। अविनाभावरूप सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूम में वह्नि का अविनाभावरूप सम्बन्ध है। वही धूम में वह्नि की व्याप्ति है। अतः धूम वह्नि का व्याप्य है उस व्याप्तिरूप सम्बन्ध का निरूपक वह्नि है अतः धूम का व्यापक वह्नि है। जिस के विना जो न हो उस में उस का अविनाभावरूपसम्बन्ध होता है। वह्नि विना धूम होता नहीं अतः वह्नि का अविनाभावरूप सम्बन्ध धूम में है। वह्नि में धूम का अविनाभाव नहीं क्योंकि तप्तलोह में धूम विना वह्नि है अतः धूम का व्याप्य वह्नि नहीं किन्तु वह्नि व्याप्य धूम है।

जहां अनुमिति होती है वहां प्रथम महानसादिक में वारम्वार धूम वह्नि का सहचार देख मूळोच्छेदरहित जो धूम रेखा में वह्नि की व्याप्ति का प्रत्यक्षरूप निश्चय होता है पर्वतादिक में, हेतु का प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर संस्कार का उद्भव होके व्याप्ति की स्मृति होती है। तत्पश्चात् "यह पर्वत वह्निमान् है," ऐसा अनुमिति-ज्ञान होता है। यहां व्याप्ति का अनुभव करण है। व्याप्ति की स्मृति व्यापार है। पक्ष में साध्य का ज्ञानरूप अनुमिति फल है। इस रीति

से वाक्यप्रयोग विना व्याप्ति ज्ञानादिक से जो अनुमिति होती है उस को स्वार्थानुमिति कहते हैं। उसके करण व्याप्ति ज्ञानादिक स्वार्थानुमान कहलाते हैं।

जहां दो पुरुषोंका विवाद हो वहां वह्निनिश्चयवाला पुरुष अपने प्रतिवादी की निवृत्ति के लिये जो वाक्य प्रयोग करे उसे परार्थानुमान कहते हैं अर्थात् स्वार्थ और परार्थ भेद से अनुमान दो प्रकार का है। न्यायसाध्य को परार्थ कहते हैं। अवयवसमुदाय का नाम न्याय है। अवयव तीन ही प्रसिद्ध हैं१-प्रतिज्ञा २-हेतु ३-उदाहरण। अथवा १-उदाहरण २-उपनय ३-निगमन। न्यायशास्त्रगत पांच अवयव वेदान्त में नहीं माने जाते।

उदाहरण- न्याय के अनुसार भी।

"पर्वतोवह्निमान् धूमात्। योयो धूमवान् सोऽग्निमान् यथामहानसः"।

इतने वाक्य के प्रयोग से अनुमान की सिद्धि हो सकती है। इस में तीन अवान्तर वाक्य हैं। उन के क्रमशः प्रतिज्ञादिक नाम हैं। साध्यविशिष्टपक्ष का बोधक वाक्य प्रतिज्ञावाक्य कहलाता है। ऐसा "पर्वतो वह्निमान्" यह वाक्य है। वह्निविशिष्ट पर्वत है। ऐसा बोध इस वाक्य से होता है। यहां वह्नि साध्य है पर्वत पक्ष है। प्रतिज्ञावाक्य से उत्तर जो लिङ्गबोधक वचन उसे हेतु वाक्य कहते हैं। ऐसा धूमात् यह वाक्य है। हेतुसाध्य का सहचार बोधक जो दृष्टान्त प्रतिपादक वचन उसे उदाहरण वाक्य कहते हैं। वादि प्रतिवादी का जहां विवाद न हो किन्तु दोनों का निर्णीत अर्थ जहां हो वह दृष्टान्त कहलाता है। इस रीति से प्रतिज्ञादिक तीनों का समुदाय रूप महावाक्य से विवाद की निवृत्ति होती है। महावाक्य सुन कर यदि प्रतिवादी आग्रह करे अथवा व्यभिचार की शङ्का करे तो तर्क से ही उस की निवृत्ति करनी चाहिये। इस हेतु प्रमाण का सहकारी तर्क है। इस रीति से

तीन अवयवों का समुदाय रूप जो महावाक्य उसको परार्थानुमान कहते हैं। तदनन्तर जो अनुमिति हो उसे परार्थानुमिति कहते हैं।

वेदान्त वाक्यों से जीवमें ब्रह्मका अभेद निर्णीत है यह अनुमान से भी सिद्ध होता है। जैसे

"जीवो ब्रह्मा भिन्नः चेतनत्वात् यत्र यत्र चेतनत्वं तत्रतत्रब्रह्माभेदः। यथा मह्मणि।"

यहतीन अवयवोंका समुदायरूप महावाक्यहै।अतः यहपरार्थानुमान् है। यहां जीवपक्षहै ब्रह्मा भेद साध्यहै।चेतनत्व हेतुहै। ब्रह्म दृष्टान्तहै। यदि प्रतिवादी यहां ऐसा कहे कि जीव में चेतनत्व हेतु तोहै किन्तु ब्रह्माभेदरूप साध्य नहीं है। इस रीति से पक्ष में चेतनत्व हेतु का ब्रह्माभेद रूपसाध्य से व्यभिचार की शङ्का करे तो तर्क से ही उस शङ्का की निवृत्ति करे। तर्क का यह स्वरूप है। जीव में चेतनत्व हेतुमान कर ब्रह्माभेदरूप साध्य न माने तो चेतन को अद्वितीयता प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा। किन्तु अनिष्ट का निवर्त्तक तर्क कहलाता है। श्रुति का विरोध सर्व आस्तिकों को अनिष्ट है।

पुनः व्यावहारिकप्रञ्चोमिथ्या। ज्ञाननिवर्त्यत्वात्। यत्र यत्र ज्ञान निवर्त्यत्वं तत्रतत्र मिथ्यात्वं। यथा शुक्तिरजतादौ"

यहां "व्यावहारिकप्रपञ्च" पक्षहै "मिथ्यात्व" साध्यहै "ज्ञान निवर्त्यत्व"हेतुहै "व्यावहारिक प्रपञ्चो मिथ्या" यह प्रतिज्ञावाक्यहै। "ज्ञाननिवर्त्यत्वात्" यह हेतुवाक्य है।" यत्र यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तत्र मिथ्यात्वम्। यथाशुक्तिरजतादौ" यह उदाहरण वाक्य है। यहां भी प्रपञ्च को ज्ञाननिवर्त्यत्व मान कर मिथ्यात्व न माने तो सत् की ज्ञान से निवृत्ति नहीं बनती। अतः ज्ञान से सकल प्रपञ्च की निवृत्तिप्रतिपादक श्रुतिस्मृतियों का विरोध होगा। इस तर्क से व्यभिचार शङ्का की निवृत्ति हो सकती है। इस रीति से वेदान्तके

अर्थ के अनुसारी अनेक अनुमान हैं। परन्तु वेदान्तवाक्यों से अद्वितीयब्रह्म का जो निश्चय उस की सम्भावनामात्र का हेतु अनुमान प्रमाण है। स्वतन्त्र अनुमान ब्रह्मनिश्चयका हेतु नही क्योंकि वेदान्तवाक्यों के बिना अन्यप्रमाण की ब्रह्म में प्रवृत्तिनही।

न्यायमत में केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी और अन्वयिव्यतिरेकी भेद से तीन प्रकार का अनुमान अङ्गीकार है। जहां हेतुसाध्य के सहचारज्ञान से हेतु में व्याप्ति का ज्ञान होता है वह अन्वयीअनुमान कहाता है। जहां साध्याभाव में हेत्वभाव के सहचार दर्शन से हेतु में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान हो वह केवल व्यतिरेकीअनुमान कहाताहै। केवलान्वयी अनुमान में अन्वयसहचार का उदाहरण मिलता है। किन्तु केवल व्यतिरेकी अनुमान में व्यतिरेक के सहचार का उदाहरण मिलता है। यह भेद हैं। जहां दोनों के उदाहरण मिले वहां अन्वयिव्यतिरेकी अनुमान जानना। ऐसा अनुमान " पर्वतोवह्निमान् " है। इस को प्रसिद्धानुमान कहते हैं। यहां अन्वय के सहचार का उदाहरण महानस है और व्यतिरेक के सहचार का उदाहरण महाह्रद है। इस रीति से तीन प्रकार का अनुमान नय्यायिक कहते हैं।

वेदान्तमत में केवल व्यतिरेकी का प्रयोजन अर्थापत्ति से होता है। और केवलान्वयी अनुमान वेदान्त में नही है। क्योंकि सर्व पदार्थों का ब्रह्म में अभाव है। अतः व्यतिरेक सहचार का उदाहरण ब्रह्म मिलता है। यद्यपि वृत्तिज्ञान की विषयतारूप ज्ञेयता ब्रह्म में है। उस का अभाव ब्रह्म में बनता नही। तथापि ज्ञेयतादिक मिथ्या हैं। मिथ्यापदार्थ और उस का अभाव एक अधिष्ठान में रहते हैं। इस हेतु जिस को नय्यायिक अन्वयिव्यतिरेकी कहते हैं वहां अन्वयी नाम एक प्रकार का अनुमान है यह वेदान्त का मत है॥ यहां संक्षेप से अनुमान प्रमाण कहा है।

उपमानप्रमाणनिरूपण

सादृश्यप्रमा का जो करण उस को उपमान कहते हैं। जैसे गोज्ञान

वाला पुरुष वन में जाकर गवय को देख कहे कि यह पिण्ड मेरी गौ के सदृश है। तदनन्तर उस को यह निश्चय होगा कि इसी पशु के समान मेरी गौ भी है इसी का नाम उपमान है। उपमा से जिसको बोध हो वह उपमान है। अन्वय और व्यतिरेक से गवयनिष्ठ जो गौ सादृश्यज्ञान वह करण है। और गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान फल है। भेदसहित समान धर्म को सादृश्य कहते हैं। जैसे गवय में गौ के भेद सहित समान अवयव गवय में हैं वहां गौ के सादृश्य है। गौ के समान धर्म गौ में है। गौ का भेद अश्व में है। समानधर्म नहीं। अतः सादृश्य भी नही। चन्द्र के भेद सहित आह्लाद जनकतारूप समानधर्म मुख मे है। यही मुख में चन्द्र का सादृश्य है।

यद्यपि उक्त ज्ञान को उपमिति माने तो आत्मा में किसी का सादृश्य नही। अतः जिज्ञासु को अनुकूल उदाहरण नहीं मिल सकता। इत्यादि शङ्का समाधान करके उपमान का निश्चय करना चाहिये।

शब्दप्रमाण निरूपण

शाब्दीप्रमा के करण को शब्द प्रमाण कहते हैं। जिस वाक्य का तात्पर्य्य विषयीभूत जो संसर्ग उसका किसी प्रमाण से बाध न हो वह वाक्यप्रमाण है। वाक्यजन्यज्ञान के लिये आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य्यज्ञान ये चार करण होते हैं। पदार्थों की परस्पर जिज्ञासाविषयत्व उसकी जो योग्यता उसे आकांक्षा कहते हैं। जैसे क्रिया श्रवणमें कारक की, कारकश्रवणमें क्रिया की करणश्रवण में इतिकर्त्तव्यता को जिज्ञासा होती है। "अस्ति" कहने से "घटः पटः" इत्यादि की आकांक्षा होती है। इसी प्रकार घटः ऐसा उच्चारण करने से अस्ति आदि क्रिया की आकाक्षा होती है "नयनेन" इस करण कारण के सुनने से "भगवन्त पश्यति" इत्यादि इति कर्त्तव्यता की आकाक्षा होती है। योग्यता उसे कहते हैं जिस से तात्पर्य्यविषयीभूतसंसर्ग का बाध न हो। जैसे "वह्निना सिञ्चति"

ाग से सींचता है इत्यादि वाक्य में तादृश संसर्ग का बाध होता है। इस लिये यह योग्यता नहीं। "किन्तु जलेन सिञ्चति" यहां योग्यता है। तत्वमस्यादि वाक्यों मे भी वाच्याभेद के बाध होने पर भी लक्ष्यस्वरूपा भेद में बाध का अभाव है इस लिये योग्यता होती है। व्यवहित न होकर पदजन्य जो पदार्थोपस्थिति उसे आसत्ति कहते हैं। मानान्तरोपस्थापित पदार्थ का जो अन्वय-बोध उस के अभाव से भी कहीं पर पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होती है। इसी हेतु अश्रुतपदार्थस्थल में उस २ पद का अध्याहार होता है। जैसे "द्वारको" इतना कहने से "बन्दकरो" इस पद का अध्याहार होता है। वक्ताकी इच्छा को तात्पर्य्य कहते हैं। जिस अर्थ में तात्पर्य्यज्ञान नही होता उसका शाब्द बोध नहीं होता। जैसे "सैन्धवमानय" इस वाक्य से भोजन समय में अश्व का तात्पर्य्य वक्ता का नहीं है। अतः इस में अश्व का शाब्द बोध नहीं होता। इसी प्रकार गमन समय मे लवण का शाब्दबोध नही होता। यदि तात्पर्य्य ज्ञान शाब्द बोध का हेतु न हो तो "सैन्धवमानय" इस वाक्य से भोजन समय में अश्व का और गमन समय में लवण का बोध होना चाहिये। अतः शाब्द बोध में तात्पर्य्यज्ञान हेतु है।

शाब्दी प्रमा दो प्रकार की है एक व्यावहारिकी दूसरी पारमार्थिकी।। व्यावहारिकशाब्दीप्रमा भी दो प्रकार की है एक लौकिक वाक्यजन्य दूसरी वैदिक वाक्य जन्य "नीलोघटः" इत्यादि लौकिक वाक्य हैं। "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि वैदिक वाक्य हैं। जैसे नील के अभेद वाला घट है यह प्रथम वाक्य का अर्थ है। वैसे वज्रहस्त के अभेदवाला पुरन्दर है। यह द्वितीय वाक्य का अर्थ है। प्रथम वाक्य में विशेषण बोधक नीलपद और घट पद विशेष्य बोधक है। द्वितीय वाक्य में वज्रहस्त पद विशेषण बोधक और पुरन्दर पद विशेष्यबोधक है। इस रीति से लौकिक वैदिक वाक्यों की समानता है।

वैदिक वाक्य दो प्रकारके हैं। एक व्यावहारिक अर्थ के बोधक, दूसरे परमार्थतत्व के बोधक। ब्रह्म से भिन्न सारा व्यावहारिक अर्थ कहाता है। परमार्थतत्व केवल ब्रह्म ही हैं। ब्रह्मबोधक वाक्य भी दो प्रकार के हैं। तत्पदार्थ के वा त्व पदार्थ के स्वरूप के बोधक अवान्तर वाक्य हैं। जैसे "सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म" यह वाक्य तत्पदार्थ का बोधक है। "य एष हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" यह वाक्य त्वंपदार्थ के स्वरूप का बोधक है। तत्पदार्थ त्वपदार्थ के अभेद के बोधक "तत्वमसि' आदिक महावाक्य हैं।

हे राजकुमारी! शाब्दी प्रमा में अनेक विवाद उपस्थित होते हैं। इस भारत भूमि पर ही जो शतशः मत प्रचलित हो रहे हैं उन का कारण भी शब्द प्रमाण ही हैं। अब शब्द प्रमाण कारण बनगया हैं इस में सन्देह नहीं किन्तु प्रथम नहीं था। क्योंकि सब से प्रथम और अनादि तो वेद ही हैं अतः मनुष्य की प्रारम्भावस्था में यद्यपि एक ही मत था किन्तु शनैः २ वैदिक सिद्धान्त में परिवर्तन होता गया। वेद का भी तात्पर्य्य लोग भिन्न २ समझने और लगाने लगे। "वेद ईश्वरीय ज्ञान है" इस में भी बहुत आचार्य्य सन्देह करनेलगे। इस प्रकार अपने २ विचार के अनुसार अनेक सम्प्रदाय इसी भारत में चला दिए। धर्मज्ञ स्त्री कहते हैं कि "केवल हमारा ही कथन वेदानुसारी हैं" और जितने धर्मशास्त्र हैं वे वेदविरुद्ध हैं अतः वे त्याज्य भी हैं। इसी प्रकार पौराणिक और तान्त्रिक आदिक आचार्य्यों का भी कथन है। और आश्चर्य्य की बात यह है कि वे परस्पर विरुद्ध रहने पर भी वेदानुसारी और ईश्वर प्रणीत ही मानें जाते हैं। पुराणरचयिता वास्तव में कौन इसका अब तक निर्धारण नहीं हुआ तथापि एक कल्पित व्यास नाम मान कर पुराणों के रचियता वेही कहे जाते हैं। तन्त्रशास्त्र के वक्ता वा प्रणेता साक्षात् सदाशिव महादेव ही मानेजाते हैं इसी प्रकार अन्यान्य श्रीरामानुज, कबीर, नानक आदि एतद्देशीय आचार्य्य तथा मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि विदेशी धर्मप्रचारक भी ईश्वर वा ईश्वरप्रेरित ईश्वर समान

ही माने जाते हैं। प्रत्युत साक्षात् परमात्मा से भी कुछ अधिक कहे गए हैं। ईश्वर मे कितने ही विश्वास क्यों न कोई रक्खे किन्तु ईसा प्रभु के ऊपर उस पुरुष का यदि विश्वास न हो तो वह स्वर्ग का सुख कदापि नहीं पासकता वह अन्धकूप में वा अग्निज्वाला में सदा के लिये गिरा दिया जायगा।

हे राजकुमारी बात इसमें यह है कि जब कोई लोकोत्तर महापुरुष अपनी प्रतिभा से नवीनमत स्थापित करना चाहते हैं तब वे प्रथम स्वजाति, स्वधर्म, स्वकुल और स्वदेश के अनुकूल बहुत सी सामग्रियां इकट्ठी करने लगते हैं। कभी वे मौन होकर कही एकान्त में बैठकर मानो,तपस्वी बन जातेहैं। कभी अपने देश से दूर जाकर कुछ नवीन बातें सीखकर स्वदेशकी भद्दी बातों का खण्डन और निज-कपोल कल्पित बातों का मण्डन करके अज्ञानी पुरुषों पर निज प्रभाव जमाने लग जाते हैं। कभी कुछ मनमानी बातें कहकर अपनी विद्वत्ता प्रकाशित करने लगजाते हैं। कभी कुछ अलौकिक चमत्कार, जो वास्तव में साक्षात् वञ्चकता अथवा धूर्त्तता होती है दिखला कर अतिमूढ़जनों को अपने फन्दे में फंसा लेते हैं। गतानुगतिक, भेड़ चाल और निर्बुद्धि सदा से जनता चली आती है। वे सब उस के पशु बनने लगते हैं और उनपशुओं से वे धूर्तराट् अपने मनः काम पूर्णकर सिद्ध बनता जाता है। क्रमशः देखा देखी अच्छे बुरे चोर साधु विद्वान् मूर्ख सब प्रकार के मनुष्य उस में सम्मिलित होने लगते हैं। यद्यपि परम्परागत अनेक विवेकी पुरुष अपने कुल धर्म में अनेक दोष देखते भी हैं तौभी उस जटिल और संगठित धर्म से पृथक् होना कठिन होजाता है। जैसे पशुओंऔर पक्षियों में स्वाभाविक अनेक जातियां और उपजातियां बनी हुई हैं और वे प्रकृत्यनुकूल बरतते हैं वे अपनी जाति और उपजाति को छोड़ अन्यमें संमिलित नहीं हो सकते क्योंकि प्रकृति इन को उस काम से रोकती है। जैसे घोड़ा कदापि गजादि पशुओं में सम्मिलित नही हो सकता वैसे ही हे राजकुमारी मनुष्यों ने भी अपनी २ कृत्रिम एक एक

जाति बनाली है। इस लिये उन्हे उससे निकलना कठिन हो जाता है क्योंकि अपनी २ जातिकी पृथक्त्वसिद्धि के लिये पृथक् २ नियम सदाचार अनुष्ठान पूजा पाठ इत्यादि बना लिये गये हैं।

इस लिये हे राजकुमारी! शाब्दो प्रमा में अनेक बखेड़े खड़े हो जाते हैं जिस हेतु हम वैदिक धर्मावलम्बी हैं। इस लिये हमें वेद प्रिय हैं। मुसलमानों को कुरान, क्रिस्तानों को बाइबिल, बौद्धों को धर्मपिटक, तान्त्रिकों को तन्त्र और सिक्खों को ग्रन्थसाहेब प्रिय हैं परन्तु विचार यहां यह है कि क्या सर्व ग्रन्थों के समान ही वेद भी हैं? नहीं ऐसा कदापि नहीं। इसी लिये श्रीशङ्कराचार्य्य ने वेदान्त के द्वितीय अध्याय में तर्कास्त्र लेकर ही अन्यान्य मतों का शिरच्छेदन किया है। और अच्छी रीति से विविध तर्कों द्वारा वेद की श्रेष्ठता और अन्यान्य मतों को निःसारता दिखलाई है। इसी प्रकार श्रीदयानन्द सरस्वती ने भी सत्यार्थप्रकाश नामक ग्रन्थ में वेद की उच्चता दिखला पृथिवी पर के प्रसिद्ध २ सारे मतों की असत्यता और तुच्छता कही है। हे राजकुमारी! यह संसार अतिविलक्षण अत्याश्चर्य है। इस में यद्यपि मनुष्य जाति अन्यान्य जातियों की अपेक्षा परम विवेकवती और बुद्धिशालिनी है तथापि अनेक कारणवश ऐसी भेड़ चाल चल पड़ी है अथवा ऐसा दृढ़ अटूट और अजीर्ण पाश बना लिया गया है। और उस में एक २ समुदाय ऐसा फंसा लिया गया है कि वह वह समुदाय उस २ पाश से मुक्त नहीं हो सकता। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है।

अथ अर्थापत्ति प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण संक्षेप से निरूपित हुए। तू इनका आशय समझ भी गई होगी। तेरी मुखच्छवि से ऐसा भासित होता है। अब अर्थापत्ति प्रमाण को संक्षेप से बतलाती हूं। ध्यान से इसे सुन कर हृदय में रख। उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना करना अर्थापत्ति कहलाती है। यहां उपपाद्यज्ञान करण होता

और उपपादक कहोता है जिसके बिना जो अनुपपन्न है वह वहां उपपाद्य होता और जिस के अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती वह वहां उपपादक होता है। उदाहरण से इस को इस प्रकार जान। किसी ने कहा कि " यद्यपि यह पुरुष दिन में नहीं खाता तथापि पीन (मोटा) है " यहां विचार करना है कि भोजन के बिना कोई मोटा नहीं होसकता वह प्रतिदिन क्षीण और कृश होता जायगा। किन्तु यह पुरुष दिन में न खाकर भी पीन बना हुआ है। यह कैसे हो सकता है अतः यहां कोई कल्पना करनी होगी। रात्रि भोजन यहां कल्पित होगा। क्योंकि रात्रि भोजन के बिना दिन में सदा अभोजक पुरुष को मोटाई नहीं हो सकती। अतः रात्रि भोजन यहां उपपादक है और पीनत्व उपपाद्य है। जो उत्पन्न किया जाय वह उपपाद्य और जो उत्पन्न करे वह उपपादक होता है। लक्षणसमन्वय इस प्रकार होता है। रात्रि भोजन के बिना दिन में अभोजी पुरुष का पीनत्व (मोटाई) अनुपपन्न है इस कारण तादृश पीनत्व उपपाद्य है और रात्रि भोजन के अभाव में तादृश पीनत्व की अनुपपत्ति होती है अतः रात्रिभोजन उपपादक है। अर्थापत्ति शब्द का समास इस प्रकार हो सकता है। अर्थकी आपत्ति अर्थात् कल्पना वह अर्थापत्ति। रात्रिभोजन की जो कल्पना तद्रूप जो प्रमिति (प्रमा, ज्ञान) उस प्रमिति में जो अर्थ की आपत्ति (कल्पना) वह अर्थापत्तिप्रमा है। इसका नाम षष्ठीतत्पुरुष है। बहुव्रीहि समास भी यहां होता है जैसे-कल्पना करण जो पीनत्वादिज्ञान उस में अर्थ की आपत्ति हो जिस से वह अर्थापत्ति।

अर्थापत्ति के दो भेद हैं:-१-दृष्टार्थापत्ति और २-श्रुतार्थापत्ति। जहां दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना होती है वहां दृष्टार्थापत्ति होतीहै। क्योंकि उपपाद्य पीनत्व दृष्ट है। और जहां श्रुत उपपाद्य की अनुपपत्तिज्ञान से उपपादक की कल्पना हो वहां श्रुतार्थापत्ति होती है। जैसे किसी ने पूछा कि मेरा मित्र सोमदेव गृह पर है? उत्तर मिला नहीं। इस से उसे विदित हुआ

कि मेरा मित्र गृह पर इस समय नहीं है किन्तु कहीं बाहर गया हुआ है।सुनने से ऐसा मालूम हुआ अतःइसका नाम श्रुतार्थापत्ति है।

श्रुतार्थापत्ति के भी दो भेद हैं। एक अभिधानानुपपत्ति दूसरी, अभिहितानुपपत्ति। जहां वाक्य के एक अवयव के सुननेसे अन्वयाभिधान की अनुपपत्ति हो और उससे अभिधानोपयोगी किसी अन्य पदकी कल्पना हो वहां अभिधानाउपपत्ति होती है। यथा-किसी ने कहा कि ऐ लड़के 'द्वार' इतने कहने से ही लड़का शीघ्र उठा द्वार को बन्द कर दिया। यहां केवल 'द्वार' कहने से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती "द्वार बन्द करदे" इतना कहने से वाक्यार्थ विदित होता है किन्तु अभिप्रायवित् पुरुष केवल "द्वार" पद के उच्चारण से ही समझगया कि यह "द्वारबन्दकरनेको कह रहे हैं" अतः यहां "द्वार" सुनकर "बन्दकरो" इतनी क्रिया की कल्पना की जाती है इस हेतु इसको अभिधानानुपपत्ति कहते हैं। अभिधान जो कथन उसकी जो अनुपपत्ति = असिद्धि = अयोग्यता वह अभिधानानुपपत्ति। अभिहितानुपपत्ति वहां होता है जहां वाक्यार्थ ही अनुपपन्न हो अन्य अर्थ की कल्पना करे जैसे "स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत" "स्वर्गाभिलाषी जन ज्योतिष्टोमनाम के यज्ञ से यजन करे" यहां शङ्का होती है कि यज्ञ तो दो एक दिन में समाप्त हो जाता है तब उससे स्वर्ग कैसे होगा। इस प्रकार यज्ञ करना व्यर्थ सिद्ध होता है। किन्तु याग व्यर्थ है नहीं क्योंकि यागके लिये श्रुति की आज्ञा है वह व्यर्थ कैसे होसकताहै इस हेतु एक अपूर्वशक्ति की कल्पना होती है जो याग से उत्पन्न होकर चिरकालस्थायिनी और स्वर्गप्रापिका होतीहै। इत्यादि अर्थापत्ति प्रमाण का भेद जानना।

हे पुत्री! सारे अर्थों का बोध स्वयं ही पुरुष को होने लग जाता है जब उसका मन अन्तर्मुखी न और निरुद्ध रहता है। तू जितना ही मनन और मन में तर्क वितर्क करती जायगी उतनी ही तू बुद्धिमती होती जायगी। मनन और तर्ककरने से ही पुरुष विलक्षण और विचक्षण होताहै। सकल शास्त्र का उत्पत्तिक्षेत्र यह अन्तःकरण ही

है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं किन्तु वा क्षेत्र अनेकप्रकार से तैयार होताहै। निज अनुभवसे, अध्ययनसे, विद्वानोंके संग से, तर्कवितर्क से, पुनः पुनः अभ्याससे, भूयोभूयः मनन करनेसे इत्यादि इस क्षेत्रको उर्वरा सस्यसम्पन्न बनाने के अनेक उपाय कथित हैं। किन्तु मनन ही इस का मुख्य अंग है। तू प्रत्येक वस्तु के ऊपर थोड़ा मनन करता रह देख, थोड़े से दिनों में गूढ़ से गूढ़ तत्त्व तुझे स्वयं भासित होने लगेगा। तब यह प्रातिभासिक जगत् आश्चर्य्यमय और विज्ञानमय प्रतीत होगा। तब ब्रह्मको सत्ता इस समस्त जगत् में और कवियों की सत्ता शब्दमय संसार में देखेगो। शब्द संसार कविगण का एक खेल मात्र है।

अनुपलब्धिप्रमाणनिरूपण

अभाव की प्रमकेःअसाधारण कारण को अनुपलब्धिप्रमाण कहते हैं। प्राचीन नैयायिक निषेधमुखप्रतीति के विषय को अभाव कहते हैं। यह अभावदो प्रकार का है एक संसर्गाभाव, दूसरा अन्योन्याभाव। उनमेंअन्योन्याभाव एकही है संसर्गाभावके चार भेद हैं, १–प्रागभाव २–प्रध्वंसाभाव ३– सामयिकाभाव और ४–अत्यन्ताभाव है। अभेद के निषेधक अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। अथवा अत्यन्ताभाव से भिन्न उत्पत्ति और नाश से शून्य अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। इसी को भेद, भिन्नता, अतिरिक्तता और पृथक्त्व भी कहते हैं। नाशशून्य तो प्रध्वंसाभाव भी है। वह उत्पत्ति शून्य नहीं। उत्पत्तिनाशशून्य तो आत्मा भी है वह अभावरूप नहीं। किन्तु भावरूप है। उत्पत्तिनाशशून्य अभावरूपतो अत्यन्ताभाव भी है, वह अन्योन्याभावरूप नहीं किन्तु उस से भिन्न है। "घटः पटो न" ऐसा कहने से घट में पट के अभेद का निषेध होता है। इस हेतु घट में पट के अभेद का निषेधक है। अतः घट में पट का अन्योन्याभाव है। उस से भिन्न अभावको संसर्गाभाव कहतेहैं। अनादि सान्त जो अभाव वह प्रागभाव कहलाता है अपने प्रतियोगी के उपादान कारण में प्रागभाव रहता है। जैसे घट के प्रागभाव का प्रतियोगी घट है। उसका

जो उपादानकारण कपाल उस में घट का प्रागभाव है। यह अनादि अर्थात् उत्पत्ति रहित और सान्त (अन्तवाला) है। अनादि अभाव तो अत्यन्ताभाव भी है किन्तु वह सान्त नहीं। सान्त अभाव तो सामयिकाभाव भी है किन्तु वह अनादि नहीं। और वेदान्त सिद्धान्त में अनादि और सान्त माया है वह अभाव नहीं। किन्तु जगत् का उपादानकारण होने से सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय भावरूप माया है।

सादि अनन्त जो अभाव उसे प्रध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे मुद्गरादिक से घटादि का ध्वंस होता है। अनन्त अभाव तो अत्यन्ताभाव भी है वह सादि नहीं। सादि अभाव तो सामयिकाभाव भी है वह अनन्त नहीं। सादि अनन्त तो मोक्ष भी है क्योंकि ज्ञान से मोक्ष होता अतः सादि है और मुक्त को पुनः संसार नहीं होता। अतः अनन्त है। परन्तु मोक्ष अभावरूप नहीं किन्तु भावरूप है। यद्यपि अज्ञान और उस के कार्य्य की निवृत्ति को मोक्ष कहते हैं निवृत्ति नाम ध्वंसका है। अतः मोक्ष भी अभावरूप सिद्ध होता है। तथापि कल्पित की निवृत्ति अधिष्ठानरूप होता है। अज्ञान और उस का कार्य्य कल्पित है। अतः उन की निवृत्ति अधिष्ठान ब्रह्मरूप है। अतः अभावरूप मोक्ष नहीं। किन्तु ब्रह्म रूप होने से भावरूप है।

उत्पत्ति और नाशवाला जो अभाव वह सामयिकाभाव कहलाता है। जहां किसी काल में पदार्थ होता और किसी काल में नहीं होता। वहां पदार्थशून्य काल में उस पदार्थ का सामयिकाभाव होता है। जैसे भूतलादिक में घटादि किसी काल में रहता और किसी काल में नहीं रहता वहां घटशून्यकालसम्बन्धी भूतलादिक में घटादि का सामयिकाभाव है। जो किसी समय में हो और किसी समय में न हो वह सामयिकाभाव है। भूतल से घट को अन्यदेश में लेजाय तब घट का अभाव भूतल में उपजता है। और पुनः यदि उसी भूतल में घट ले आय तब घट का अभाव भूतल में नष्ट होजाता है। इस प्रकार

सामयिकाभाव उत्पत्तिविनाशवाला है। उत्पत्तिवाला तो प्रध्वंस-भाव भी है वह नाशवाला नहीं। नाशवाला तो प्रागभाव भीहै किन्तु वह उत्पत्तिवाला नहीं। उत्पत्तिनाशवाले घटादिक भूतभौतिक अनेक पदार्थ हैं वह अभाव नहीं। किन्तु विधिमुख प्रतीति के विषय होने से भावरूप हैं। अन्योन्याभाव से भिन्न जो उत्पत्तिशून्य और नाश-शून्य अभाव उसको अत्यन्ताभाव कहते हैं। जहां किसी काल में जो पदार्थ न हो वहां उस पदार्थ का अत्यन्ताभाव होता है। जैसे वायु में रूप और गन्ध किसी काल में नहीं होता वहां रूप और गन्ध का अत्यन्ताभाव है। आत्मा में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द कदापि नहीं रहते। अतः रूपादिक का अत्यन्ताभाव आत्मा में है। इसी प्रकार शशशृंग, खपुष्प, सर्पपद इत्यादिक भी इस के उदाहरण हैं।

इस प्रकार अभाव का कुछ वर्णन न्यायशास्त्रके अनुसार किया गया है। इस में जितना अंश वेदान्तविरुद्ध है वह संक्षेप से यहां दिखलाया जाता है। यथा कपाल में घट के प्रागभाव को अनादि कहा है वह प्रमाणविरुद्ध है। क्योंकि घटप्रागभाव का अधिकरण सादि और प्रतियोगी घट भी सादि है। प्रागभाव की अनादिता कैसे हो सकती। यदि माया में सकलकार्य्यों के प्रागभाव की अना-दिता कहें तो सम्भव है क्योंकि माया अनादि है किन्तु माया में कार्य्य का प्रागभाव मानना व्यर्थ है। और सिद्धान्त में इष्ट भी नहीं। अतः प्रागभाव सादिसान्त है।

नैयायिक मत में प्रध्वंसाभाव भी अपने प्रतियोगी के उपादान में ही रहता। अतः घट का ध्वंस कपालमात्रवृत्ति और अनन्त है। यह न्याय के कथन असंगत हैं क्योंकि घट ध्वंस का अधिकरण जो कपाल उस के नाश से घट ध्वंस के नाश होने से प्रध्वंसाभाव भी सादिसान्त है। इसी प्रकार अन्योन्याभाव भी सादिसान्त अधि-करण में सादिसान्त है। जैसे घट में पट का अन्योन्याभाव है। उसका अधिकरण घट है। वह सादि और सान्त है। अतः घट-वृत्ति पटान्योन्याभाव भी सादिसान्त है। अनादि अधिकरण में

अन्योन्याभाव अनादि है। परन्तु अनादि भी सान्त है। जैसे ब्रह्म में जीव का भेद है वह जीव का अन्योन्याभाव है। उस का अधिकरण ब्रह्म है। वह अनादि है। अतः ब्रह्ममें जीव का भेद रूप अन्योन्याभाव अनादि है। और ब्रह्मज्ञान से अज्ञाननिवृत्तिद्वारा भेद का अन्त होता है। अतः सान्त है। अनादि पदार्थको भी ज्ञानसे निवृत्ति अद्वैतवाद में इष्ट है। इसी लिये शुद्ध चेतन १-जीव २-ईश्वर ३-अविद्या ४-अविद्याचेतन का सम्बन्ध और ५-अनादि का परस्पर विरुद्ध६-ये षट् पदार्थ अद्वैत मत में स्वरूप से अनादि हैं। और शुद्ध चेतन को छोड़ पांच को ज्ञान से निवृति मानी गई है।

शङ्का-जीव और ईश्वर को अद्वैतवाद में मायिक कहते हैं। माया का कार्य्य मायिक कहलाता है। अतः जीव ईश्वर मायाके कार्य्य हैं। उन्हें अनादि भी कहना विरुद्ध है। इसका समाधान इस प्रकार है। जीवेश्वर माया के कार्य्य हैं। इस लिये वे मायिककहलाते हैं यह अर्थ यहां नहीं। किन्तु माया की स्थिति के अधीन जीवेश्वर की भी स्थिति है। अतः वे मायिक कहलाते हैं। इस रीतिसे अनादि अन्योन्याभाव भी सान्त है वैसा ही अत्यन्ताभाव भी आकाशादिवत् ।। का कार्य्य है और विनाशी है। इस प्रकार अद्वैत मत में सारे विनाशी हैं कोई अभाव नित्य नहीं। और अद्वैतवाद में अनात्मपदार्थ माया के कार्य्य हैं। अतः आत्मा से भिन्न वस्तुयों की नित्यता नहीं हो सकती। जैसे घटादिक भावपदार्थ माया के कार्य्य हैं। वैसे अभाव भी माया के कार्य्य हैं। अतः मिथ्या है।

अप्रमावृत्ति भी यथार्थ अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। स्मृतिरूप अन्तःकरण की वृत्ति को यथार्थ अप्रमा कहते हैं। स्मृति भी यथार्थ अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। उन में यथार्थ स्मृति भी दो प्रकार की है। एक आत्मस्मृति दूसरी अनात्मस्मृति। तत्वमस्यादिवाक्यजन्य अनुभव से आत्मतत्व को स्मृत्ति होती है वह यथार्थ आत्मस्मृति है। व्यावहारिकप्रपञ्च का मिथ्यात्व अनुभव उसका जो संस्कार उससे मिथ्यात्वरूपमें प्रपञ्च की स्मृति होतीहै।

यह यथार्थ अनात्मस्मृति है। और अयथार्थस्मृति भी दोप्रकार की है एक आत्मगोचर दूसरी अनात्मगोचर। अहङ्कारादिकों में आत्मत्वभ्रमरूप अनुभव के संस्कार से अहङ्कारादिकों में आत्मत्व की स्मृति और आत्मा में कर्तृत्वके अनुभवके संस्कार से "आत्मा कर्त्ता है" यह स्मृति होती है। दोनों आत्मगोचर अयथार्थस्मृति हैं। और प्रपञ्च में सत्यत्वभ्रम के संस्कार से "यह प्रपञ्च सत्य है" यह स्मृति होती है। यह अनात्मगोचर अयथार्थ स्मृति है। यद्यपि संसारदशा में जिस ज्ञान के विषय की बाध न हो वह यथार्थज्ञान कहलाता है। अतः उक्त स्मृति अप्रमा है। और यथार्थ अयथार्थ दोनों हैं यह कहना असङ्गत प्रतीत होता है। इसका भाव यह कि स्मृति परमार्थदृष्टि से अयथार्थ ही है। तथापि उक्तलक्षण के अनुसार संसारदृष्टि से जो उस की यथार्थता वह आपेक्षित है। अतः स्मृति को यथार्थप्रमा कहने में कोई दोष नहीं।

अयथार्थ अप्रमा भी दो प्रकार की है एक स्मृतिरूप अविद्या की वृत्ति दूसरी अनुभवरूप। उद्भूतसंस्कारमात्रजन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं। ज्ञान अन्य भी हैं किन्तु वे संस्कारजन्य नहीं। संस्कारजन्य प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी है किन्तु वह संस्कारमात्रजन्य नहीं। अनुभव के बाध से उत्पन्न जो स्मृति का हेतु भावना नाम का संस्कार वह तो निरन्तर रहता है। अतः स्मृति सदा होनी चाहिये। किन्तु वह संस्कार अनुद्भूत रहता है। अतः कहीं भी अतिव्याप्ति दोष नहीं। वह स्मृति यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार की है। यथार्थ अनुभवजन्यस्मृति यथार्थ है उस का वर्णन पूर्व में हो चुका है। और अयथार्थ अनुभवजन्य स्मृति अयथार्थ है। वह अयथार्थ अप्रमा के अन्तर्गत है। अनुभव में यथार्थता अबाधि है। अबाधितार्थ विषयक अनुभव यथार्थ है। उसी को प्रमा कहते हैं। अतः अबाधितार्थ के अधीन अनुभव में यथार्थता है। और स्मृति में यथार्थता और अयथार्थता अनुभव के अधीन है। स्मृति से भिन्न जो ज्ञान उसे अनुभव कहते हैं। वह भी यथार्थ अयथार्थ भेद से दो

प्रकार का है । यथार्थानुभव पूर्व कहा गया है। अयथार्थ अनुभव भी संशय, निश्चय और तर्क भेद से तीन प्रकार का है। अयथार्थ को ही भ्रम, भ्रान्ति और अध्यास कहते हैं। संशय, निश्चयरूप भ्रम अनर्थ का हेतु है। अतः वह भी निवर्त्तनीय है। इस कारण इन का भी निरूपण करना आवश्यक है । एक धर्मी में विरुद्ध जो नाना धर्म का ज्ञान उस को संशय कहते हैं। वह संशय भी दो प्रकार का है। एक प्रमाण संशय, दूसरा प्रमेय संशय। प्रमाणगोचर सन्देह को प्रमाणसंशय कहते हैं । उसी को प्रमाणगत असम्भावना भी कहते हैं। "वेदान्तवाक्य अद्वितीय ब्रह्म में प्रमाण है वा नहीं" इस का नाम प्रमाण संशय है प्रमेयसंशय भी आत्मसंशय और अनात्म संशय भेदसे दोप्रकारका है। अनात्मसंशय अनन्त है। उसका वर्णन कठिन है। आत्मसंशय भी अनेक प्रकार का है। यथा आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न अथवा भिन्न है। अभिन्न है तो भी सर्वदा अभिन्न है अथवा मोक्ष काल में ही अभिन्न है। सर्वदा अभिन्न हो तो भी आनन्दादिक ऐश्वर्य्य वाला है अथवा आनन्दादि रहित है इत्यादि अनेक प्रकार के संशय हो सकते हैं केवल त्वम्पदार्थगोचर संशय भी आत्मगोचरसंशय है । आत्मा देहादिक से भिन्न है या नहीं। अणुरूप, वा मध्यम परिमाण वा विभु है। कर्त्ता वा अकर्त्ता है। एक है वा अनेक है। इत्यादि अनेक संशय केवल त्वम्पदार्थगोचर हैं। केवल तत्पदार्थगोचर भी अनेक प्रकार के संशय हैं। ईश्वर कैसा है वह कहां रहता है उसका रूप क्या है। वह कैसे सृष्टि बनाता है। किसी वस्तु को लेकर अथवा अभाव से ही इससृष्टि को रच देता। वह देहधारी अथवा अदेहधारी है। इसके निकट आयुध,वाहन, सेना आदि हैं या नहीं इत्यादि शतशः प्रमेयगत संशय हो सकते हैं। संशयका भी कहीं अन्त नहीं है। इस हेतु मन में इस को पुनः २ विचार।

निश्चयरूप भ्रमज्ञान ।

संशय से भिन्न जो ज्ञान उस को निश्चय कहते हैं । शुक्ति का शुक्तित्वरूप से यथार्थ ज्ञान और शुक्ति का रजतत्वरूप से भ्रमज्ञान

दोनों संशय से भिन्न ज्ञान होने के कारण निश्चयरूप हैं। स्वाभावा-धिकरणावभास को भ्रम कहते हैं। जैसे शुक्ति में जहां रजतभ्रम होता वहां स्व कहने से रजत और उसका ज्ञान उस का पारमार्थिक और व्यावहारिक जो अभाव उसका अधिष्ठान जो शुक्ति उस में रजत और उस के ज्ञान का जो अवभास वह भ्रम कहाता है। अथवा अ-धिष्ठान से विषमसत्ता वाले अवभास को भ्रम कहते हैं। वेदान्त-शास्त्र में उस का नाम अध्यास भी है। व्याकरणरीति से अध्यास-पद के और अभवासपद के विषय और ज्ञान दोनों वाच्य हैं। वह अध्यास अनेक प्रकार का है। इसका वर्णन लक्षणप्रकरण में होचुका है। अतः पुनः इसका वर्णन अपेक्षित नहीं।

यहां प्रमाणनिरूपण के प्रसङ्ग से संशयादि का भी दिग्दर्शन दिखलाया गया है। यद्यपि लोक में जिस संशय और भ्रम की किसी प्रकार से निवृत्ति होजाती उन का ही उदाहरण शास्त्रों में दिया हुआ है। किन्तु जिस वस्तु के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों को छोड़ अन्यान्य मनुष्यों को भ्रम में भी सत्यता ही प्रतीत होती है। उस २ वस्तु की सिद्धि सब शास्त्रों में नहीं रहा करती। वह विज्ञानआदि शास्त्र हैं। बालक को भी रज्जु में शुक्ति में स्थाणु में और आकाश में क्रमशः सर्प, रजत, पुरुष और श्यामत्व आदि का भ्रम शीघ्र नि-वृत्त होजाता है। किन्तु जीव की सत्ता इस शरीर से भिन्न है वा नहीं इस सृष्टि का कर्त्ता कोई है वा नहीं ये दोनों अत्यन्त उपयोगी विषय अब तक विवादग्रस्त हैं। आस्तिकों और नास्तिकों में इसीका महान् विवाद है। तब प्रमाणनिरूपण से ही क्या फल मिलता है। वास्तव में जिन आचार्य्यों की युक्तियां प्रबल होती हैं वे अपने समु-दाय में पूज्य और प्रमाण कहलाते हैं। किन्तु वे ही प्रतिभाशाली आचार्य्यगण्य और मान्य नहीं होते। श्रीशङ्कराचार्य्य जैनियोंमें माननीय नहीं। इसीप्रकार आज कल के महातार्किकों में भी उनकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

प्रमाणनिरूपण से यह न समझ लेना कि इन ही प्रमाणों से सब

वस्तु की स्थिति विदित हो जायगी। किन्तु पदार्थ ज्ञान के लिये अन्यान्य बहुत से उपाय नवीन रीति पर अथवा प्राचीन रीति पर जो आविष्कृत हुए हैं वे भी ज्ञातव्य और मन्तव्य हैं। जैसे नक्षत्रों की अथवा सूर्य्यचन्द्रों की कैसी गति, स्थिति और दशा है इनका ठीक निर्णय उक्त षट्प्रमाणों से नहीं हो सकता। इस के लिये अतिप्राचीन काल में काशी प्रभृति स्थानों में मान मन्दिर बनाए गए थे। उन में बहुत से यन्त्र विरचित हुए थे। उनके द्वारा सूर्य्यादि की गति का कुछ पता लगाया करते थे। इस वर्त्तमानकाल में बड़े २ अद्भुत यन्त्र पाश्चात्य देश में बनाए गए हैं। उन से भी बहुत अद्भुत बातें निर्णीत होती हैं। अतः ये भी प्रमाणरूप से ज्ञातव्य और अध्येतव्य हैं। इसी प्रकार इस समय जो अन्वेषण और गवेषण से हाईड्रोजन, औक्सिजन, नाईट्रोजन आदि अनेक मूलतत्त्व विद्वानों को विदित हुए हैं वे भी वेदितव्य हैं।

हे राजकुमारी! मैं ने तुम से कहा है कि अन्तःकरण की वृत्तियां ही पदार्थ के अनुसार नानारूपवती होती हैं। बहुत सी वस्तुओं के ज्ञान के लिये लच्छेदार शास्त्रीय परिभाषाओं का अध्ययन अपेक्षित नहीं। तू देखती है कि प्रत्यक्षप्रमाण के अनेक भेद होते हुए भी वास्तव में इसका स्वरूप क्या है इस विषय का यत्किञ्चित् ज्ञान अथवा व्यावहारिकज्ञान पामर पुरुषों को भी समानरूप से ही होता है अथवा है। आंख, कान, घ्राण, जिह्वा और त्वचा परमेश्वर ने सब को दी है। विद्वान् और अतिमूर्ख दोनों ही दूध को श्वेत, काक को श्याम, आम्र को मधुर पुष्प को सुगन्धित और कोमल देखते और जानते हैं। इस में विचार की आवश्यकता ही क्या। विद्वान् को जैसे मधुर आम खट्टा नहीं मालूम होता उसी प्रकार मूर्ख को भी। क्या मूर्ख और विद्वान् एक काव्य के भिन्न २ रूप देखते हैं? नहीं। कदापि नहीं। यह वह मेरा काशी में देखा हुआ मित्र है इत्यादि प्रत्यभिज्ञास्थल में और भागत्यागलक्षणा से दोनों को समान ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार जैसे प्रत्यक्षस्थल में विद्वान् को भ्रम होता वैसे

मूर्ख को भी। रात्रि में रज्जु को देख कर सर्प भ्रान्ति दोनों में तुल्य-रूप से होती है। इस प्रकार कहीं तो विपरीत बात पाई जाती है। मूर्ख को एक बार ईश्वर की व्यापकता बतलाने से बोधहो जाताहै किन्तु तद्विपरीत नानातर्क वितर्क करके विद्वानों को व्यापकता का झटिति बोध नहीं होता।

क्या न्यायशास्त्र को पढ़कर ही लोग अनुमान करतेहैं? मूर्खाति-मूर्खजन नदी की वृद्धि देख कहीं वर्षा हुई होगी ऐसा झट अनुमान कर लेते हैं। यदि इस सृष्टिका बनाने वाला कोई नहीं है तो क्षेत्र में बीज दिये बिना क्यों नहीं गेहूं उत्पन्न होजाता। क्या इत्यादि अनु-मान सर्वसाधारण नहीं कर लेते? प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक ही अनुमान है इस को बालिश भी जानते हैं। सहचारज्ञान बिना किस को बोध होता है। अप्रत्यक्षस्थल में दोनों ही समान ही भ्रमाब्धि में डूबे रहते हैं। चन्द्रमामें श्यामता क्यों दीखती है इसका निश्चय विद्वानोंमें भी नहीं। वर्षा कैसे और क्यों होती है। इस में विद्वान् क्या अनुमान करतेहैं। प्लेगी पुरुष को उतना ताप क्यों झट से होजाता है अथवा ज्वर के समय क्योंकर ज्वरी पुरुष अतिशीत से कंपने लगता है। और कभी २ शीत के बाद झट से ताप क्यों चढ़ जाताहै। इस में विद्वानों का क्या अनुभव है। ऐसी २ अनन्त वस्तुएं हैं जिन में वि-द्वानों की भी बुद्धि झट से प्रसरित नहीं होती। हिमालय पर्वत के ऊपर सदा हिम क्यों जमा हुआ रहताहै। इसका क्याकारण, विद्वान् क्या बतलातेहैं। हे राजकुमारी! अनुमानसे भी बहुत २ स्वल्प वस्तुओं का निश्चय किया है। कोटिशः वस्तुएं अनिश्चितरूप से पड़ी हुई हैं। जिसकी जितनी बुद्धिहोतदनुसार अनुमान कल्पित करलेताहै। अनुमान से यदि सब बात की सिद्धि हो तो विवाद ही क्यों रहे। एक सम्प्रदायी तुलसी धारण से मुक्ति का अथवा सुखस्थानप्राप्त का अनुमान करता है। तो दूसरा रुद्राक्ष धारण से। तीसरा केवल द्वारिका में मुद्रा लेने से। चौथा केवल भगवन्नाम कीर्तन से। पञ्चम भगवदवतारों की प्रतिष्ठा पूजा आदि से। षष्ठ अह ब्रह्मास्मि के

श्रवण से इत्यादि २ शतशः मजहबी और शास्त्रीय झगड़े प्रतिदिन आंखों से देखती है, तो बतला तो सही अनुमान से किस बात का निश्चय हुआ। तू तो प्रति दिन देखती है तेरे द्वार पर तुच्छातितुच्छ दो चार रुपये पैसे के लिये टकराते रहते हैं। इधर उधर मारे फिरते हैं। इस में सन्देह नहीं सांसारिक अपेक्षा अतिप्रबल है। जिस को विद्या कदापि चुना नहीं सकती। क्या क्षुधा और पिपासा विद्वानों को न सतावेगी। हां इतनी बात सत्य है कि जितेन्द्रिय और धैर्य्यवान् पुरुष इतस्ततः मारे नहीं फिरते। वे अपने परिश्रम से कमाए हुए शाक को भी अमृत समझते हैं। धन के लालच में पामर पुरुषों का मुख भी देखना नहीं चाहते। किन्तु ऐसे पुरुष हैं कितने कोटियों में विरल। उनही को साधु सन्त कहते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन में अनुमान से सर्व साधारण अपना २ काम चला लेते हैं। परन्तु परमार्थ में सब ही मूढ़ बने हुए हैं। यह सारी लीलाएं आत्मा के विकासमात्र हैं। इसी आत्मा से चारों वेद नाना ब्राह्मण ग्रन्थ उपनिषदें अङ्ग उपांग और जो कुछ भूत भविष्य वर्त्तमान में हैं निःसृत हुए हैं। इस महानात्मा को छोड़ जो अन्यत्र विद्या ढूंढते हैं वे ही मूर्ख हैं। इसी आत्मा से सब कुछ निकलते हैं इसी का अध्ययन तू कर। हे पुत्री! बड़े २ वसिष्ठ, विश्वामित्र, अत्रि, वामदेव कण्व, भृगु, व्यास, शङ्कराचार्य्य, पाणिनि, पतञ्जलि इत्यादि इसी आत्मा के एक २ विस्फुलिङ्ग थे। इस को सत्य जान।

उपमा से भी आपामर व्यवहारिक काम ले रहे हैं। उचित और अनुचित, उत्कृष्ट और निकृष्ट, सुसंगत और असंगत इत्यादि अनेक प्रकार के उपमा दे देकर कविगण अपने अपने कथन को सुन्दर बनाते हैं। उपमा से जो ज्ञान हो उसी का नाम उपमिति प्रमा है। उपमा उपमान दोनों शब्द समानार्थक हैं। किन्तु यहां विचार यह है कि इस उपमान प्रमाण से यथार्थ ज्ञान कितना होता है। यदि उपमानों के उदाहरण दे देकर के खण्डन किया जाय तो इस के लिये एक बृहत् ग्रन्थ बन कर तैयार हो जाय। प्रथम सांख्य का

एक उदाहरण देकर बतलाती हूं । सांख्यवित् कहते हैं कि जैसे गौ के स्तन से दुग्ध स्वयं स्रवित होने लगता है तद्वत् प्रधान भी स्वयमेव पुरुष के लिये प्रवृत्त होता है । साधारण पुरुषों की दृष्टि में यह उपमा वा दृष्टान्त अखण्डनीय प्रतीत होगा । किन्तु यह उपमा निःसार है । क्योंकि गौ चेतन है उस के प्रेम से वत्स के लिये दुग्ध स्रवित होता है । परन्तु प्रधान अचेतन है वह स्वयं कैसे प्रवृत्त होगा । अचेतन रथ अचेतन मिट्टी पत्थर की प्रवृत्ति नहीं देखते हैं । हे पुत्री ! अब इस पर अनेक विवाद उपस्थित हो सकते हैं । सांख्यवादी कह सकते हैं कि अचेतन वायु चल रहा है । अचेतन मेघ आकाश में दौड़ रहा है । अचेतना पृथिवी असंख्य वस्तुओं को उपजा रही है । इसी प्रकार अचेत दूध भी वत्स के लिये स्रवित हो सकता है । अब सांख्यप्रदत्त उपमाओं पर विचार करो उन की सत्यता कहांतक सिद्ध हो सकती है । चेतन और अचेतन में उद्देश और अनुद्देश का भेद है । वायु यह नहीं समझता मुझ को दो या चार कोस अथवा अमुक स्थान तक ही चलना चाहिये । मेघ का भी गमन अनुद्दिष्ट है अमुक ग्राम में वा अमुक देश में जाकर मुझे बरसना है यह मेघको नहीं मालूम । यदि मालूम होता तो समुद्र में ही क्यों वर्षा होती । अथवा भक्त पुरुषों ही के क्षेत्रों में जा बरसता । इस हेतु वायु और मेघ उद्देश रहित होने से अचेतन हैं । इसी प्रकार पृथिवी का भी कोई उद्देश सिद्ध नहीं होता । वर्षा ऋतु में अगण्य उद्भिज्ज उत्पन्न होते और थोड़ी ही गरमी पाकर वे भस्म हो जाते हैं । पृथिवी उस की रक्षा नहीं कर सकती । किन्तु गौ को दूध अपने स्तन से चुआने का एक उद्देश प्रतीत होता है । यद्यपि वह उस की शक्ति में नहीं है तथापि अधिक प्रेमवश अथवा दुग्ध के आधिक्य से स्तन से दुग्ध गिरने लगता है । पुनः इस पर सांख्यकार कह सकते हैं कि सहस्रशः चेतनों की चेष्टाओं का कुछ उद्देश प्रतीत नहीं होता । बालकों की क्रीड़ा का क्या उद्देश है । चींटियों के प्रतिक्षण कार्य्यासक्त होने का कोई उद्देश निर्णीत नहीं होसकता । पक्षियोंके गान का की .स्त

उद्देश रहता है। क्या मनुष्य प्रसन्न हों या अन्यान्य पक्षिगण, प्रमुदित हों। इस लिये कोकिल गान करते हैं। यदि कुछ और दूर बढ़े और कुछ नास्तिक का अंश ले लें तो उद्देश का कुछ भी पता न चलेगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तु जन्म-लेते ही मर जाते हैं। बहुतसे कीड़े वस्त्रकोश बना कर स्वयं मर जाते हैं। वर्षा ऋतु में अगण्य जीव उत्पन्न हुए देखे जातेहैं। घोंघ शुक्ति, शंख, सर्प, कच्छे, कर्कट और नाना पतङ्ग इन की सृष्टि का क्या उद्देश है। सर्पिणी अपने बच्चे को ही खा जाती है। कर्कट पेट में ही अपनी माता को खा जाते हैं। ऐसे २ घृणित निष्प्रयोजन निरर्थक सहस्रशः जीव और उद्भिज्ज पृथिवी पर विद्यमान हैं। और अनेकानेक वस्तुएं दृष्टान्त में दी जा सकती हैं। सृष्टि का कुछ उद्देश प्रतीत नहीं होता। अतः उद्देश अनुद्देश का बखेड़ा व्यर्थ है।

हे पुत्री! इस प्रकार विविध उपमा देकर सांख्यवादी अपना पक्ष रोप सकते हैं। और खण्डन करने वाले खण्डन भी कर सकते हैं। तथापि चेतन और जड़ में उद्देश अनुद्देश का बहुत कुछ पता लगता है। सृष्टि का उद्देश हो वा न हो इस विषय को यहां मैं छोड़ कर चेतन के उद्देशों का कुछ वर्णन करती हूं। यह तो निर्विवाद है कि अचेतन रथकी स्वयम् गति नहीं होती। एवमस्तु। इसे भी छोड़ो प्रत्येक चेतन जीव अपनी उदर पूर्त्ति की चेष्टा करता है। अतः क्षुधा पिपासा की निवृत्ति यह उद्देश सब में समान रीति से विद्यमान है इस के अतिरिक्त शरीर की गति और स्थिति ठीक रखने के लिये अन्यान्य चेष्टाएं बहुत सी करनी पड़ती हैं। हां, ये बातें ठीक हैं कि मनुष्येतर जातियों में उन गतियों और स्थितियों का वास्तविक विवेक नहीं। किन्तु, स्वभाव से ही उन की प्रवृत्ति और निवृत्ति, मानो हो रही है। तथापि उनका एक उद्देश अवश्य है। आकाश में कभी २ नृत्य करते हुए विविध पतङ्ग देख पड़ते हैं। उन का उद्देश हमें ज्ञात न हो। किन्तु वहनिष्प्रयोजननहीं। क्या जानें आमोदप्रमोद के लिये ही वे पतङ्गआकाश में नृत्य करते हों। क्या आकाशमें गिद्धों

का करना व्यर्थ है। नहीं इस लिये चेतन की प्रत्येक चेष्टा उद्देश-मयी है। किन्तु वायु प्रभृति की गति का उद्देश कुछ प्रतीत नहीं।

हे पुत्रो! क्या यह विवाद यहां ही शान्त हो गया? नहीं। यह विवाद बहुत दूर तक जा सकता है। इस में बहुत सी कोटियां हो सकती हैं। क्या सांख्यवादी वायुप्रभृति की गति का कोई उद्देश नहीं बतला सकते। सुनो वे कह सकते हैं कि सब चेतन में प्राण देने के लिये मैं भ्रमण कर रहा हूं। यह वायु समझते हैं। मैं शीतल करने के लिये और उत्पत्ति शक्ति बढ़ाने के लिये यात्रा कर रहा हूं। ऐसा मेघ समझते हैं। मेघ अथवा वायु नहीं समझते हैं यह ज्ञान आप को कैसे हुआ। आप जब तक एक भी चेतन को पृथक् नहीं देखते तब चेतन २ बकना व्यर्थ है। और इस विवादग्रस्त वस्तु को लेकर पक्ष सिद्ध करना भी एकदेशी अथवा विश्वास की बात है। पारमार्थिक नहीं। एक ही वस्तु की नाना अवस्थाएं हो सकती हैं। विविध विकास होते रहते हैं। अतः चेतनाचेतन को झगड़ा भी व्यर्थ ही है। एवमूविध नास्तिक मत आजाता है। परन्तु मैं यह कहती हूं कि यदि नास्तिक मत ही परमार्थ हो तो क्या आस्तिक मत केवल विश्वास का पात्र ही है। वास्तव में कुछ नहीं। एवमस्तु। एक चेतन जब निरिन्द्रिय अथवा एकेन्द्रिय है दूसरा चेतन इतना सूक्ष्म और अणुतम है जिसको इस आंख से कदापि नहीं देख सकते केवल अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही देखते हैं। तीसरा चेतन गजादि बहुत स्थूल है। चौथा आम्रादि चेतन जिव्हा कर्णादि रहित है। और अपने स्थान से इधर उधर विचलित भी नहीं हो सकता। इस प्रकार चेतन का विचार करती हुई कह सकती हैं कि रेणु और रथ आदि चेतन ऐसे हैं जो स्वयम् कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकते। क्या यह मेरा पक्ष लोगों को रुचिकर होगा? क्या शङ्कराचार्य्य प्रभृति नाना तर्कों से इस का निराकरण करेंगे। परन्तु मैं तो यह कह रही हूं विवाद का अन्त कहां है। और उपमान से कितनी बातें सिद्ध होती हैं। यदि गवय और गौ में सादृश्य देख और उस से मनुष्य जाति में किञ्चित् बोध का पता लगा उपमानको महत्व देवें तो यह उचित न होगा। एवमस्तु।

आगे चल इसी प्रकार अग्निसे धूम निकलता है यह एक अतिआलसी पुरुष को भी विदित है। गवार से गवार इस को जानते हैं। मेघ से वर्षा होती है इसे पञ्चवर्षीय बालक भी समझते हैं। और कहते हैं कि पूर्व ओर काली घटा छाई है। पानी बर्षेगा। इत्यादि प्रसिद्ध सहचार अथवा लिङ्ग देखकर अनुमान प्रमाण की दृढ़ता बतलाना कहां तक ठीक है। विचार कर।

प्रथम जैसे धूम देख कर अग्नि का अनुमान करते हैं वैसा ही इस सृष्टिरूप कार्य्य को देखकर कर्त्ता ईश्वर का अनुमान कर सकते हैं? नहीं। धूम और अग्नि में सहचार है मेघ और वर्षा में सहचार है और यह प्रत्यक्ष है। किन्तु ईश्वर और सृष्टि में कौन सा सहचार है क्या किसी ने सृष्टि को बनाते हुए ईश्वर को देखा है। जैसे तन्तुवाय को वस्त्र बनाते हुए देख कह सकते हैं कि सारे वस्त्र किसी से बनाए हुए हैं। इसी प्रकार यदि कोई ईश्वर को भी कुछ रचते हुए देख आता तो कार्य्य से कारण का अनुमान कर लेते। परन्तु यहां सब वस्तु अगम्य हैं। इस पर यदि कोई कहे कि सूर्य्यादि वस्तु को दूसरा कोई बना नहीं सकता। इस लिये जो इसके बनाने वाला वही ईश्वरपद वाच्य है। इसपर भी बहुत से विवाद उपस्थित होंगे। लोक में देखते हैं कि सामग्रियों को लेकर ही वस्तु बनाता है और वह शरीरी होता है। उसका कोई आधार और स्थान नियत होता। किन्तु ईश्वर के निकट कौनसी सामग्री थी वह कहां था उसका शरीर कैसा था। इत्यादि अनेक तर्क उपस्थित होंगे। इसी को लेकर शास्त्रियोंमें अनेक भेद उपस्थित हुए हैं। पहले से ही सामग्री थी कुम्भकारवत् इस का निमित्तकारण ईश्वर है वेदान्ती कहते हैं कि सामग्री न थी बिना सामग्री से ही यह सृष्टि बन गई। वास्तव में यह सृष्टि है ही नहीं। यह अध्यासमात्र और विवर्तमात्र है। इत्यादि विवाद क्यों चल पड़ा। इसका केवल कारण यह है कि जैसे अग्नि और धूम में अविनाभाव सम्बन्ध अर्थात् अग्नि बिना धूम हो ही नहीं सकता। इस लिये धूम अग्नि का लिङ्ग (चिह्न) है। वैसा

-विस्पष्ट-चिह्न यदि कर्त्ता ईश्वर और कार्य्य जगत् में होता तो ऐसा विवाद कभी उपस्थित न होता मूर्खातिमूर्ख भी वस्त्र स्वयम् बनकर प्रस्तुत होगया है ऐसा विवाद कोई नहीं करता। किन्तु जगत् की कार्य्यकारणता में सदा लड़ाई चली आती है। क्योंकि यहां धूम्रवत् चिह्न नियम नहीं। और चिह्नज्ञान बिना अनुमान हो नहीं सकता अब एक प्रसिद्ध अनुमान का उदाहरण देती हूं। जिस से किसी बात की स्थिरता नहीं हो सकती। जैसे "पृथिवी अचला, गतिराहित्यात् यथा घटः" पृथिवी अचला है क्योंकि इस में गति नहीं देखी जाती। जैसे घट। अब इस के विपरीत अनुमान सुन "पृथिवी गतिमती, आकाशे विद्यमानत्वात् यथा सूर्य्यादिः" यह पृथिवी स्थिर नहीं चलने वाली है क्योंकि आकाश में स्थित है जो २ आकाश में विद्यमान हैं वे चलने वाले होते हैं। जैसे सूर्य्यादि। पदार्थ अब इस द्विविध अनुमान से कौनसी बात सिद्ध होगी। क्या 'पृथिवी अचला है वा चला है। पुनः 'पृथिवी चेतनाजननधर्मत्वात् यथामनुष्यजननीः' पृथिवी चेतना है क्योंकि इस में उत्पन्न करने की शक्ति है। यह पृथिवी उद्भिज्ज और उष्मज जन्तुओं को उत्पन्न करती है। जो २ उत्पन्न करती है वह २ चेतना होती है जैसे मनुष्य की माता। पुनः इसके विपरीत "पृथिवी अचेतना, पञ्चभूतान्तर गतत्वात् यथा जलादिः" यह पृथिवी अचेतना है क्योंकि पञ्चभूतों के अन्तर्गत है जो २ पञ्चभूत के अन्तर्गत है वह २ अचेतन है। जैसे जल आदि। हे पुत्री! अब तू विचार कर अनुमान से कितनी बातों की सिद्धि हो सकती है। अनुमान और दृष्टान्त घड़ने वाले सब तरह के अनुमान और दृष्टान्त घड़ सकते हैं। परन्तु अविनाभावसम्बन्ध रखने वाला धूमवत् यदि लिङ्ग हो तो कदापि भी अनुमान में गलती न होती। किन्तु वैसा है नहीं। अतः अनुमान की प्रतिष्ठा वेदान्त में नहीं। किन्तु केवल श्रुति की ही प्रतिष्ठा है। इस को बारंबार तू मनन कर। बहुत से शास्त्र बच्चों के खेलही प्रतीत होंगे।

अच्छा अब प्रत्यक्षप्रमा की भी थोड़ी सी परीक्षा करती हूं।

इन इन्द्रियों के द्वारा हम कहां तक ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं। दोनों आंखों से देखते हैं कि चन्द्र के चारों ओर एक गोल रेखा, वृत्ताकार में घिर गई है। जिसको परिधि कहते हैं। लोग कहते हैं कि आवश्यकतानुसार सूर्य्य और चन्द्र सभा लगाते हैं। जब चारों तरफ कुण्डलाकार में देवगण बैठ जाते हैं तब दोनों के परितः परीधि अथवा परिवेष प्रतीत होता है। परन्तु वक्तव्य यहां यह है कि हमारी आंख बतलाती है कि वह परिवेष चन्द्र सूर्य्य के निकट है किन्तु यह सर्वथा मिथ्या है। आधुनिक विद्वानों ने अनेक तरह से सिद्ध कर दिखलाया है कि चार पांच कोस की दूरी पर ही वह परिवेष बनता है। विद्वान् दीपक आदि के निकट वैसा ही परीवेष बना भी लेते हैं। द्वितोय उदाहरण भी सुन सूर्य्योदय और सूर्य्यास्त के समय आकाश और सूर्य्य भी लाल दीखते हैं। वहां हमारे नयन हम को धोखा दे रहे हैं। क्योंकि हम से पश्चिम दो एक कोस की दूरी पर आकाश रक्त प्रतीत होता है। परन्तु हम जहां हैं वहां का आकाश रक्त प्रतीत नहीं होता किन्तु उसी सन्ध्याकाल में दो एक कोस पूर्वदिशास्थ पुरुष हमारे समीपस्थ आकाश को लाल देखते हैं। इस प्रकार निर्णय करने से मालूम होगा कि वास्तव में कहीं भी लालिमा नहीं है। मैं कहां तक उदाहरण बतलाऊं। विज्ञानशास्त्र पढ़कर देख पांचों ज्ञानेन्द्रिय बहुत स्थलों में केवल धोखा दे रहे हैं। भौतिक विज्ञान शास्त्र में इस के बहुत से उदाहरण दिये हुए हैं। ग्रन्थ विस्तरभय से मैं यहां नहीं बतलाती। देख मेघ सीधेखड़े कुछ दूर पर दीखतेहैं। आकाश पृथिवी दोनों मिले हुए भासतेहैं। नक्षत्र परस्पर सटे हुए मालूम होते हैं। इत्यादि शतशः उदाहरण धोखे के हैं। सूर्य्य पूर्व से पश्चिम की ओर नहीं जाता। इस को विद्वानों ने सब तरह से स्थिर कर दिया। सूर्य्य अस्त नहीं होता। मैं कहां तक बतलाऊं यह जगत् ही धोखे की टट्टी है। इसी कारण वेदान्ती श्रुति को ही अपना महास्त्र समझते हैं। क्योंकि यह निरपेक्ष प्रमाण है।

अब अनुपलब्धि अर्थात् अभाव प्रमाको भी कुछ विस्पष्टरूप से बतलाती हूं। अभाव से भी कुछ थोड़ा बहुत बोध होता है। जैसे किसी ने पूछा कि इस गृह में जल है ? उत्तर मिला नहीं। जलाभाववान् यह घर है इतने कहने से कुछ तो बोध अवश्य हुआ। मालूम हुआ कि यहां जल नहीं है कहीं अन्यत्र मिलेगा। निषेध करने से जिस बात की प्रतीति होती है वही अभाव का स्वरूप है। वह अभाव चार प्रकार का है इस को यों समझ जो वस्त्र अभी यह है वह कुछ दिन पहिले नहीं था सदा यह वस्त्र चला आता है यह कह नहीं सकते। हां, दो चार दिनों से या दो चार वर्षों से वह वस्त्र चला आताहै इसके पूर्वमें यह नहींथा। इसीका नाम प्रागभाव है। प्राक् अर्थात् पूर्व में जिसका अभाव हो वह प्रागभाव। अब यहां शङ्का होती है कि या तब में यह वस्त्र कभी नहीं था। क्या अब बना है। इसके दो उत्तर होते हैं। इस प्रकार का यह वस्त्र कभी नहीं था और रूपान्तर में था इस प्रकार दोनों उत्तर हो सकते हैं। क्योंकि अपने उपादान कारण रुईमें पिण्डरूप से वस्त्र था। रुई अपने उपादान कारण वृक्ष में थी। वृक्ष बीजमें था, बीज पृथिवी में था, पृथिवी परमाणु में थी। इस प्रकार परम्परा के अन्वेषण से सारे प्रागभाव प्रतियोगी परमाणु में जाकर स्थित होंगे। इस लिये प्रागभाव को अनादि कहा है। क्योंकि जो यह वस्त्र है उसके पूर्वाभाव का कहीं आदि नहीं है। जो यह वस्त्र अब बना है, उसका अभाव सदा से चला आता है। इस लिये यह अनादि है। किन्तु अनादि होने परभी यह सान्त है। क्योंकि अब यह वस्त्र बनकर तय्यार होगया तब उस अभाव का भी अन्त होगया। क्या इसे तू नहीं समझती या आंखों से नहीं देखती। अब आगे चल।

अब इसी वस्त्र को आगमें जलादे अथवा फाड़ चीर दे अब इस वस्त्र का प्रध्वंसाभाव होगया। अर्थात् ध्वंसरूप अभाव होगया। यह ध्वंसाभाव सान्त और अनादि है। यह ठीक है। प्रागभाव से विरुद्ध प्रध्वंसाभाव है। प्रध्वंस इस समय हुआ है इसलिये इसकी

आदि उत्पत्ति अथवा आरम्भ प्रत्यक्ष है। किन्तु यह ध्वंस इस वस्त्र का सदा बना रहेगा। इस लिये यह सान्त है। इस की भी स्थिति परमाणु में जाकर होती है। क्योंकि फाड़ने अथवा चीरने से यह वस्त्र तन्तुरूप में आया। तन्तु भी गलने, सड़ने, जलने आदि विकार से अन्ततोगत्वा परमाणुरूप ही में आवेगा परमाणु का नाश नहीं॥

अब इसी वस्त्र में सामयिकाभाव समझ। किसी काल में इस स्थान में यह नहीं था, एक समय में इसका अवश्य अभाव था, इस हेतु सामयिकाभाव इस वस्त्र का था इस में संशय नहीं। अब चतुर्थ अत्यन्ताभाव का भी भेद सुन। वास्तव में अत्यन्ताभाव कोई वस्तु नहीं। मनुष्य बुद्धि अत्यन्ताभाव की कल्पना स्वतन्त्ररूप से कर नहीं सकती। हम अत्यन्ताभाव के उदाहरण देते हैं। जैसे खपुष्प=आकाशकुसुम। यहां आकाश और पुष्प दोनों वस्तु इस जगत में विद्यमान हैं। हां, जैसे पृथिवी पर फूल उपजते हैं वैसे ही आकाश में फूल उपजते नहीं इस लिये अत्यन्ताभाव का खपुष्प उदाहरण है। इसीप्रकार शशशृङ्ग वन्ध्यापुत्र आदिक हैं। शश भी एक वस्तु जगत् में विद्यमान है। और शृङ्ग भी बैल आदि पशुओं के शिर पर विद्यमान है। किन्तु जैसे बैल के शिर पर सींग उपजता है वैसा ही शश के शिर पर नहीं। इस हेतु अत्यन्ताभाव भी एक प्रमाणसिद्ध होता है।

एक अभाव अन्योन्याभाव नाम से प्रसिद्ध है। जैसे "घटः पटो न पटो घटो न" घट पट नहीं है और पट घट नहीं। घट में पटत्व का अभाव और पट में घटत्व का अभाव यह विस्पष्ट है। इस प्रकार अभाव से भी कुछ बोध होता है। किन्तु पारमार्थिक बोध इस से भी नहीं। जैसे घट में पटत्व का अभाव है अर्थात् घट पट नहीं है। वैसे ही जीव में ब्रह्म का अभाव है। यह लोक सिद्ध करते हैं। क्योंकि जीव में अल्पज्ञता आदि और ईश्वर में सर्वज्ञता आदि धर्म देख कर दोनों में अन्योन्याभाव की कल्पना करते हैं। परन्तु श्रुति इसके विरुद्ध जाती है। जो ब्रह्म है वही जीव है। जो जीव है वही ब्रह्म है।

ऐसासर्व श्रुति का तात्पर्य्य है। अब मैं समझती हूं कि अभाव का कुछ तत्व तू समझ गई होगी।

वेदान्त शास्त्र में स्मृतिज्ञान को प्रमाण नहीं कहा गया है। यह सुनकर तुझे कुछ आश्चर्य प्रतीत हुआ होगा। वास्तवमें स्मृतिज्ञान प्रमा है इस में सन्देह ही क्या जो श्लोक लड़के जिसरूप से कण्ठस्थ करतेहैं उसी रूपसे उन्हें स्मरण भी रहताहै। तब वह प्रमा क्यों नहीं। यह बात सुनती आई हूं कि पूर्व समय में लेख नहीं था। गुरु वेद शिष्य को सुनाया करते थे। शिष्य उन्हें कण्ठस्थ कर लेते थे। इस लिये वेद का नाम श्रुति भी है। परन्तु सृष्टि की आदिकाल से अब तक भी लोक स्मरण करते आए तब स्मृतिज्ञान प्रमा क्यों नहीं। काशी को जैसा हमने देखाथा वैसा ही इस समय स्मरण भी होता है। विश्वनाथ का मन्दिर सुवर्णजटित है। उसी के निकट अन्नपूर्णा का वैसा ही मन्दिर है। गंगा के तट पर काशी है। यह सब मेरी स्मृति में है। जयपुर में बैठ कर मैं काशी को इन इन्द्रियों से प्रत्यक्षरूप में नहीं देख रही हूं। मेरे अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा काशी नहीं पहुंचती। क्योंकि काशी यदि वृत्ति पहुंचती तो इस कोठे में भी बन्द वस्तुओं को देख लेती। और इस समय काशी में घूमते हुए सब को जानलेती। इस लिये सिद्ध है कि स्मृति में सारी बातें हैं। साक्षी देने वाला पुरुष स्मरण से ही सब वस्तु का वर्णन करता है। मैं स्मृतिशक्ति द्वारा ही नाना शास्त्रों की बातें सुना रही हूं। वास्तव मे यदि मनुष्यजाति स्मृति शून्य होती तो यह अतितुच्छ जीव कहलाता। स्मरण इस की शोभा है अतिसूक्ष्म जीव में भी स्मरणशक्ति विद्यमान है खटमल दीप देखते ही बड़े वेग से भागता है। क्योंकि उसे त्रास का स्मरण सदा से चला आता है। योगशास्त्र में भी प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा ये पांच चित्तवृत्तियां कही गई हैं। इत्यादि विचार से स्मृति का भी प्रमात्व सिद्ध होता है। किन्तु परमार्थदृष्टि से इस का अप्रमात्व है। क्योंकि सब ही अनुभूतविषय वैसा ही स्मृत भी हो यह कोई निश्चित

विश्रान्त नहीं। किसी एक वस्तु के पुनः २ घोकने से कन्ठस्थ होती है। यदि उसकी आवृत्ति न की जाय तो वह भूल भी जातीहै। कलकत्ते के देखे हुए सब ही पदार्थ स्मृतिगोचर नहींहैं। इसी समय जितने आदेश और उपदेश तू सुनती जाती है सब का स्मरण नहीं रह सकता। भ्रमण के समय सहस्रशः भिन्न २ पदार्थ देखते सुनते स्पर्शकरते सूंघतेहैं परन्तु क्या सब की स्मृति बनी रहती है ? नहीं। इस हेतु इसे अप्रमा कहा है। अप्रमा प्रमा में कुछ भेद यों देख। आंख से जिस वस्तु को जिसरूप में जितने काल तक देखती रहती है उस वस्तु का उसी रूप में उतने काल तक कभी परिवर्तन नहीं होता। कोई बैल देख रहा है तो क्या जब तक वह उसको देखता रहता है तब तक कोई विकृति अथवा विसम्वाद होता है ? नहीं। इसी प्रकार अन्यान्यप्रमाणों के सम्बन्ध में भी जान। किन्तु अब ही जो तू उपदेश सुन रही है या दशवर्ष पूर्व जितनी बातें सुनी थीं क्या सब स्मृति में हैं ? नहीं। इत्यादि प्रमाण के अनेक विषय हैं। भूयोभूयः मनन करने से स्वयं तत्तत् वस्तु विदित होती जाती है। अब इस विषय को यहां ही समाप्त करती हूं। और अन्यान्य चित्तवृत्तियों का कुछ अंश यहां संक्षेप से दिखलाऊंगी। जिस से इस जगत् में सुख और कल्याण फैले। हे पुत्री ! इस विलक्षण संसार में जीव आकार क्या २ विचित्र लीला दिखलाता है यह विचार॥

आनन्दविवेक

राजकुमारी—मैंने श्रीमती की सेवा से शास्त्रों और कुछ वेदोंका तत्व जाना। कर्म और उपासना में भी मेरी प्रवृत्ति अधिक थी। कुछ दिन से न्यून होती जाती है। मेरी उत्सुकता ब्रह्मजिज्ञासा की ओर अधिक बढ़ती जाती है। इस संसार से मुझे भय हो रहा है। मैं स्वयं कौन हूं कैसे उस ब्रह्म को पाऊं। क्या सम्भव है कि मैं उस परमानन्द को प्राप्त कर सकूंगी। मैं श्रीमती के निकट विनीतभाव से जिज्ञासा करती हूं कृपया इस की शिक्षा दे कृतार्थ कीजिये।

प्रिये राजकुमारी ! तू सर्वदा मेरा उपदेश सुनती है। आज तेरी

साक्षात् जिज्ञासा से अविप्रसन्ना हुई हूं। मैं तुझे सदुपदेश दूंगी। अवहिता होकर श्रवण कर। तू मेरी बुद्धि देख करभी ऐसीजिज्ञासा क्यों करती है। तू स्वयं ब्रह्मरूपा आनन्दघना है। सब आनन्दकी उपलब्धि की जिज्ञासा करना भ्रममात्र है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होती है। आनन्द तुझे सर्वदा प्राप्त ही है। तू स्वयं आनन्दमयी है। और जन्ममरण प्रवाहरूपसंसार का लेश भी तुझ में नहीं। तब उसकी निवृत्तिऔर उससे डर क्या।

राजकुमारी-भगवविमाता आप के कथन का आशय मैं नहीं समझती। मैं सदा ब्रह्म के न पाने से उदासीना और चिन्तानिमग्ना रहती हूं। और जानती और देखती भी हूं कि बाह्यविषयों के संग से थोड़ा सा आनन्द यह जीव प्राप्त करता है। शास्त्र प्रतिपादित और श्रु त आनन्द घन का एक विन्दु भी तो यह जीव पाता हुआ नहीं देखा जाता। कहा गया है-

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।

घर के कोने में मधु मिले तो पर्वत पर क्यों जायं। अतः पुनः मुझे विस्पष्टरूप से समझाइये।

रूपकुमारी-प्रिय पुत्रि! आनन्द तो इस हृदय से ही उत्पन्न होता है। यह हृदय ही आनन्द का क्षेत्र है यदि आत्मा जो हृदयस्थ है आनन्दमय न होता तो उस से आनन्द की उत्पत्ति ही कैसे होती आम्र में मधुरता है तो उसके चूसने से माधुर्य्य बोध करते हैं। यदि समुद्र में अपरिमेय जल न हो तो उस से मेघ बन कर संसार में सिञ्चन कैसे हो। यदि पृथिवी में सर्व बीजों का कोश न होता तो सारे बीज इस से कैसे निकलते। यदि सूर्य्य में स्वयं ताप न होता तो इस भूमि पर इतना ताप कहां से आता। इत्यादि उदाहरणों से क्या सिद्ध होता है। जिस में जो सामर्थ्य रहता है वह उससे निकलता भी रहता है। इसी प्रकार आत्मा में आनन्द का स्रोत न होता तो इस से आनन्द कैसे निकलता। हे राजकुमारी! जैसे किसी

स्रोत का मुख बन्द कर दिया जाय तो जल उसी के भीतर बन्द रहेगा। यदि मुंह खोल दिया जाय तो उससे जल धारा निकलने लगेगी। यही बात इस अन्तःकरण के साथ है। हां, इस में कुछ व्याख्यान और गुरु की आवश्यकता है। यह विषय बहुत मीमांसनीय है। जब पाणिनि अपने अद्भुत व्याकरणाष्टक बनाने में तत्पर होगये तब एक प्रकार क्षुधा पिपासा निवृत्त होगई। रचनानन्द में इतने निमग्न हुए कि ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण चलते फिरते इस तरह सर्वत्र ही शब्दमयी देवी ही दृष्टि आती थी। स्वप्न में भी यही देवी उपस्थित होती थी। शब्दमय ही संसार उन्हें भासित होने लगा। शब्द के विचार से उन के शरीररूप पिण्ड का अभेद होगया। उन का मन यदि कहीं था तो शब्दमयी देवी के चरण में। हे पुत्री! मैं कहां तक बतलाऊं उस रचनानन्दाब्धि में डूब कर पाणिनि एक ऐसा आनन्दप्रद रत्न निकाल लाए कि जिस को धारण कर आज सहस्रशः पुरुष आनन्दस्वरूप होरहे हैं।

वैशेषिक शास्त्र रचयिता को लोग कणाद, कणभक्षी, कणभोक्ता क्यों कहते हैं। इस के मुख्य दो कारण हैं। प्रथम मुख्य कारण यह है कि इस सम्पूर्ण जगत् को कणमय अर्थात् परमाणुमय समझते थे जो कुछ पृथिवी से लेकर चींटी तक पदार्थ दीखते थे वे कणों के ढेर हैं। ईश्वरी विचित्र शक्ति से ये कण ऐसे मिल गए हैं कि इन का पृथक्त्व प्रतीत नहीं होता। इस परमाणुओं के संयोग की विलक्षणता देख २ कर इतने वह आनन्दनिमग्न हुए कि उस आनन्द को पा परमाणुनिरूपक महान् वैशेषिक शास्त्र रच दिया। जब ये वैशेषिक शास्त्र रचने लगे तो पोषण पालन की सारी चिन्ता छोड़ और इधर उधर टकराने से विघ्न की शङ्का कर खेतोंसे कणों को चुग २ कर अपना निर्वाह करने लगे। इस लिये भी इन्हें कणाद कहते हैं। अब इन दो दृष्टान्तों से बात क्या निकली। पाणिनि और कणाद के अन्तःकरण में आनन्द के स्रोत बन्द थे विचाररूप संघर्षण से उन का मुंह खुल गया और आनन्द लूटने लगे। यद्यपि इन का

आनन्द एक विषयके संग से हुआ। तथापि यदि अन्तःकरण सरस न होता तो वह निकलता ही कहां से।

हे पुत्री! यह सम्पूर्ण पदार्थ भी थोड़ा बहुत आनन्दयुक्त है। श्रुति स्वयं कहती है कि उस आनन्द में परमात्मा के योग से यह सृष्टि भी आनन्दमयी होरही है। इसको तू अच्छी तरह से विचार में इस में अनेक दृष्टान्त देकर तुझे बतलाऊंगी। कस्तूरी जिस घर में या जिस वस्त्रके अभ्यन्तर होती है वह गृह और वस्त्र सुगन्धित हो जाते हैं। मलयाचलस्थ श्रीखण्ड के निकटस्थ वृक्ष भी शीतल और सुरभित बन जाते हैं। वह वाटिका सौरभों से परिपूर्ण रहती है जिस में सुगन्धित पुष्प विकसित होते रहते हैं। देखो इस सरोवर का जल कैसा सुगन्धमय होरहा है क्योंकि इस में कमल खिल रहे हैं। वसन्त कैसा आनन्दप्रद होता है। कुसुम हंसने लगते हैं। कोकिल मधुर गान करते हैं मधुप गूंजते फिरते हैं वायु मन्द मन्द शीतल सुगन्धित बहने लगता है। ऐसे वसन्त के पहुंचते ही केवल मनुष्य ही नहीं किन्तु पशु पक्षी और उद्भिज आदि भी मदोन्मत्त दीखने लगते है। किञ्चित् वसन्त का आनन्द पाकर सबही आनन्द में पागल हो जाते हैं। हे पुत्री इन उदाहरणों से तूने क्या समझा। जब आनन्दघन परमात्मा सर्वव्यापक है तो उस के योग से अखिल जगत् क्यों न आनन्दमय होगा। जब थोड़ी सी कस्तूरी, चन्दन, कुसुम इत्यादि वस्तुयें से वासित वस्तुएं भी तत्समान होती हैं तब उस आनन्दमय परमात्मा से वासित यह त्रिलोकी आनन्दमयी न हो यह आश्चर्य की बात है। इस में सन्देह नहीं कि यह जगत् आनन्दमय है। और उस आनन्दको मात्राको लोग लूटभी रहेहैं। शिशुगण क्रीड़ामें आनन्दपाते हैं। कपिवृन्द वृक्षोंकी शाखाओंपर कूदनेमें ही प्रफुल्लित होते हैं। ये समस्तलताएं आनन्द से ही मतवाली हो रही हैं कोकिल अपने गान से आनन्द प्रगट कर रहे हैं। विषयी विषय में आह्लाद पा रहे हैं। आज देख इस नृत्य में कितने सहस्र लोग इकट्ठे होगये हैं। जिस हेतु इन्हें इस नृत्य में बड़ा ही आनन्द मालूम

होता है। इस हेतु चारों तरफ से यहां लोग टूट पड़े हैं। इत्यादि मैं कहां तक वर्णन करूं। यह संसार आनन्दमय है। इसमें संशय नहीं किन्तु हे पुत्री! कस्तूरी में अथवा चन्दन में जितनी सुगन्धि है उतनी वासित वस्तुओं में नहीं। बस इसी बात का यहां विचार करना है। जिस के जल से यह सम्पूर्ण पृथिवी रसमयी हो रही है उस समुद्र में कितना जल है यह देख। जिस के ताप से त्रिभुवन तप्त हो रहा है उस में कितना ताप है उसे सोच। इसी प्रकार जिस आत्मा के योग से यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दमय हो रहा है उस में कितना आनन्द है इस की मीमांसा कर। ब्रह्म का नाम ही आनन्दमय है। और वह तू है तो तुझमें कितना आनन्द है इसका निरूपण कौन कर सकता है। हां, इस में सन्देह नहीं की घसने से जैसे चन्दन से सुगन्धि निकलती, अरणी से अग्नि वैसे ही विषयरूप संघर्ष से इस अन्तःकरण से आनन्दस्रोत बहने लगता है। परन्तु जो स्वयम् आनन्दरूप वृक्ष हो वह वृक्ष दूसरे से आनन्द लेने की चेष्टा क्यों करे। कदाचित् तू कहेगी यदि मैं आनन्दमयी होती तो मुझ शोक और चिन्ता ही क्या होती। मैं समझती हूं कि जो आम स्वयम् मधुर है उसको सदा माधुर्य का भान होता होगा। वह अमधुर कभी न होगा। दूध कभी अपने रूप में तिक्त न होगा। और निम्ब मधुर न होगा। वैसे यदि मैं आनन्दमयी होती तो कभी शोकमयी न होती। जैसे बिना प्रयास से बिना सोचे विचारे भूख और प्यास लग जाती है। बलात्कार निद्रा आ घेरती है। क्योंकि ये सब स्वाभाविक हैं। इसी प्रकार आनन्द भी यदि स्वाभाविक होता तो सर्वदा इस का भान होता रहता। हे माता! सूर्य के निकट कभी अन्धकार जाने का साहस कर सकता है क्या तेज और तिमिर दोनों इकट्ठे हो सकते हैं। इस से मेरी स्वल्पबुद्धि में यह बात आती है कि आनन्द आगन्तुक है स्वाभाविक नहीं। इसे हमें समझाइये।

कन्याकुमारी—अच्छा मैं दूसरी तरह से समझाने की चेष्टा करती हूं। क्या मिरची में आगन्तुक कटुता है? नहीं। किन्तु उस के अङ्ग

बीज में बहुत स्वल्प कटुता रहती है और उसी एक अतिसूक्ष्म बीज से अब दो चारसौ मिर्च फल गये हैं और बीजापेक्षा प्रत्येक में अधिक कटुता है इतनी कटुता कहां से आई क्या पृथिवी, जल, वायु और तेज से वृक्ष ने कटुता खैंची है ? यह तो हो नहीं सकता। अब यहां आश्चर्य की बात यह है कि प्रारम्भावस्था में कटुता बहुत किञ्चित् रहती है किन्तु पक कर तैयार होने पर कटुता बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रकार कच्चे केले में माधुर्य्य नहीं रहता। परन्तु पकने पर वह केला कितना मधुर हो जाता है। इसी प्रकार आम, लीची, अंगूर आदि की व्यवस्था है। तो क्या इन पूर्वोक्त वस्तुओं में कटुता और मधुरता आगन्तुक कही जायगी ? नहीं। किन्तु उत्पत्तिक्षण से परिपक्वावस्था तक एक समान कटुता वा मधुरता नहीं रहती। परन्तु उस २ पदार्थ का स्वाभाविक गुण मधुरता है इस में संशय नहीं। वैसे ही इस आत्मा को भी जान। इस आत्मा का स्वभाव ही आनन्द है। किन्तु अनेक कारण वश वह स्वभाव तिरोहित रहता है। क्योंकि निकृष्टगुण वाली अविद्या ही इस आत्मा की उपाधि है। अविद्योपहित उस आत्मा से आत्मगुण जितना प्रकाशित होना चाहिये उतना नहीं होता। अविद्या महती प्रबला है। इस लिये आत्मा के अच्छे २ गुण को प्रकाशित नहीं होने देती वह उन्हें ढांकती रहती है। मन चञ्चल कर देती है। विषयवासना की ओर ले जाती है इस अविद्या को लोग नहीं समझते। इस लिये प्रथम थोड़े ही परिश्रम से, थोड़े ही मनन से, थोड़ी सी तपस्या से इस अविद्या को दूर करले। तब देख इस आत्मा से कैसा मधुर, जगत्सुखदायी, लोकोपकारी, स्वाभीष्ट-साधक, आनन्दस्रोत बह निकलता है। देख यह संन्यासी इतना स्थूल, इतना आनन्द, इतना प्रफुल्लित सदा हंसता हुआ सदा निश्चिन्त यदृच्छालाभ सन्तुष्ट क्यों है ? इस को कहां खाने पीने सोने आदि का ठिकाना नहीं। घर द्वार भी कहीं नहीं। वस्त्रहीन जलपात्र रहित केवल भूशय्या तथापि यह नीरोग दिव्यमूर्त्ति अति स्वच्छ दीखता

है। इसका क्या कारण है? निःसन्देह इस में अविद्या का लेश अब नहीं रहा। अतः केवल आनन्द का स्रोत ही इस में विद्यमान है।

राजकुमारी! वास्तव में बाह्य पदार्थ के सम्भोग से आनन्द नहीं होता। यदि होवे तो एक विषय से तृप्त पुरुष जब दूसरे विषय की इच्छा करे तब भी उस का प्रथम विषय से आनन्द बना रहना चाहिये। परन्तु बना रहता नहीं और भी बहुत दिनों से वियुक्त प्रिय पुत्र के पुनः संयोग से प्रथम क्षण में जो आनन्द उपलब्ध होता है वह सदा बना रहना चाहिये क्योंकि आनन्द का कारण पुत्र उस के साथ है। इस से बाह्य पदार्थ द्वारा आनन्द नहीं है यह सिद्ध होता है। पुनरपि समाधि में परमानन्द की प्राप्ति होती है। यह योगशास्त्र कहता है सो न होना चाहिये। क्योंकि समाधि में किञ्चित् विषय का भी सम्बन्ध नहीं। और भी—सुषुप्ति में भी परमानन्द की प्राप्ति होती है सो न होनी चाहिये। सर्वानुभव से सिद्ध है कि सुषुप्ति में किसी विषय का सम्बन्ध नहीं। हे राजकुमारी! समस्त आनन्दमय यह आत्मा है, जो तू है।

राजकुमारी—श्रीमती यदि यह संसार स्वरूप से ही अविद्यमान है तो आकाश कुसुमवत् इस की प्रतीति भी नहीं होनी चाहिये। मैं आप और इतर की प्रतीति सब को सदा होती है। अतः इस को असत्य कैसे कहूं इसको समझाइये।

परमार्थरूप से यह जगत् नहीं है। तथापि अज्ञानवशात: मिथ्या प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न के पदार्थ, आकाश में नीलत्व, रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत इत्यादि परमार्थ से नहीं हैं। किन्तु मिथ्या प्रतीत होता है। वैसे संसार दुःख आत्मा में मिथ्या है, वास्तविक नहीं। जैसे रज्जु के ज्ञान से भ्रमात्मक सर्प का विध्वंस होता है तद्वत् आत्मज्ञान से मिथ्या संसार का विनाश होता है। तुझ में संसाररूपी दुःख की प्रतीति मिथ्या ही भ्रान्तिसे है उस की निवृत्ति की इच्छा बन नहीं सकती है। जैसे कोई बाजीगर किसी को मिथ्या शत्रु दिखलावे तो उसके मारने की इच्छा किसी को नहीं होती।

इसी प्रकार मिथ्या संसार की निवृत्ति की इच्छा भी व्यर्थ है। राजकुमारी! आत्मस्वरूप के अज्ञान से जगत्‌रूपी खेल प्रतीत होता है यह आत्मज्ञान से मिटता है। जो वस्तु जिस के अज्ञान से प्रतीत होता वह उस के ज्ञान से मिटता है यह नियम है। जैसे रज्जु के अज्ञान से उत्पन्न सर्प का विनाश पुनः रज्जु के बोध से होगा। वैसे ही आत्मज्ञान से मिथ्या जगत् का नाश होगा। तेरे में यह जगत् कभी नहीं क्योंकि यह मिथ्या है मिथ्या वस्तु अधिष्ठान की हानि नहीं करती। जैसे मरीचिका का जल पृथिवी को गीला नहीं करता। तद्वत् मिथ्या संसार तुझे हानि नहीं पहुँचा सकता। और मैं "सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप हूं" इस निश्चय का नाम ज्ञान है। यही मोक्ष का साधन है दूसरा नहीं। उस का उपदेश प्रथम कह आई हूं।

प्रियपुत्रि! जगत् का उपादान कारण अज्ञान है (अज्ञान, माया, अविद्या, तम आदि एकार्थक हैं) उस अज्ञान के नाश से जगत् का स्वयं नाश होजायगा। क्योंकि उपादान के नाश के पश्चात् कार्य्य नहीं रहता। उस अज्ञान का नाश केवल ज्ञान से होता है। कर्म और उपासना से नहीं क्योंकि अज्ञान का विरोधी ज्ञान है कर्मोपासना नहीं। जैसे गृहगत अन्धकार अन्यान्यक्रिया से दूर न होकर केवल प्रकाश से विध्वस्त होता है। तद्वत् ज्ञानरूप प्रकाश से अज्ञानरूप अन्धकार का विध्वंस होता है।

राजकुमारी—पूज्या माता यह ठीक है कि अज्ञान से ज्ञान का नाश होता है। किन्तु मैं सच्चिदानन्द ब्रह्मरूपा हूं, यह मुझे प्रतीति नहीं होता। क्योंकि मैं सुख दुःख की भोक्त्री, पुण्यपाप की कर्त्री, अशुद्धा, विमूढा, दीना हूं। ब्रह्म में न तो पुण्य न पाप न जन्म न मरण न सुख न दुःख अर्थात् समस्तोपाधि से रहित है। ब्रह्म और मैं तेजस्तिमिरवत् परस्पर विरुद्ध हैं। इस हेतु दोनों की एकता कैसे? और भी वेद कहता है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं

परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यन-श्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

एक बुद्धिरूपी वृक्षपर दो समान पक्षी हैं। उन में एक कर्म का फल भोगता है दूसरा भोगरहित शुद्ध असंग है। इस में भोक्ता जीव और अभोक्ता परमात्मा प्रतीत होताहै। अतः दोनों की एकता कैसे? और भी कर्म्मोपासना का विभाग सब वेद और शास्त्र करते हैं। यदि ब्रह्म जीव की एकता हो तो वे कर्म्मोपासनादि कर्म व्यर्थ होंगे। क्योंकि यदि जीव ब्रह्म है तो किस उद्देश से वह कर्म करेगा? अथवा ब्रह्म ही जीव है तो उसे सब कुछ स्वयं प्राप्त है। फिर वह कर्म में क्यों प्रवृत्त हो। पुनः कर्मफलदाता भी कोई सिद्ध न होगा। इस विधिनिषेधात्मक सर्वशास्त्र की निष्प्रयोजनता सिद्ध होगी।

समाधान–इस भ्रम का निवारण चार प्रकार के आकाशों और आत्माओंसे हो सकताहै। वे चार भेद ये हैं। १–घटाकाश २–जलाकाश ३–मेघाकाश ४–महाकाश। और आत्मा के चार भेद ये हैं। १–कूटस्थ २–जीव ३–ईश्वर ४–ब्रह्म। इन चारोंका स्वरूप अच्छीतरह से पहचान तबतू निःसंशया होगी। १–जलसे परिपूरितघटको जितना अवकाश आकाश देता है उतने आकाश को घटाकाश कहते हैं। २–जलपरिपूरित घट में नक्षत्रादि सहित आकाश का जो प्रतिबिम्ब और घटाकाश दोनों मिल कर जलाकाश कहाता है (१)। ३–मेघ को जितना अवकाश आकाश देताहै और मेघस्थ जलमें जो आकाश का प्रतिबिम्ब इन दोनों का नाम मेघाकाश है। ४–बाहर और भीतर जो एकरस से व्यापक अवकाश है उसका नाम महाकाश है।

(१) टि० यहां कोई शंका करते हैं कि आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता केवल नक्षत्रादि का प्रतिबिम्ब होता है। क्योंकि रूपवान् पदार्थ का प्रतिबिम्ब होताहै। नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब कैसे।

समाधान–रूपरहित पदार्थ का भी प्रतिबिम्ब होता है। जैसे रूपरहित शब्दकी प्रतिध्वनिहै वह शब्द का प्रतिबिम्बहै।

१-बुद्धि अथवा व्यष्टि अज्ञान का अधिष्ठान चेतन का नाम कूटस्थ है २-नानाकाम और कर्म सहित बुद्धिमें चेतनके प्रतिबिम्बको जीव कहते हैं। यहां केवल प्रतिबिम्बमात्रको जीव नहीं कहते हैं। किन्तु जैसे घटाकाश सहित आकाश प्रतिबिम्ब को जलाकाश कहतेहैं।तद्वत् बुद्धिमेंजो चिदाभासऔर बुद्धिकाअधिष्ठान चेतन दोनोंकानामजीव है। पञ्चदशीमें श्रीविद्यारण्य स्वामीने लिखा है बुद्धि,तद्गतचिदाभास और इन दोनों का अधिष्ठान कूटस्थ चैतन्य इन तीनों का नाम जीव है। अतः बुद्धि अथवा अविद्या और उसमें स्थित जो चिदाभास और उन का अधिष्ठान कूटस्थ ये तीनों मिलकर जीव कहलाता है। ३-माया में जो चेतन की छाया और माया का अधिष्ठान चेतन इन दोनों का नाम ईश्वर है वह मेघाकाश के समान है। ४-ब्रह्माण्ड के अन्तर और बाहर जो महाकाशवत् समस्त परिपूर्ण है उसे ब्रह्म कहते हैं। वह न तो भिन्न और न दूर है। क्योंकि जो वस्तु अपने से भिन्न और देशरूपोपाधिवाली होती है वो पृथक् और दूर कही जाती। ब्रह्म भिन्न नहीं। किन्तु सब का आत्मा और देशादिक सर्वोपाधि से रहित हैं। अतः वह न पृथक् न दूर है। इस प्रकार चार प्रकार के चेतनों का वर्णन किया। उन में से जीव के स्वरूप में जो मिथ्या आभास अंश वह पुण्य पाप करता और वही फल भोगता है। इसी से यह सुखी दुःखी भी रहता है और कूटस्थ,जो चेतन,वह कल्याण कारी है। इस हेतु प्रथम जो शंका तुम ने की थी कि बुद्धिरूपी वृक्ष पर दो पक्षी हैं। एक परमात्मा और दूसरा जीव यह उस का उत्तर हुआ। किन्तु यहां पर परमात्मा और जीव का ग्रहण नहीं। किन्तु कूटस्थ प्रकाशमान है और आभास भोक्ता है। इस से यह बात सिद्ध हुई कि जीव के स्वरूपमें जो आभास अंश वह पुण्य पाप करता है और उस का फल भोगता है। किन्तु ईश्वर में जो आभास अंश है वह कर्म का फल देता है। इस लिये अविद्या दूर करने से आनन्द की प्राप्ति होती है। देख महाकाश का कहीं अन्त नहीं। ऐसी प्रकार महान् आत्मा का भी कहीं अन्त नहीं।

शंक कुमारी-मातः! आप की बात थोड़ी २ समझ में आती है। परन्तु सम त वाक्यार्थ बोध नहीं होता। यह तो समझ गई हूं कि आत्मा में आनन्द है और वह विषयों के सङ्ग से दो अरणी के संघर्षणसेअग्निवत् प्रकट होता है। और यह आत्मा महाकाशवत् व्यापक है। किन्तु शङ्का तो यह हो रही है कि उपाधि भेदसे यह जगत् नाना रूप में भासित होरहा है, और वे ही उपाधियां दुःखके कारण भी हैं। परन्तु ये उपाधियां वास्तविक नहीं है यह कैसे मालूम हो। घट, पट, मठ, शरीर, आकाश पाताल इन सहस्रशः वस्तुओं को अपनी आंखों से देख रही हूं फिर इनको मिथ्या कैसे कहूं। समाधि ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है यह भी कल्पित प्रतीत होती है। प्रथम सयोग में वियुक्त पुत्र के संमेलन से जो आनन्द और उस से जो अश्रु पात होता है वह सदा स्थिर क्यों न रहता। क्योंकि आनन्दजनक पिता पुत्र सम्मेलन विद्यमान ही हैं। अतः इसका भी कुछ वर्णन सुनना चाहती हूं।

आभास की सात अवस्थाएं

रूपकुमारी—इस पर आभास की सात अवस्थाओं की सूक्ष्म व्याख्या करती हूं। सम्भव है कि उससे तेरी शङ्का की निवृत्ति कुछ हो। वह इस प्रकार है। १—अज्ञान २—आवरण ३—भ्रान्ति ४—द्विविध ज्ञान ५—भ्रान्तिनाश ६—हर्ष। मैं ब्रह्म नहीं हूं, इस व्यावहार का हेतु अज्ञान है। ब्रह्म है ही नहीं और उस का भाव भी नहीं होता। इस व्यवहार का हेतु आवरण है। क्योंकि दो प्रकार की अज्ञानशक्तियां हैं। एक असत्वापादिका दूसरा अभानापादिका। इन दोनों का नाम आवरण है। वस्तु नहीं है, ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्तिका नाम असत्वापादिका और वस्तुका भान नहीं होता, ऐसी प्रतीति कराने वाली शक्ति का नाम अभानापादिका है। इस रीति से ब्रह्म नहीं है इस व्यवहार का हेतु अज्ञान की असत्वापादिका शक्ति है और ब्रह्म का भान नहीं होता इस व्यवहार का हेतु अज्ञान की अभानापादिका शक्ति है। इन दोनों का नाम आवरण है। जन्ममरणादिक जो संसार

उसकी कूटस्थ में जो प्रतीति उसे वेद में भ्रान्ति कहते हैं और इस का नाम शोक भी होता है। परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार के ज्ञान हैं। " ब्रह्म नहीं है " इस आवरणांश को " ब्रह्म है " ऐसा परोक्ष ज्ञान विनष्ट करता है। क्योंकि " सत्य ज्ञान अनन्तरूप ब्रह्म है " इस ज्ञान का नाम परोक्षज्ञान है। यह ' ब्रह्म नहीं है " ऐसी प्रतीति का विरोधी है। " मैं ब्रह्म हूं " ऐसा जो अपरोक्षज्ञान वह सकल अविद्याजाल का विरोधी है। अतः "मैं ब्रह्म को नहीं जानता" यह अज्ञान है और ब्रह्म नहीं है " और " भान नहीं होता" यह आवरण है। और " मैं ब्रह्म नहीं हूं किन्तु पुण्य पाप का कर्त्ता और सुख दुःख का भोक्ता जीव हूं " यह भ्रान्ति है। इतने अविद्याजाल का अपरोक्षज्ञान नाश करता है।

भ्रान्तिनाश

मुझ में जन्म मरण सुख दुःख और अन्य न्य संसार धर्म कुछ भी नहीं है। मैं कूटस्थ अजन्मा ब्रह्म हूं। इस विचार से समस्त भ्रान्तियों का नाश होताहै। अतः इसको भ्रान्तिनाश और शोकनाश भी कहते हैं। " मैं अद्वय ब्रह्महूं ' इस प्रकारके निश्चयात्मक बोध से जो एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होताहै उस का नाम हर्षहै।

अज्ञान का आश्रय और विषय चेतन है

विषय जो घटपटादि वे तमोगुण के कार्य्य हैं। अतः वे स्वरूप से जड़ है। उन में अज्ञान और आवरण हैं। अतः यह शङ्का होती है कि अज्ञान और उस का आवरण विचार दृष्टि से चेतन में है। घट पटादिक में नहीं। क्योंकि अज्ञान चेतन का आश्रित है। और चेतन को ही विषय करता है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है। प्रात अवस्थाओं का वर्णन से भी अज्ञानका आश्रय अन्तःकरण सहित आभास कहा है। वह अज्ञान का अभिमानी है। " मैं अज्ञानी हूं " ऐसा अभिमान अन्तःकरण सहित आभास को होता है। इस हेतु अज्ञान का आश्रय चेतन है। आभास सहित अन्तःकरण नहीं। क्यों

कि आभास सहित अन्तःकरण अज्ञान का कार्य्य है। जो जिस का कार्य्य होता है वह उसका आश्रय नहीं होता। अतः चेतन ही अज्ञान का अधिष्ठान रूप आश्रय है और चेतन को ही अज्ञान विषय करता है। स्वरूप का जो आवरण करना है वही अज्ञान का विषय करना है। वह अज्ञानकृत आवरण जड़ वस्तु नहीं हो सकता क्योंकि जड़ वस्तु स्वरूप से ही आवृत है। उस में अज्ञानकृत आवरण का कुछ भी उपयोग नहीं। इस रीतिसे अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों चेतन ही हैं। जैसे गृह का अन्धकार गृहके मध्य को आवरण करता और गृह ही में रहता है।

समाधान-जसे चेतन के स्वरूप से भिन्न सदसद्‍ विलक्षण अज्ञान चेतन के आश्रित है। उस अज्ञान से चेतन आवृत होता है। वैसे घट के स्वरूप से भिन्न अज्ञान यद्यपि घट के आश्रित नहीं। तथापि अज्ञान ने ही स्वरूप से प्रकाश रहित घट पटादिक को जड़-स्वरूप रचा है। अतः सदा ही अन्ध के समान आवृत है। अज्ञान ने घटादिक का आवृतस्वभाव किया है। क्योंकि तमोगुणप्रधान अज्ञान से भूतों की उत्पत्ति द्वारा घटपटादिक उपजते हैं। वह तमोगुण आवरण स्वभाव वाला है। अतः घटादिक प्रकाश रहित अन्ध ही होता है। इस रीति से अन्धतारूप आवरण घटादिकमें अज्ञानकृत स्वभाव सिद्ध है। और घटादिक के अधिष्ठान चेतनाश्रित अज्ञान चेतन को आच्छादित करके स्वभाव से आवृत घटादिकों को भी आच्छादित करता है। यद्यपि स्वभाव से आवृत पदार्थ के आवरण में प्रयोजन नहीं। तथापि आवरणकर्त्ता पदार्थ प्रयोजन की अपेक्षा से बिना ही निरावरण के समान आवरण सहित में भी आवरण करता है। यह लोक में प्रसिद्ध है। उस अज्ञान से आवृत घट में व्याप्त जो अन्तःकरण की आभाससहित घटाकार वृत्ति उसमें वृत्ति में जो आभास भाग वह घट को प्रकाशित करता है। इस प्रकार बाह्य पदार्थ में वृत्ति और आभास दोनों का उपयोग है। जैसे अन्ध-कार में मृन्मयपात्र अथवा लोहमय पात्र ढाकन से ढका हुआ हो

यहां दण्ड से ढोकन को फोड़दे तौ भी दीपक बिना उस निरावरण पात्र का प्रकाश नहीं होता किन्तु दीपक से प्रकाश होता है । तद्वत् अज्ञान से आवृत जो घट उस के आवरण को यद्यपि वृत्ति भग्न भी कर देती है। तथापि घटका प्रकाश नहीं होता। क्योंकि घट स्वरूप से जड़ है और वृत्ति भी जड़ है। उस का आवरणभङ्गमात्र प्रयोजन है। अतः उस से प्रकाश नहीं होता। इस हेतु घटका प्रकाश आभास है। नेत्र का विषय जो वस्तु उसके प्रत्यक्षज्ञान की यह रीति है। इसी प्रकार अन्य न्य इन्द्रियों का भी बोध समझ लेना चाहिये।

इतने व्याख्यान से सिद्ध यह हुआ कि अज्ञानावरण अतिशय प्रबल है। इस हेतु वास्तवस्वरूप का बोध नहीं होता। श्रीकृष्ण, ने कहा हैः—

"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"

इस में सन्देह नहीं कि जैसे क्षुधा और पिपासा स्वभाव से ही सब प्राणियों में प्रकटित हो जाती है। वैसे सब प्राणियों में आनन्द का प्रकाश इतना नहीं होता। जिस हेतु यह संसार ही अज्ञानकृत है और अज्ञान नाम ही है अविवेक का, अतः संसार में आनन्द ढक गया और दुःख की मात्रा कुछ बढ़ गई। सब से प्रथम इस पेट की चिन्ता ने प्राणियों को बहुत अंश में दुःखमय बना दिया। प्रत्येक प्राणी कुछ खाना चाहता है यदि उस प्राणी को अपने परितःस्थित अनुकूल भोजन न मिला तो अनुचित व्यवहार वह करने लग जाता है। सिंह इस लिये प्राणियों को मार २ खाने लग गया कि उस को फल फूल न मिल सके। जल में रहते हुए मत्स्य इस कारण अपने सजातीय भाइयों को खाने लग गये कि उन्हें अन्य प्रकार से अपना निर्वाह न सूझा। जिस समय कुत्ती और गीदड़नी क्षुधा से अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं उस समय अपने बच्चे को भी खाती हुई देखी गई हैं। सर्पिणी अपने बच्चे को खा जाती है यह प्रसिद्ध है। कर्कटी को अपने बच्चे ही खा जाते हैं यह भी प्रत्यक्ष

है। यहां तक सुना और देखा गया है कि मानुषी भी अत्यन्त दुर्भिक्षावस्था में अपने सन्तान को खाती हुई पकड़ी गई है। क्या कहा जाय इन उद्भिज्जजातियों में भी अपने २ पोषण के लिये एक जाति दूसरी जाति को नष्ट करने के लिये चेष्टा करतीहै। जब इस प्रकार प्रचण्ड क्षुधा जागृत है तो इस संसार में दुःख का घोर दृश्य क्यों न दीख पड़े। यद्यपि मनुष्येतर जातियों के क्लेशों की चिन्ता न करती हुई क्षणमात्र मानवजाति की ओर आती हूं तो और भी आश्चर्य लीला में डूब जाती हूं। मानवजाति न कभी सुखिनी हुई और न होने की कोई भविष्यत् आशा ही देखती हूं। इन में केवल क्षुधा पिपासा ही जागरूक नहीं हैं। किन्तु अनन्त अनन्त कामनाओं से यह जाति आवृत है। क्षुधापिपासा की निवृत्ति का उपाय अथवा सामग्री जिसके पास विद्यमान है वह निज समाजमें प्रतिष्ठा मान मर्य्यादा आदि चाहता है। भोग विलास की आयोजना करने लगता है और इस प्रकार पृथिवी पर के सब ही पदार्थों का भण्डार अपने गृह को बनाना चाहता है। हे पुत्री! सन्तोष कहां है। महान् सम्राट् भी त्रिभुवन को अपने वश में करना चाहता है। वश करके भी वह तृप्त न होगा। इस के उदाहरण शतशः पुराणों और अन्यान्य ग्रन्थों में कथित हैं। हिरण्यकशिपु, रावण, नमुचि, ययाति, इन्द्र आदिक हैं। तब इस अवस्था में चित्तवृत्तियों को बढ़ाकर नष्ट होना उचित है अथवा वृत्तियों को रोक कर अपने में स्थित होना योग्य है। हमने जिस सन्यासी का अब ही तुम से निर्देश किया है जो यहां ही रहता है वह कितना आनन्द है। उसकी प्रतिष्ठा भी कम नहीं। क्योंकि जिस ओर वह जाता है वहां ही झुण्ड के झुण्ड लोग उस के दर्शन और पैर छूने के लिये दौड़ते हैं। वह मूर्ख भी नहीं क्योंकि वह सर्वशास्त्रवित् है। जाति में भी नीच नहीं क्योंकि वह उत्तम कुल का ब्राह्मण है। इत्यादि सर्वगुण सम्पन्न रहने पर भी सग्रही नहीं। वृत्तियां इस की अवरुद्ध हैं। सदा अपने में स्थित हो आनन्दमय होरहा है। कृष्ण ने कहा है:—

विहायकामान्यः सर्वान् पुमांश्चरतिनिस्पृहः।
निर्ममोनिरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

हे पुत्री ! पुनः श्रीकृष्ण ने कहा है:-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत ।

किसी न किसी उपाय से इस आत्मा का उद्धार करे इस को न गिरावे । बड़े २ ऋषि और मुनि अपने दिव्यज्ञान से कह गये हैं कि शूकर कुक्कुर सर्प तथा अन्यान्य निकृष्ट से निकृष्ट योनि में यह जीव अपने कर्म के अनुसार जा गिरता है । इस पृथिवी पर ही कितने प्रकार के शरीरहैं उनको कौन गिन सकताहै । यदि मनुष्य शरीर पाकर इस आत्मा का उद्धार न किया तो तू अवश्य जान कि पुनः इन सब शरीरों में जाकर कर्म भोगना होगा। ऐसा ऋषि और मुनि कहते हैं इस हेतु जिस किसी उपाय से इस आत्मा का उद्धार कर । काम क्रोधादिक को छोड़ अपने में स्थित हो तब ही आनन्द का स्रोत इस से निकलेगा । यहां एक दृष्टान्त देती हूं ।कोई एक लालची पुरुष एक साधु की सेवा करने लगा । साधु जी ने प्रसन्न होकर उस से कहा कि बेटा !तू मुझ से क्या चाहता है । मुझ गरीब की सेवा तू क्यों करता है ?अपना मनोरथ कुछ बतला? उस लालची ने कहा कि मैं अत्यन्त निर्धन हूं मेरी स्त्री और अनेक सन्तान हैं । हे गुरो ! इनका निर्वाह अत्यन्त कठिन हो गया है । आप त्रिकालदर्शी हैं मुझ पर ऐसी कृपा कीजिये कि परिवार सहित मैं सुखी होऊं। साधु ने कुछ सोच विचार कर कहा कि देख बच्चा !मुझ को गुरु जी ने एक पारसमणि दिया था । उसको अपने जीवन के लिये निरर्थक और हानिकारी समझ उस पर्वत पर पत्थरों में फैंक दिया । मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि वह पारसमणि उन ही पत्थरों में अब तक विद्यमान है । यह लोहा लेकर तू वहां जा और प्रत्येक पत्थर के टुकड़ों को लेलेकर इस लोहे से छुआना । जिस पत्थर से यह लोहा सोना बनजाय उसी को पारसमणि समझकर उठा लाना । उससे तू अपने

निर्वाह के लिये लोहे को सोना बना लिया करेगा। वह लालची उस पर्वत पर जाकर वैसा ही करने लगा। किन्तु लोहे से पत्थर को छुआ छुआ कर जल्दी २ दूसरी ओर फेंकने लगा। कुछ दिन में वह पारसमणि उसको मिला किन्तु झट से अपने लोहे में मिला कर फेंक दिया। क्योंकि उसको फेंकने का ही अभ्यास अधिक होगया था। अब अपने लोहे को सुवर्णमय देखा तो बडे ज़ोर से रोने लगा और कहने लगा कि हाय, मैं ने क्या यह अनर्थ और अनुचित किया। फिर इतना परिश्रम मुझ से कैसे होगा। एक बार तो इस के खोजने में इतना समय और परिश्रम लगा है। द्वितीय बार इस के अन्वेषण में कितना समय लगेगा। इसको कौन कह सकता है। साधु के निकट आकर वह अपना वृत्तान्त सुनाकर रोने लगा। साधु ने कहा कि इस में तेरा दोष है मैं क्या करूं। पुनः उसे ढूंढकर निकाल ले। पुनः तेरे इस में बहुत वर्ष बीतेंगे।

इस दृष्टान्तसे दार्ष्टान्तिकम यह भावहै कि माना कि यह मनुष्य शरीर पारसमणि है जो तुझको कोटियों जन्मों के पश्चात् मिला है। इससे मुक्तिरूप सुवर्ण बना सकती है। इस से तू सदा के लिये सुख भोग सकती है। गमनागमन छूट सकता है। मरणक्लेश से सदाके लिये निवृत्तहो सकती है। यदि इस पारस शरीरसे ईश्वरकोन पहचान। इस को उस लालची के समान फेंक डाला तो पुनः कितने जन्म मरणों के पश्चात् यह मानव शरीर मिलेगा इसका किञ्चि-न्मात्र भी निश्चय नहीं। इस हेतु इस क्षणिक सुख को छोड़ सदा स्थायी अक्षय ब्रह्मानन्द की ओर आ। मैं पुनः श्रुति से लेकर एक दृष्टान्त बतलाती हूं। जिससे संसार को अनित्यता तुझे प्रतीत होगी। और सम्भव है कि उसको सुनकर तू भी अमृता होगी।

प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी महाराज जनक जी के मुख्य आचार्य्य ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य थे। राजगुरु होने के कारण ऋषि के कितने धन और सम्पत्तियां थीं उस का अनुमान तू सहज में कर सकती है। जनक जी ने उन्हें समस्त सम्पत्तियां दे रक्खी थीं। एक समय राजा उस

ऋषि का उपदेश सुन उनने प्रसन्न हुए कि अपना सम्पूर्णराज्य ऋषि को देने के लिये तैयार होगये। ऋषि ने कहा कि राज्य से न हम और न आप अमृतको पा सकेंगे। जिससे अमृत पावें उसका उपाय सोचना चाहिये। उस ऋषि की मैत्रेयी भार्य्या थी। जब याज्ञवल्क्य संन्यास लेने के लिये तैयार हुए तब भार्य्या मैत्रेयी को बुला कर कहा कि तू अब सारी सम्पत्ति का भोग कर और इसे सम्भाल मैं आजसे परिव्राट् होना चाहता हूं। इसपर मैत्रेयी बोली कि भगवन्! यदि यह सम्पूर्ण पृथिवी समस्तवित्तों से पूर्णा होकर मुझे मिले तो क्या मैं उन वित्ता को दान पुण्य में दे और खर्च कर और उत्तम से उत्तम शुभ कर्म्मों में लगा व्यर्थ एक पैसा भी न फेंक जहां तक हो अपनी बुद्धि और शास्त्र के अनुसार यज्ञ में ही लगा कर और इस के अतिरिक्त स्वयं भी शास्त्रानुसार तप, पूजा पाठ और बड़े २ अनुष्ठान में आसक्ता होजाऊं तो क्या मैं इस जननमरण प्रवाह से छुटकारा पा अमृता होजाऊंगी? यह मुझे कृपया बतलावें। इस के उत्तर मे याज्ञवल्क्य बोले कि हे प्रिये! वित्त से जो २ कुछ कार्य्य और सम्भोग हो सकता है वही होगा। वित्त से अमृत की आशा नहीं। यह सुन पुनः मैत्रेयी बोली कि यदि वित्तद्वारा अमृत की आशा मैं नहीं कर सकती तो ऐसे वित्त से मुझे क्या प्रयोजन? जिस से मैं अमृता होऊं वैसा ही उपदेश मुझे आप दीजिये। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी की प्रशंसा कर उपदेश देने लगे।

अरे मैत्रेयी! पतिके कामके लिये पतिप्रियनहीं होता। किन्तु आत्मा के कामकेलिये पतिप्रिय होताहै। पत्नीके कामकेलिये पत्नी प्रिया नहीं होता किन्तु आत्मा के काम के लिये पत्नी प्रिया होती है। पुत्रों के काम के लिये पुत्र प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा के काम के लिये पुत्र प्रिय होते हैं। वित्त के काम के लिये वित्त प्रिय नहीं होता किन्तु आत्मा के काम के लिये वित्त प्रिय होता है। ब्राह्मण के काम के लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता किन्तु आत्माके कामके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है। क्षत्रिय के कामके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता किन्तु

आत्मा के काम के लिये क्षत्रिय प्रिय होता है। लोगों के काम के लिये लोक प्रिय नहीं होते। किन्तु आत्मा के काम के लिये लोक प्रिय होतेहैं। देवों के कामके लिये देव प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा के काम के लिये देव प्रिय होतेहैं। भूतों के काम के लिये भूत प्रिय नहीं होते किन्तु आत्मा के काम के लिये भूत प्रिय होतेहैं। सब के काम के लिये सर्वप्रिय नहीं होता किन्तु आत्मा के काम के लिये सर्वप्रिय होता है।

हे प्रिये! वही आत्मा द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है। इसी आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से यह सब कुछ विदित होता है। ब्राह्मण उसको अपने से पृथक् कर दे जो आत्मा से अन्यत्र ब्राह्मणत्व को देखता है। क्षत्रिय उस को अपनेसे पृथक् कर दे जो आत्मासे अन्यत्र क्षत्रियत्व को देखता है। सब लोग उसको अपने से पृथक् कर दें जो आत्मा से अन्यत्र लोकत्व को देखता है। सब देव उसको अपने से पृथक् कर दें जो आत्मा से अन्यत्र देवत्व को देखता है। सब उसको अपने से पृथक् कर दें जो आत्मासे अन्यत्र सबको देखताहै। यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, ये लोक, ये देव, ये भूत, यह सब आत्मा ही है।

हे पुत्री! इन उपर्युक्त द्विविध उपदेशोंसे याज्ञवल्क्य मैत्रेयीको यह दिखला रहे हैं कि यह जगत् इतना स्वार्थान्ध है कि दूसरों के लिये कुछ भी नहीं करता किन्तु अपने लिये ही यह सदा आसक्त रहता है। किन्तु यहां और भी परम सम्मोह की बात है कि अपनी कामनाओं की सिद्धि के लिये भी बहुत कुछ थोड़ा करता है। तू देख थोड़े से भोग विलास थोड़ीसी क्षुधा पिपासा की निवृत्ति थोड़ी सी मानमर्य्यादा और अतिक्षणिक थोड़े से राज्य के लिये कितनी उत्कण्ठा से कितने परिश्रम से कितने उच्चावचकर्मों से कितनी चोरी डकैती लम्पटता द्यूतादि व्यवहार और कितने असदाचरण से करते करवाते हैं। किन्तु हे सुमुखि पुत्रि! जो सम्भोग जो सुख और जो आनन्द कभी क्षय होने वाला नहीं। अनन्त २ प्रलयों में भी

जिसका नाश नहीं जिस आनन्द की एक मात्रा के तुल्य यह सम्पूर्ण विषयानन्द नहीं। यह त्रिलोकी नहीं, यह इन्द्रादि देवविभव नहीं। उस मोक्षानन्द के लिये कोई भी चेष्टा नहीं करता। जिसको पाकर सब ही आनन्द तुच्छ प्रतीत होते हैं। इस विषय को ऋषि स्वयं आगे कहेंगे।

द्वितीय उपदेश का भाव जितना ही सरल उतना ही कठिन काम है। तू यह तो देख इस महान् आत्मा से भिन्न वस्तु ही क्या है? प्रथम इस शरीर को ही देख। यदि सूर्य्य न हो तो तेरा उत्तमोत्तम नयन क्या कर सकता है। अन्धकार में तू क्यों नहीं देखती इस से प्रतीत होता है कि तेरा यथार्थ नयन भुवनभास्कर है, अपना नयन नहीं। वैसे ही यदि वायु न हो तो तेरी त्वचा स्पर्श बोध नहीं कर सकती और कान भी शब्द नहीं सुन सकते। पृथिवी न हो तो तेरी नासिकाएं व्यर्थ होजांय। जल न हो तो रसना को रस की प्रतीति कदापि न हो। यदि यह समष्टि जगत् न हो तो तेरा व्यष्टि शरीर कदापि बन नहीं सकता। अन्न से यह शरीर बनता है यह प्रत्यक्ष है। तो इस से क्या सिद्ध हुआ कि इस समष्टि जलजगत् का तू एक बुलबुला है। जैसे इस छत्रक का अस्तित्व इस गोमयके ऊपर निर्भर है। इन उद्भिज्जों का अस्तित्व भूमि पर निर्भर है। चतुर्विध शरीर इन ही भौम पदार्थों से उत्पन्न होकर इन्हीं में लीन होजाते हैं। समुद्र जल से नाना जीवशरीर बनर कर उसी जल में सड़ते गलते पचते रहते हैं। वैसा ही इन पांच भूतों की विद्यमानता में ही यह समस्त सृष्टि बनती और बिगड़ती रहती है। तो यह सिद्ध हुआ कि इन ही पांच भूतों के दृश्यादृश्य सब ही कार्य्य हैं, और ये ही इन सब प्राणियों का आधार और जीवन हैं। अब आगे मैं दिखाती हूं कि इन पांच भूतोंका आधार और जीवन कौन है? निःसन्देह सबका जीवन यह महान् आत्मा ही है। जैसे सूर्य्य बिना हमारा नयन बन ही नहीं सकता वैसे ही उस परमात्मा बिना ये पञ्चभूत कदापि बन नहीं सकते। उस ब्रह्म के अस्तित्व पर ही ये पञ्चभूत स्थित हैं। अब तू

समझ गई होगी कि इस महान् आत्मा से भिन्न वस्तु ही कौन है। इसी हेतु श्रुति कहती है कि आत्मा से अन्यत्र ब्राह्मणत्वादि मत देख। जो कुछ है यह सब आत्मा ही है। इसी में अथवा एतत् स्वरूप ही इस लोक वेद व्यवहार और जो कुछ भूत भविष्यत् वर्त्तमान में है और होगा, देख। सब ही तुझ से और ऐसे देखने वाले प्रत्येक प्राणी से आनन्दस्रोत प्रवाहित होगा। पुनः आगे याज्ञवल्क्य अपनी प्रिया मैत्रेयी से क्या कहते हैं-इस पर ध्यान दे।

हन्यमान दुन्दुभि के निकले हुए शब्दों को कोई पकड़ना चाहे तो यह असम्भव है। किन्तु दुन्दुभि न बजाया जाय तो उस के शब्द उसी में रहेंगे। इसी प्रकार शङ्ख या वीणा के निःसृत शब्दों को कोई पकड़ नहीं सकता। किन्तु उन का बजाना ही बन्द कर दिया जाय तो सब शब्द उन में ही भरे रहेंगे। जैसे गीली समिधाओं से अथवा इंधनों से मिश्रित अग्नि से धूप पृथक् होकर निकलते हैं। अरे मैत्रेयी! वैसे ही इस महान् भूतात्मा का यह सब निःश्वसित है। जो यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यान ये सब इसी परमात्मा के निःश्वसित हैं।

जैसे सब जलों का समुद्र एकायन (एक आश्रय) है। सब स्पर्शों का त्वचा एकायन है। सब रसों का जिह्वा एकायन है। सब गन्धों का नासिकाएं एकायन हैं। सब रूपों का चक्षु एकायन है। सब शब्दों का श्रोत्र एकायन है। सब सङ्कल्पों का मन एकायन है सब विद्याओं का हृदय एकायन है। सब कर्मों का हस्त एकायन है। सब वेदों का वाणी एकायन है। वैसे ही सम्पूर्ण जगत् का परमात्मा एकायन है।

जैसे सैन्धव का एक खण्ड जल में रख दिया जाय। तो जल में ही लीन हो जायगा। पुनः उस को जल से पृथक् करना कठिन हो जायगा। जहां २ से जल लेगी वहां २ लवणमय जल ही मिलेगा। वैसे ही अरे मैत्रेयी! यह महान् अनन्त अपार विज्ञानघन आत्मा है।

इन ही भूतों से उठ कर इन में ही नष्ट होता है मर कर इस की संज्ञा नहीं रहती। अरे मैत्रेयी! ऐसा मैं कहता हूं। याज्ञवल्क्य अन्तिम उपदेश देकर ज्योंही चुप हुए त्योंही मैत्रेयी निवेदन करने लगी कि हे भगवन्! यहां ही मुझ को आपने मोह में डाल दिया। आपने जो यह कहा कि "मर कर संज्ञा नहीं रहती" यह वाक्य मेरे मोहका कारण है। इस पर ऋषि ने उत्तर दिया अरे! मैं मोहवश यह नहीं कहता किन्तु विज्ञान के लिये इतना ही योग्य है। हे प्रिये! जहां द्वैत सा होता है वहां इतर २ को सूंघता। इतर २ को देखता। इतर इतर को सुनता। इतर २ से बोलता। इतर २ को मानता। इतर २ को जानता परन्तु जहां इस का सब आत्मा ही होता है वहां किस से किस को सूंघे। किस से किस को देखे। किस से किस को सुने। किस से किसके साथ बोले। किससे किसको माने किससे किस को जाने। जिस से यह सब कुछ जानता है उसको किस से जाने। विज्ञाता को किस से जाने। इति।

इस प्रकार अपने पति का उपदेश सुन मैत्रेयी, सब कुछ त्याग ब्रह्मध्यान में लीना हो ब्रह्मरूपा हुई। वैसा ही जो कोई इस तत्व को समझेगा वह भी वैसा ही होगा। हे पुत्री! इस संसार की तुच्छता और क्षणस्थायिता जान अपने स्वरूप को तू पहचान। थोड़े ही साधनों के पश्चात् "सोऽहम्" "अहम् ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्वमसि" इत्यादि महावाक्यों के तात्पर्य्यज्ञान से अमृतरूपा होगी।

श्रुति कहती है—

यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥

जहां से मन के साथ वचन लौट आते हैं। उस ब्रह्मानन्द को जानता हुआ योगी कभी भयभीत नहीं होता। पुनः श्रुति कहती है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् ॥
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।
एष ह्येवाऽऽनन्दयाति ॥

निश्चय वह रस है। रस को ही पाकर यह जीव आनन्दी होता है। कौन जीता कौन श्वास प्रश्वास लेता। यदि यह परमात्मा आनन्दमय न होता। यही सब प्राणियों को आनन्दित करता। पुनः—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथसोऽभयं गतोभवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति।

जब वह योगी इस अदृश्य चिन्मय अनिर्वचनीय निराश्रय सर्वाधार परमात्मा में अभयप्रतिष्ठा पाता है तब वह अभय होता है। जब वह योगी अपने और उपास्य देव में अन्तर करता है तब भी उसे भय होता है। पुनः—

भीषाऽस्मात् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।
भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावतिपञ्चमः॥

इस के डर से वायु चलता है। इसके डर से सूर्य उदित होता है इसी के डर से अग्नि, इन्द्र और, पञ्चममृत्यु दौड़ रहा है।

हे पुत्रि! इन श्रुतियों में दोतीन बातें विस्पष्टरूप से वर्णित हुई हैं। जैसे अंगूर, आम्र और कदलीफल परिपक्वावस्था में रसमय ही रहते हैं। तद्वत् वह ईश्वर भी रसमय है। अतः श्रुति कहती है—"रसोवैसः" वह रस है। जैसे विषयी विषय में और गृहस्थ पुत्रादिक में कृपण धनी धनमें राजा राज्य में भ्रमर मधु में और अन्यान्य जीव आहार विहार में रस प्राप्त करते हैं। वैसे ही जब योगी उस ब्रह्म के चिन्तन में ही रस लूटते हैं क्षणमात्र भी उस रसपान से

अलग नहीं होते । खान, पान, शयन, भ्रमण, प्रलपन, भाषण और लौकिक व्यवहार काल में भी तन्मय रहते हैं । तन्मय होजाते हैं । अपने को भूल जाते हैं । उपास्य को ही अपना रूप समझने लगते हैं । उस समय हे पुत्रो ! वास्तव में उपास्य उपासक में अभेदभान होता है और " सोऽहम् " " अहम् ब्रह्मास्मि " इत्यादि श्रुतिवाक्य अनायास उन के मुख से निकलते हैं उन्हें पुण्य कर्मों के फल भोगने का स्वर्गादि लोकों में हर्ष । अथवा पाप कर्मों से नरकादि वास की चिन्ता हर्ष विस्मय शोक मोह अशन पिपासा लौकिक वैदिक सर्वव्यवहार सर्वद्वन्द्व सर्वचेष्टाएं निवृत्त होजाती हैं । इसलिये श्रुति कहती है कि " सोऽभयम् गतो भवति " । वह अभय को प्राप्त होता है ।

हे पुत्री ! जिस के भय से सूर्य्य और मृत्यु भी डरते हैं । उस को क्योंकर भय हो । जहां द्वैत वहां भय । जहां अद्वैत वहां भय कहां ? यदि एक ही दरिद्री वास्तव में राजा बनजाय तो उसे पुनः दारिद्रय का भय कैसे । इस लिये श्रुति कहती है " तस्य भयम् भवति " । उस को भय होता है जो ब्रह्म से अन्तर करता है । हे पुत्रो ! इसके सब कर्म क्षीण होजाते हैं । श्रुति भी कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

उस परमात्माके दर्शन होने पर हृदयग्रन्थि टूट जातीहैं सर्वसंशय निवृत्त हो जाते हैं और सर्व कर्म भी क्षय को प्राप्त होते हैं । गीता भी कहती है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेतथा ।

जैसे प्रदीप्त अग्नि शुष्क इन्धनों को भस्म कर देता है । वैसे ही हे अर्जुन ! ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म कर देता है । यहां सर्व शब्द

से अशेष पुण्यों और पापों का ग्रहण है। हे पुत्रि! जिस के दर्शन मात्र से दूसरों का भी पापक्षय होता है। उस ब्रह्मीभूत पुरुष का पापक्षय होता है। यह कहना ही क्या है। भगवान् वसिष्ठ कहते हैं-

यस्यानुभवपर्यन्तं तत्त्वे बुद्धिः प्रवर्त्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥

जिसकी बुद्धि अनुभवपर्यन्त तत्व में स्थित रहती है उस के दर्शनमात्र से इतर जन सब पापों से छूट जाते हैं। इस ज्ञानी का कुल भी परमपवित्र हो जाता है। यथाः-

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था ।
विश्वम्भरा पुण्यवती च तेन ॥
अपारसंवित् सुखसागरेऽस्मिन् ।
लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

परमानन्द परब्रह्म में जिस का चित्त लीन होता है उस से कुल पवित्र होता है जननी कृतार्थ होती है। यह पृथिवी भी पुण्यवती होती है। उसके पश्चात् थोड़ी सी आनन्द मीमांसा दिखला कर इस प्रकरण को समाप्त करती हूं। वह यह है:-

साधुयुवा हो, सर्व शास्त्रों के तत्त्वों को जानता हो, अध्यापक भी हो, ज्ञानी नीरोग दृढ़हृष्ट पुष्ट बलिष्ठ निश्चिन्त श्रोत्री हो और उस की सम्पूर्ण पृथिवी सम्पूर्ण वित्तों से पूर्ण हो तब वह एक मानुष आनन्द कहाता है। जो ये शतमानुष आनन्द हैं, वह मनुष्य गन्धर्वों का एक आनन्द है। जो ये मनुष्यगन्धर्वों का शत आनन्द हैं वह देवगन्धर्वों का एक आनन्द है। देवगन्धर्वों का जो ये शत आनन्द हैं वह पितरों का एक आनन्द है। पितरों के जो ये शत आनन्द हैं वह अजानदेवों का एक आनन्द है। अजान देवोंके जो ये शत आनन्द हैं वह कर्मदेवों का एक आनन्द है। कर्मदेवों क

जो ये शत आनन्द हैं वह देवों का एक आनन्द है । देवों के जो ये शत आनन्दहैं वह इन्द्र का एक आनन्दहै । इन्द्रकेजो येशतआनन्द हैं वह बृहस्पति का एक आनन्दहै ।बृहस्पतिके जो ये शतआनन्दहैं। वह प्रजापति का एक आनन्द है । प्रजापति के जो ये शत आनन्द हैं वह ब्रह्म का एक आनन्द है ।

हे पुत्री ! इस से ब्रह्म के आनन्दकी सीमा मत समझ वह असीम है और उसका आनन्द भी असीम है । यहां प्ररोचनार्थ जीवों की प्रवृत्ति के लिये आनन्द की मीमांसा कही है । परन्तु वह आनन्द-स्वरूप ही है । वह आनन्द का महासागरहै । जैसे जलके अतिरिक्त समुद्र कुछ पदार्थ नहीं । ताप से भिन्न कुछ अग्नि वस्तु नहीं । ताप और प्रकाश के अतिरिक्त सूर्य्य कोई पदार्थ नहीं । वृक्षसमूह को त्याग वन शब्द ही व्यर्थ है तद्वत् आनन्द के व्यतिरिक्त ब्रह्म कोई वस्तु नहीं । आनन्दस्वरूप ही वह है । आनन्दमय उसका नाम ही है । उस आनन्द की उपासना कर ।कुछ दिन में तुझे अध्यास का बोध होने लगेगा और उस अध्यास के विगलित होने से तू अपने स्वरूप में स्थिता हो जायगी । वास्तव में जननमरण, सुखदुःख, हर्ष-विस्मय इत्यादि द्वन्द्वों का जो तू अनुभव कर रही है वह सर्वथा मिथ्या है । श्रुति कहती है:-

नविरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥
निर्विकल्पमनन्तञ्च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ॥
अप्रमेयमनादिञ्च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥

न विरोध न उत्पत्ति न बद्ध न साधक न मुमुक्षु और न मुक्त

कोई है। यही परमार्थ विद्या है। जो निष्कल, निर्विकल्प, निरञ्जन ब्रह्म है वही ब्रह्म मैं हूं। यह जान कर ध्रुव ब्रह्म को प्राप्त होता है। निर्विकल्प अनन्त हेतुदृष्टान्तवर्जित अप्रमेय और अनादि जो ब्रह्म उसे जान सुख दुःखों से छूटना है। इस हेतु सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त पूर्ण आनन्दमय और मन्त्रवर्णित आत्मा को जान विमुक्त होता है।

इतिश्री रूपकुमारीकृते वेदान्तपुष्पाञ्जलौ
प्रमाणविवेकानन्द विवेकनिरू-
पणगुच्छः समाप्तः।



स्वप्नविवेक

राजकुमारी-श्रीमती ! जो स्वप्न के दृष्टान्त से जागरण पदार्थों को मिथ्या कहना उचित नहीं । क्योंकि जागरणावस्था में अनुभूत पदार्थों की स्वप्न में स्मृति होती है अतः स्मृतिज्ञान के विषय जागरण के पदार्थ सत्य होने से उन का स्वप्न में स्मृतिरूप ज्ञानभी सत्य ही है । यह मुझे प्रतीत होता है ।

रूपकुमारी-यहां यह रहस्य तू जान । पूर्वकाल सम्बन्धी पदार्थ का ज्ञान स्मृति होती है । जैसे पूर्व-दृष्ट हस्ती की " यह हस्ती " ऐसी स्मृति होती है । और " यह हस्ती संमुखस्थित है " ऐसाज्ञान स्मृति नहीं किन्तु प्रत्यक्ष है और स्वप्न में तो " यह हस्ती आगे स्थित है यह पर्वत है यह नदी है " ऐसा ज्ञान होता है । अतः जागरण में देखे पदार्थों की स्वप्न में स्मृति नहीं । किन्तु हस्त्यादि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । यदि कहें कि जागरण में अनुभूत पदार्थ का जो संस्कार उसी के बल से स्वप्न में समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं । संस्कारजन्य ज्ञान ही स्मृति कहाती है । अतः स्वप्न का ज्ञान स्मृति रूप है । यह शंका ठीक नहीं ।

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है १-अभिज्ञारूप प्रत्यक्ष २-प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष । केवल इन्द्रिय सम्बन्ध से जो ज्ञान वह अभिज्ञारूपप्रत्यक्ष कहलाता है जैसे नेत्र के सम्बन्ध से " यह हस्ती है " ऐसा ज्ञान अभिज्ञा प्रत्यक्ष है और पूर्वज्ञानके संस्कार से और इन्द्रियसम्बन्ध से जो ज्ञान होताहै वह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष है । जैसे पूर्वदृष्ट हस्ती का " वह हस्ती यह है " यह प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष है । यहां पूर्व हस्तीके ज्ञान का संस्कार और हस्ती से नेत्र का सम्बन्ध दोनों प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष के हेतु हैं । अतः " संस्कारजन्य ज्ञान स्मृतिरूप ही होता है " यह नियम नहीं । किन्तु प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष भी संस्कारजन्यज्ञान होता है। परन्तु इन्द्रिय सम्बन्ध बिना जो केवल संस्कारजन्य ज्ञान है वह स्मृति ज्ञान है । स्वप्न में हस्ती आदि का ज्ञान केवल संस्कारजन्य

नहीं। किन्तु निद्रारूप दोषजन्य है और हस्ती आदि के समान स्वप्न में कल्पित इन्द्रिय भी हैं अतः इन्द्रियजन्य है। इस रीति से स्वप्न का ज्ञान जागरण के पदार्थ की स्मृति नहीं और निद्रा से जाग कर पुरुष ऐसा कहता है कि "मैं ने स्वप्न में हस्ती आदि को देखा" यदि हस्ती आदि की स्वप्न में स्मृति हो तो जागकर पुरुष ऐसा कहे कि "मैंने स्वप्न में हस्ती आदि का स्मरण किया" ऐसा कोई नहीं कहता। अतः जागरण के पदार्थ की स्वप्न में स्मृति नहीं और "जागरण में जो देखे सुने पदार्थ हैं उनका ही स्वप्न में ज्ञान होता है" यह भी नियम नहीं। किन्तु जागरण में अज्ञात पदार्थ का भी स्वप्न में ज्ञान होता है। कदाचित् स्वप्न में ऐसे विलक्षण पदार्थ प्रतीत होते हैं जो सम्पूर्ण जन्म में कभी देखे सुने नहीं गये। उनका ज्ञान स्मृति नहीं।

यद्यपि अन्यजन्म के ज्ञान के संस्कार से भी स्मृति होती है। तथापि स्वप्न में कोई पदार्थ ऐसे प्रतीत होते हैं जिनका जागरण में किसी जन्म में ज्ञान संभव नहीं। जैसे अपने मस्तकछेदन को आप स्वयं नेत्र से स्वप्न में देखता है। वहां अपना मस्तकछेदन नेत्र से जागरण में कदापि किसी ने नहीं देखा। अतः जागरण पदार्थ के ज्ञान के संस्कार से स्वप्न में स्मृति नहीं। ऐसे स्वप्नको स्मृतिरूप खण्डन में अनेक युक्तियां ग्रन्थकारों ने कहे हैं। परन्तु स्वप्न को स्मृति मानने में पूर्वोक्त दूषण अतिप्रबल है।

जागरण स्वप्न की तुल्यता

जागरण के समान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय यह त्रिपुटी स्वप्न में प्रतीत होती है। अतः कण्ठ की नाड़ी के अन्तर ही सब कुछ उत्पन्न होता है। उपनिषद् में यह वर्णन है जागरण के पदार्थ स्वप्न में नहीं प्रतीत होते किन्तु रथ और घोड़े तथा मार्ग तथा रथ में बैठने वाले इत्यादि स्वप्न में नवीन उत्पन्न होते हैं। अतः पर्वत, समुद्र, नदी, वन, ग्राम, पुरी, सूर्य, चन्द्र इत्यादि जो कुछ स्वप्न में देखते हैं वह

नवीन उत्पन्न होते हैं। यदि स्वप्न में पर्वतादिक न हों तो उन का स्वप्न में प्रत्यक्षज्ञान भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि विषय से इन्द्रिय का सम्बन्ध अथवा अन्तःकरण की वृत्ति का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है। अतः पर्वतादिक विषय और उनके ज्ञानके साधन इन्द्रिय तथा अन्तःकरण समस्त अन्तर में उत्पन्न होते हैं।

शङ्का–स्वप्न के जो पदार्थ प्रतीत होते हैं उन की उत्पत्ति यदि अङ्गीकार करें तो जैसे स्वप्नदृष्टान्त से जागरण के पदार्थ के समान उत्पत्ति वाले होने से स्वप्न के पदार्थ भी सत्य होने चाहियें और स्वप्न के प्रति पदार्थ की उत्पत्ति न मानें तो यह दोष नहीं। क्योंकि जागरण के पदार्थ उत्पन्न हुए प्रतीत होतेहैं और स्वप्नमें पदार्थ विना उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं अतः स्वप्न में विना हुए पदार्थ का ज्ञान भ्रममात्र है। इन की उत्पत्ति माननी योग्य नहीं।

समाधान–जिस वस्तुकी उत्पत्तिमें जितनी देशकालादि सामग्री कारणहैउतनीसामग्री बिना जो उपजे वह मिथ्या है और स्वप्नके हस्ती आदिकीउत्पत्तिके योग्य देश काल नहीं।बहुत कालमें और बहुत देशमें उपजने योग्य हस्ती आदिक क्षणमात्र काल में सूक्ष्म कण्ठदेश में उपजते हैं। अतः मिथ्या है। यद्यपि स्वप्नावस्था में देश काल भी अधिक प्रतीत होते हैं तथापि अन्यपदार्थ के समान स्वप्नमें अधिक काल और अधिक देश भी अनिर्वचनीय प्रातिभासिक उत्पन्न होते हैं क्योंकि विषय बिना प्रत्यक्षज्ञान होता नहीं और स्वप्न में अधिक देश काल का ज्ञान होता है। व्यवहारिक देश काल न्यून हैं। अतः प्रातिभासिक उत्पन्न होता है। परन्तु स्वप्नावस्था में उत्पन्न जो प्रातिभासिक देश काल वह स्वप्नावस्था के हस्ती आदि के कारण नहीं। किन्तु निद्रा सहित अविद्या से स्वप्न के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। वही अविद्या कारण है। जो दोष सहित अविद्या से जन्म होता है। वह शुक्तिरजतवत् मिथ्या है। इस रीतिसे अविद्याका परिणाम और चेतन का विवर्त्त स्वप्न है।

त्रिविधसत्ताएं

यहां शङ्का होती है कि जिस पक्ष में ब्रह्म चेतन स्वप्नका अधिष्ठान है और अविद्या उपादान कारण है वहां अधिष्ठान ज्ञान से कल्पित की निवृत्ति होती है। और स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म है। अतः ब्रह्मज्ञान विना अज्ञानी को जागरण में स्वप्न की निवृत्ति नहीं होनी चाहिये। और भी-जैसे स्वप्न का अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान कारण अविद्या है जैसे वेदान्त सिद्धान्त में जागरण के व्यावहारिक पदार्थों का भी अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान अविद्या है। अतः जागरण पदार्थों को व्यावहारिक और स्वप्न को प्रातिभासिक कहना ठीक नहीं।

समाधान-निवृत्ति दो प्रकार की होती है कारण सहित कार्य्य का विनाशरूप अत्यन्त निवृत्ति तो स्वप्न की जागरण में ब्रह्मज्ञान विना नहीं होती। परन्तु दण्ड के प्रहार से जैसे घट का मृत्तिका में लय होता है। वैसे स्वप्नका हेतु जो निद्रा दोष उसके नाशसे अथवा स्वप्न के विरोधी जागरण की उत्पत्तिसे अविद्या में लयरूप निवृत्ति स्वप्न की ब्रह्मज्ञान विना सम्भव है।

द्वितीय शङ्का का समाधान यह है। जागरणके देहादिक पदार्थों की उत्पत्ति में तो अन्य दोष रहित केवल अनादि अविद्या ही उपादान कारण है और स्वप्नके पदार्थों में सादि निद्रा दोष भी अविद्या का सहायक है। अतः अन्य दोष रहित केवल अविद्याजन्य व्यावहारिक है। और सादि दोष सहित अविद्याजन्य प्रातिभासिक है। इस रीति से स्वप्न के पदार्थों में जागरण पदार्थों से विलक्षणता है।

यद्यपि वेदान्त परिभाषादिक ग्रन्थों में पूर्वप्रकारसे व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों का भेद कहा है। अतः तीन सत्ताएं मानी हैं। विद्यारण्यस्वामी ने तीन सत्ताओं का प्रसंग इस प्रकार लिखा है:-दो प्रकार के देहादिक पदार्थ हैं:-१-ईश्वररचित वह बाह्य है २-जीव के सङ्कल्परचित वह मनोमय और अन्तर है। इन दोनों में

अन्तर मनोमय साक्षी भास्य हैं और ईश्वररचित बाह्य है। यह प्रमाताप्रमाण के विषय हैं। अन्तर मनोमय देहादिक हो जीव के सुख दुःखके हेतु हैं। ईश्वररचित पदार्थ सुख दुःखके हेतु नहीं। अतः मनोमय पदार्थों की निवृत्ति मुमुक्षु को अपेक्षित है अन्य की नहीं। यहां उदाहरण यह हैः—किन्ही दो पुरुषोंके दो पुत्र विदेशमें गये। उन में एक कापुत्र मरगया दूसरे का जीतारहा। और जीवित पुत्रने बहुत धनधान्य प्राप्तकर किसीके पुत्रद्वारा अपने पिताको अपनी विभूतिका और दूसरे को पुत्र के मरण का समाचार भेजा। वहां समाचार देने वाला दुष्ट था। अतः जीते पुत्र के पिता को कहा कि तेरा पुत्र मर गया और मरे पुत्र के पिता को कहा कि तेरे पुत्र का शरीर नीरोग है और बहुत धन कमाया है। थोड़े ही दिनों में बड़े समा- [illegible] आवेगा। उस वञ्चक का वचन सुन जीवत्पुत्र का [illegible] और अत्यन्त शोक करने लगा। इस रीति से देशान्तर- [illegible] रचित पुत्र यद्यपि जीता है तौ भी मनोमय पुत्र के मरण [illegible] खित हुआ। दूसरे का ईश्वररचित पुत्र मरगया। उसको [illegible] हुआ। क्योंकि मनोमय पुत्र जीता है और सुखी होने [illegible] ः जीव सृष्टि ही सुख दुःख का हेतु है ईश्वर सृष्टि नहीं। [illegible] ति से विद्यारण्य स्वामी ने जीवसृष्टि और ईश्वरसृष्टि दो [illegible] र की कही है। वहां जीवसृष्टि प्रातिभासिक और ईश्वरसृष्टि [illegible] व्यावहारिक है। इसीप्रकार अन्यग्रन्थों में भी तीन प्रकार की सत्ताएं कही गईहैं। चेतनकी परमार्थ सत्ता और चेतन से भिन्न जड़ पदार्थों की व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ता है। कोई कहते हैं कि सकल अनात्मपदार्थ की एक ही प्रातिभासिकसत्ता है। अतः दो प्रकार की ही सत्ताए हैं। चेतन की परमार्थ सत्ता और चेतन से भिन्न सकल अनात्मपदार्थ की प्रातिभासिक सत्ता है। जागरण और स्वप्न के पदार्थों में किञ्चित्मात्र भी विलक्षणता नहीं। इस में ये हेतु हैंः—

जैसे देशकाल सामग्री विना स्वप्नके गजादिक पदार्थ उपजते हैं। अतः वे मिथ्या हैं। वैसे ही आकाशादिक प्रपञ्च की मृषा से उत्पत्ति

होती है। उस ब्रह्म में देश काल का लेश भी नहीं। स्वप्न मे गजादि पदार्थ के योग्य यद्यपि देश काल नहीं तथापि अल्प देश काल है। किन्तु आकाशादिक की सृष्टि में अल्प देशकाल भी नहीं। क्योंकि देशकाल रहित परमात्मा से आकाशादिक की उत्पत्ति कही गई है। इस कारण तैत्तिरीय श्रुति में आकाशादि की क्रम से सृष्टि कही है। देश काल की सृष्टि नहीं। यहा तैत्तिरीय श्रुति का और सूत्रकार भाष्यकार का भी यही अभिप्राय है। आकाशादिक प्रपञ्च की उत्पत्ति देशकाल सामग्री विना होती है। अतः आकाशादिक स्वप्नवत् मिथ्या हैं।

राजकुमारी—यह तो मुझे श्रीमती जी के कथन से ज्ञात हुआ कि स्वप्नवत् आकाशादिक सृष्टि मिथ्या है और जैसे स्वप्न में नाना सृष्टियां होती रहती हैं। वैसे ही यह वाह्य जगत् किसी व्यक्ति के स्वप्न में उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है। निःसन्देह वह व्यक्ति ब्रह्म है तो क्या ब्रह्म में ही यह सब स्वप्न हो रहा है। इस को पहले मुझे समझाइये, तब पुनः शङ्का अवशिष्ट रह जायगी, तो पुछूंगी। क्योंकि उत्तरोत्तर, शङ्का और समाधान के श्रवण से मुझे ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है।

रूपकुमारी—सम्पूर्ण जगत् किस के स्वप्न में हो रहा है इस में अपना अनुभव न कुछ कहकर सिद्धान्तमुक्तावलीरचयिता, आचार्य्य, ब्रह्मज्ञानी श्रीप्रकाशानन्दकी सम्मति सुनाती हूं। सावधान होकर सुन—वस्तुतः एक ही नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव उपनिषन्मात्रगम्य, अनन्त अनादि परमात्मा है। वही अज्ञान के आश्रित हो जीवभाव को पा देव, तिर्यक, और मनुष्यादि देहों को कल्पित कर उनके उपकरण के लिये ब्रह्माण्डादि चतुर्दशभुव बना उन २ देहोंमें कोई देव कोई मनुष्य कोई हिरण्यगर्भ कोई सर्वस्रष्टाब्रह्मा, पालकविष्णु, संहारकर्त्ता रुद्र इत्यादि २ नाना कल्पना करता है। उन के उपाधि सत्व रज तम ये तीन गुण हैं। इस कारण ब्रह्मा विष्णु महेश में सर्वसामर्थ्य होता है। वही ब्रह्म में कोई ब्राह्मणकुमार हूं उन की भक्ति और पूजा

नमस्कारादि के अनुष्ठान से और श्रवणादिक साधन से मोक्ष सिद्ध करूंगा। इस प्रकार ईश्वर भी जागरण में भ्रान्त होता है।

पुनः जागरणप्रपञ्च को समेटकर स्वप्नमें निद्रादोष से दूषित वैसे ही प्रपञ्च को बना उस २ देहों और इन्द्रियों के योग्य भोगों को भोग वसिष्ठआदि मुक्त हुए, अन्यबद्ध हैं। मैं भी कोई बद्धदुःखी संसारी जीव ब्रह्मज्ञान से मुक्त होऊंगा। इस प्रकार कल्पना कर पुनः उस अवस्था का उपसंहार कर सर्वभ्रमनिवृत्ति रूपा सुषुप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार एक ही परिपूर्ण स्वयम् प्रकाशानन्दैकस्वभाव वह आत्मा अपने अज्ञानवश जीव और संसारी इत्यादि शब्द वाला होता है। इस के अतिरिक्त कोई संसारी नहीं। उसी अज्ञानवश आत्मा को जब कोई उत्तम आचार्य मिलते और उससे ज्ञानोपदेश सुनता पापों से निवृत्त हो धर्म्मनिष्ठ होता है। वैराग्य और तपस्यादि सत्कर्म में उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता जाताहै। सज्जनोंके साथ सङ्ग दुष्ट पुरुषों के संसर्गका भी त्याग और तत्वमस्यादिवाक्यों का निरन्तर अभ्यास करता है तब आत्मसाक्षात्कार उदित होता है। तब वही आत्मा अज्ञान और उसके कार्य्यों का उपसंहार कर स्वानन्दतृप्त अपने महिमा में स्थित हो 'मैं मुक्त हूं' इस परमार्थ का द्रष्टा होता है। इस अवस्था में इस से भिन्न कोई संसारी नहीं। जो द्वैत को देखे।

इस से क्या सिद्ध होता है कि यह सारा जगत् ईश्वर में ही कल्पित है और वही मानो स्वप्न भी देख रहा है। ऐन्द्रजालिक लीलावत् सब मिथ्या है।

राजकुमारी—यह श्रीमती का कथन ठीक है। परन्तु पुनः मेरे हृदयमें एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, वह यह है क्या मनुष्य ही स्वप्न देखते हैं या अन्यान्यजीव भी? यदि मनुष्येतर जीव स्वप्न नहीं देखते तो इसका क्या कारण? और मनुष्य ही तब क्योंकर स्वप्न देखते हैं।

रूपकुमारी—यद्यपि इस के निश्चय करने की आवश्यकता नहीं तथापि तेरे प्रश्नका संक्षेप उत्तर इस प्रकार है। सब ही प्राणी स्वप्न देखते हैं। क्योंकि प्रायः मनुष्य के समान ही इतर जन्तुओं में भी

धर्म पाये जाते हैं। क्योंकि आहार, निद्रा, भय और स्मरण इत्यादि सब धर्म तुल्य हैं। वैज्ञानिकों ने यहां तक सिद्ध किया है कि कुत्ता प्रभृति दो चार वर्षों के पश्चात् भी अपने वियुक्त स्वामी को पहचानता है। यह प्रसिद्ध है कि बहुत से पक्षी एक देशको त्याग दूसरे देश चले आते हैं। नियमपूर्वक वे वैसा करते हैं। उन्हें किस ऋतु में कहां उपयुक्त आहार मिलेगा, यह मालूम रहता है। इत्यादि विचार से प्रतीत होता है कि पश्वादि जन्तु भी स्वप्न देखते होंगे। जो कुछ हो, मैं तो यह कहती हूं कि मनुष्य स्वप्न देखता है और यह मिथ्या। इस को सब कोई जानते हैं। इस हेतु इस पर अधिक न विचार कर आगे आत्मविभूति देख।

जगद्वैलक्षण्य और उसका समन्वय

यह सम्पूर्ण जगत् विलक्षण है इस को अतिपामर जन भी जानते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष वस्तु के लिये किसी शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती इसके लिये गुरु के निकट अध्ययन कोई नहीं करता। सर्प के काटने से मनुष्य का प्राणान्त होता है। किन्तु तत्समान ही अन्य पिपीलिका के दंशन से कुछ नहीं होता। एक अन्न जितना मधुर है उतना दूसरा नहीं। जितना दूध गौ और भैंस दे सकती है उतना मृगी नहीं। कहीं शीतलता है तो दूसरी जगह अत्युष्णता है। कहां तक मैं वर्णन करूं मुझे यहां मनुष्य की विलक्षता दिखलाना ही अभीष्ट है। इसी जाति के कल्याण के लिये समस्त वेदों और शास्त्रों की प्रवृत्ति है। विधि अथवा निषेध, लज्जा अथवा मान,मर्यादा और प्रतिष्ठा मुक्ति और बन्धन इस के लिये ही है। इस लिये इस जाति का जिस प्रकार उद्धार हो वैसा करना उचित है। अतः इस में जो बड़ी विलक्षणता है संक्षेप से उसे दिखलाती हूं।

देव और असुर में महती विलक्षणता है। इस के बहुत उदाहरण शास्त्रों में हैं। किन्तु इन दोनों के वर्णन के पूर्व यह कह देना उचित समझती हूं कि कदाचित् तू देव शब्द से सूर्य्य, चन्द्र

अग्नि, वायु, इन्द्र न समझले और असुर शब्द से हिरण्य कशिपु, बलि, वृत्र, नमुचि, इत्यादि का ग्रहण न करले। परन्तु मेरा अभिप्राय केवल मनुष्य जाति से है। अनुकूल वेदविहित ज्ञानिविज्ञानि सम्मत विज्ञानानुकूल प्रकृत्यनुकूल स्वार्थ और परार्थ के तत्ववित् परद्रोहादि से निवृत्त सात्विक भद्र पुरुषों को देव और तद्विपरीतों को असुर मैं कहती हूं। इस परिभाषा के अनुसार मनुष्यों में कैसी विलक्षणता है तू विचार। वैदिकज्ञान बिना किसी वस्तु का निश्चय करना यद्यपि अतिकठिन है तथापि व्यवहार के लिये बहुत सी व्यवस्थाएं भी नियमितरूप से और कार्य्य में परिणत इस में देखती हैं। प्रथम हिंसा को तू पाप जान। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं। किन्तु इससे कितने मनुष्य निवृत्त हैं। इस पृथिवी के आज कल के भूगोल के अनुसार पण्डितगण पांच सात विभाग करते हैं। मुख्य विभाग ये हैं-एशिया, यूरोप, अफ्रिका और चतुर्थ अमेरिका। धर्म भी मुख्य ये हैं-वैदिक, क्रिस्तानी, इसलामी और बौद्ध। अब मैं जगत् से पूछती हूं कि हिंसा को त्याज्य कहने वाले भी अहिंसक कितने हैं। यूरोपवासी प्रायः सब ही जन्तुओं को खाते हैं। हां, अपनी मनुष्य जाति के ऊपर उनकी दया है। किन्तु इन्हें रोटी और साकके समान न खाकर इनकी क्या २ दुर्दशा करतेहैं यह ऐतिहासिक पुरुषों से पूछो या इतिहासों में पढ कर देखो। इसी प्रकार मुसलमान, बौद्ध, पारसी आदिक भी मांसभक्षी हैं। अब वैदिक धर्मावलम्बी केवल इस भारतवर्ष में हैं, उनकी दशा देखो। एक जैनधर्मावलम्बी और कुछ वैष्णव अमांसभक्षी हैं। ब्राह्मण से लेकर चर्मकारपर्य्यन्त हिन्दू हिंसक हैं। मछलियां उनके लिये शाक चटनी हैं। हजारों मन नहीं २ लाखों मन गंगा से, और अन्यान्य नदियों से मत्स्य पकड़े और मारे जाते हैं। इन के खाने वाले हम ही भारतवासी हैं। हे पुत्री! लाखो मत्स्य, लाखों पक्षी, लाखों पशु प्रतिदिन भारतवर्ष में ही मारे जाते हैं और अन्यान्य महाद्वीपों में कितने मारे जाते हैं उनकी गणना कौन कर सकताहै।

इस प्रकार देखने और हिसाब लगा ने से शत संख्या में एक भी अहिंसाव्रती सिद्ध न होगा। यह भी लोग सिद्ध करते हैं कि जैसा आत्मा मनुष्यशरीर में है वैसा ही इतर प्राणियों में भी। अब इतने वर्णनके पश्चात् विलक्षणताकी ओर आ। एक भी यदि अवैधहिंसा अर्थात् कानूनविरुद्ध मनुष्य हत्या हो जाती है तो कितनी आपत्ति राजा की ओर से उस घातक पुरुष के ऊपर आती है। किन्तु वही मनुष्य घातक लाखों मत्स्यों और पशुयोंको मार दे तो वह न समाज में घातक, अपराधी, अथवा पातकी अथवा अधर्मी अथवा निन्द्य माना जाताहै। इस से क्या सिद्ध हुआ। अथवा क्या निर्णय होगा। हिंसापाप है अथवा कुछ नही। यदि हिंसा पाप है तो हिंसा के पाप कहने वाला इस संसार से कहीं दूसरी जगह चला जाय। अथवा मनुष्यमात्र से उस को घृणा होनी चाहिये। क्योंकि शत संख्या में एक आध ही अहिंसक सिद्ध होता है।

हे पुत्री! यह कितने आश्चर्य की बात है कि एक मनुष्य की हत्यापर इतना कोलाहल और दूसरी ओर सहस्र जीवों की हत्या पर भी मौनावलम्बन! इतना ही नहीं किन्तु पृथिवी पर के समस्त धर्मपुस्तकों में बलिदान का विधान है। प्राचीन काल से अब तक सैंकडेपीछे निनानवे आदमी इसबलिदानको उचित ईश्वरोपदिष्ट सत्पुरुषों से अनुष्ठित और अनुमोदित समझते आए हैं। आजकल काली के ऊपर और भगवती के नाम पर कितने बकरे चढ़ाए जाते हैं। आश्विन मास की दुर्गा पूजा में इस दृश्य का भयङ्कर नाटक खेला जाता है। स्थान २ में भैंसे भी बलि दिये जाते हैं। आधुनिक श्रौत पुस्तकोंमेंविचित्र २वधसे पशुयोंके मारनेकी विधीलिखीहुईहै। "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" यह एक प्रकार का न्याय होगया है। परोपयोगी गौवें और बैलों को भी हमारे मुहम्मदीय भाई बलिदान देते हैं। इन बलिदानों को लेके कर बायबिल के जिहोवा आदि देवता, कुरान के अल्लाह, तन्त्र की दुर्गा आदि देवियां और अन्यान्यदेवगण बडे प्रसन्न होते हैं। लोगों की ऐसी ही धारणाहै। अ

दूसरी ओर देख मनुष्य का बलिदान देवता नहीं लेते प्रत्युत् हठात् यदि कोई मनुष्य बलिदान दे तो देवता असन्तुष्ट होते हैं। बायबिल के उत्पत्तिके २० वें अध्याय में लिखाहै कि जब इब्राहीमका पुत्र इसहाक उत्पन्न हुआ तब वह १०० एक सौ वर्ष का था। वह अपने पुत्र को बलिदान देना चाहता था। किन्तु इब्राहीम ने छुरी लेने को ज्योंही हाथ बढ़ाया कि अपने पुत्र को बलि करे त्योंही जिहोवाके दूत ने स्वर्ग से उसको पुकार के कहा कि हे इब्राहीम!, उस ने कहा क्या आज्ञा? दूत ने कहा इस लड़के पर हाथ मत बढ़ा और न उस से कुछ कर क्योंकि तूने जो मुझ से अपने पुत्र बल्कि एकलौते पुत्र को भी नहीं रख छोड़ा इस से अब मैं जान गया कि तू परमेश्वर का भय मानता है। यह सुन के इब्राहीम ने आंखें उठाईं और क्या देखा कि मेरे पीछे एक मेंढ़ा अपने सींगों से एक झाड़ी में उलझा हुआ है सो इब्राहीम ने जाके उस मेंढ़े को लिया और अपने पुत्र सन्ती होमबलि करके चढ़ाया। इत्यादि बाइबिल की कथा है। कुरान के ३७ वें अध्याय में कुछ परिवर्त्तन के साथ इब्राहीम और इसहाक के बलिदान का वर्णन है। वैसे ही ऐतरेय ब्राह्मण में कथा आई है कि हरिश्चन्द्र अपने पुत्रके स्थान में शुनःशेप को बलि देना चाहते थे। जिस के सम्बन्ध में मनु जी लिखते हैं:—

अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन्॥

अजीगर्त्त अपने लड़के को मारने के लिये आगे बढ़ा तौ भी वह पाप से लिप्त न हुआ।

इस कथा का वर्णन यों है कि राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र नहीं होता था। नारदादिक कतिपय ऋषियों ने कहा कि यदि आप वरुण देवता की आराधना करें तो पुत्र आपके अवश्य होगा। राजा ने वरुण की आराधना की। किन्तु प्रसन्न होकर वरुण ने कहा कि यदि तू उसी पुत्र से मेरी पूजा करे तो तुझे पुत्र दूंगा। अन्ततो गत्वा राजा के

पुत्र हुआ। वह जब यौवनावस्था में प्राप्त हुआ तो अपने स्थान में एक ब्राह्मण पुत्र को खरीदकर लाया और पिता हरिश्चन्द्र से कहा कि वरुण देवता के ऊपर इसी का बलिदान चढ़ाइये। इस के पिता अजीगर्त्त को साथ इस लिये ले आये हैं कि यही अपने पुत्र का हनन भी करेगा। इत्यादि

हे पुत्री! देख मनुष्य का कितना अविवेक और अन्याय है। विद्वानों ने स्थिर कियाहै कि सकल प्राणी समान हैं और भगवान् ने ही उनको भी बनाया है। जिस प्राकृत नियम से मानव सृष्टि हुई है उसी नियम के आधीन कीटाणु की भी उत्पत्ति हुई है। मनुष्य सृष्टि में कोई भी विचित्रता नहीं। अथवा मानलें कि इनमें विचित्रता हो तौ भी क्या? देवगण क्योंकर पशु बलिदान से प्रसन्न हों और मनुष्य बलिदान से रुष्ट। हे पुत्री! ये सब केवल कल्पित बातें हैं। न कोई चेतन देव बुभुक्षित हैं और न देवियां, किन्तु मनुष्य की बुद्धि का यह एक विकाशमात्र है। पक्षपात है। अन्याय और मूर्खता है। जलचर, पृथिवीचर नभश्चर प्राणियों को खाकर भी मनुष्य तृप्त न कदापि हुआ न होगा। उन्मत्त मनुष्यजाति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये अपने अनुकूल नियम बनातीहै। उसी को धर्म और कानून आदि के नाम से पुकारते हैं।

हे पुत्री! अब तू अच्छी तरह से मन में विचार देख। किस को न्यायी, किस को अत्याचारी, किस को आततायी कहेगी? तू क्या निश्चित सिद्धान्त स्थापित करेगी? मनुष्यों की बुद्धियों और धर्म पुस्तकों की यदि चक्कर में और परीक्षाओं में पड़ेगी तो निःसन्देह तू पगली होजायगी। परन्तु मैं तुझ से पूछती हूं कि यदि कोई तेरी गर्दन काटने के लिये दौड़े अथवा तुझे नाना प्रकार से क्लेश पहुंचावे तो क्या तू इस कुकर्म को सहन करेगी। निःसन्देह अपने सामर्थ्यभर अपने प्रिय शरीर की रक्षा करेगी? किन्तु असमर्थावस्था में तू कुछ नहीं कर सकती। अभी तू इस नगर से बाहर अकेली नानाभूषणादि धारण कर निकल। देखेगी कि तेरी क्या दशा होती है। इसी प्रकार

ये सकल पशु और पक्षी असमर्थ और अवाक् हैं। इस लिये इन पर मनुष्यों का अस्त्र शस्त्र सहजतया चल पड़ता है। मनुष्य के ऊपर मनुष्य को शस्त्र चलाने में बहुतसी बाधाएं उपस्थित होती हैं। हे पुत्री! जैसे अपने को हम और तू मरवाना नहीं चाहती। इसी प्रकार सकल प्राणी हत्या से डरते हैं। इस कारण हिंसा पापजनक है इस में किञ्चिन्मात्र सन्देह नहीं। किसी दयालु ने कहा है:-

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥
योऽस्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम्।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते॥

जैसे अपने प्राण अभीष्ट हैं वैसे ही अन्यान्य प्राणियों के भी। अपने आत्मा के समान ही साधुगण भूतों पर दया करते हैं। जो जिसका मांस खाता है इन दोनों में अन्तर देखो। भक्षक को क्षणिका प्रीति होती है और भक्ष्य का प्राण ही निकल जाता है।

राजकुमारी–माता यह निश्चय बहुत दिनों से मुझ को है और आज आप के उपदेश से दृढ़ हो गया कि हिंसा महापाप है तो भी सृष्टिलीला देख कुछ शङ्का होती है। उस की निवृत्ति श्रीमती के उपदेश से ही होगी। पाश्चात्यविद्वानों के ग्रन्थों में हिंसा अहिंसा के ऊपर विवाद अथवा निर्णय नहीं रहता। सामजिकता को लक्ष्य कर के मनुष्यव्यवस्था में हिंसा का निषेध अथवा युद्ध आदि का निषेध रहता है। परन्तु भारतवर्षीय बहुत से आचार्य्यों के ग्रन्थों में इस पर वृहद्विवाद देखते हैं। दो चार आचार्य्यों को छोड़ अन्ततो गत्वा अहिंसा ही परम धर्म है। इसीको यहां के आचार्य्य स्थिर करते हैं। परन्तु मैं अपनी बुद्धि से बालभाव से शङ्का करती हूं। श्रीमती जी अवश्य क्षमा करेंगी। क्या मनुष्यजाति हिंसासे निवृत्त रह सकती है? शास्त्र कहता है कि चार प्रकार के जीवों में एक उद्भिज्जजीव हैं। परन्तु इन्हीं उद्भिज्जों के ऊपर विशेष कर मनुष्यों का जीवन निर्भर

है। जितने खाद्य गेहूं, चावल, मूंग आदि अन्न हैं। शाक और तरकारियां हैं। वे सब इन उद्भिज्जों से ही उत्पन्न होते हैं। इन के अतिरिक्त पवित्र से पवित्र जिस जल का पान हम सब करती हैं उस जल में सूक्ष्मनिरीक्षण यन्त्रद्वारा अगण्य अणुकीट दीखते हैं। पुनः प्लेग हैजा आदि रोग इन कीटों से ही उत्पन्न होते हैं। औषधद्वारा उन रोगकीटों का हनन न किया जाय तो वे रोग कदापि शान्त नहीं हो सकते। चलते फिरते कितने जीवों की हत्या होती है। हम लोग उसपर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं देते। मनुष्य जाति को छोड़ अन्यान्य पश्वादि जातियों में हिंसा की मात्रा बहुत बलवती दीखती है। कोई २ पक्षी दो चार सहस्र कीटों को खाकर अपना निर्वाह करता है। ज्यों ही पांख वाली चींटियां आकाश में उड़ने लगती हैं त्योंही नभश्चर विहगगण उन्हें खाने लगतेहैं। सिंह गीदड़ आदिकों को, गीदड़ शशकादिकों को खा जाते हैं। मत्स्य मत्स्यों का संहार करते हैं। जब इस प्रकार हिंसामय संसार स्वतः बना हुआ है दुर्बलों को खाकर बलवती जातियां अपना निर्वाह करती हैं तो सर्वबलवान् मनुष्य इतर जातियों को खाकर यदि अपना निर्वाह कर लेते हैं तो इसमें क्षति ही क्या? और धर्मलोप ही क्यों हो? मैं समझती हूं जब कुछ आदमी हिंसा से डरने और इसको पाप मानने लगे तब ही विवेकी विद्वानों ने कहा होगा कि व्यर्थ हिंसा करना पाप है। किन्तु उन पश्वादिकों से देवताओं और पितरों की अर्चना करके यदि मनुष्य उन पशुओं को खाय तो इस में कुछ दोष नहीं। प्रत्युत बहुधांश में पुण्य होता और पशुओं का पशुत्व मोचन से उपकार होता है। देवता भी इस से प्रसन्न होते हैं?

रूपकुमारी—इस में सन्देह नहीं कि मनुष्यजाति सर्वहिंसा से निवृत्त नहीं रह सकती। प्रथम उद्भिज्जों के काटने खाने पीने और मर्दन आदि से हिंसा होती है या नहीं? इस पर थोड़ा विचार यह है कि अभिमानी जीव जिस शरीर में रहता है। उस शरीर के हनन से हिंसा होती है किन्तु जिस में अनुशायी जीव वास करते हैं उस

के छेदन भेदन से हिंसा नहीं कहलाती। जरायुज, अण्डज और ऊष्मज शरीरों के जीव अभिमानी हैं। उद्भिज्ज शरीरोंके जीव अनुशायी हैं। यह मेरा शरीर है ये मेरे पुत्रादिक हैं-इन के वियोग और संयोग से दुःख और सुख होते हैं। इत्यादि बोधयुक्त जीव को अभिमानी कहते हैं। और भी-हिंसक के देख ये तीनों प्रकार के जीव भागते हैं। अपनी रक्षा का उपाय सोचते हैं। सुख दुःख का पूरा अनुभव करते हैं। हनन के समय बहुत क्लेश के साथ रोते और चिल्लाते हैं। क्रूर से क्रूर मनुष्य को भी इन की हत्या के समय करुणा होती है। किन्तु उद्भिज्ज शरीरोंमें प्रत्यक्ष रूपसे सुख दुःखानुभव की कोई चेष्टा प्रतीत नहीं होती और न इन में अभिमान ही देख पड़ता है। इसी कारण भगवान् ने इन को स्थावर रूपमें बनाया है और अन्यान्य जीवों को जङ्गमरूप में। यह एक महान् भेद है। जङ्गम जीव एक स्थान को त्याग दूसरे स्थान में जा अपना निर्वाह कर सकते हैं। स्थावरों में यह शक्ति नहीं। अतः स्थावर के छेदन भेदन से हिंसा नहीं होती। यत्किञ्चित् अति सूक्ष्म दोष होता भी हो तो वह अनिवार्य्य और क्षन्तव्य है।

अब अणु जीव जो जलादिक में निवास करते हैं और रोगों में उत्पन्न होते हैं। वे क्षणिक हैं। क्षण २ में उत्पत्ति और विनाश इन का स्वयम् होता रहता है। पेट में जाने पर भी तदवस्थित ही रहते हैं। अथवा उदरस्थ जीव रक्तस्थजीव एक दूसरे को खाया करते हैं। परस्पर जीविकार्थ इनमें घोर संग्राम होता है। औषधादियोंसे इनकी वृद्धि रोकी जाती है। इन की वृद्धि अपनी अनुकूल दशा में अगण्य रूप से होती है। दो चार पलों में एक दो रोगकीटों से दो चार सहस्र हो जाते हैं। वे स्वयम् भी क्षण २ भर में मरते और जीते रहते हैं इस लिये इन की भी हिंसा हिंसा नहीं। अब तू ने जो यह बात कही कि जब हिंसामय जगत् है तो मनुष्य पश्वादिकों को मार कर खाय तो क्या क्षति-इस पर यह विचार है कि पूर्व में मैं कह आई हूं कि विधि निषेध मनुष्य जाति के लिये है। और भी-

इसमें विवेक और ज्ञान की अधिकता है। यद्यपि जरायुज, अण्डज और पिण्डज अन्यान्य सब धर्मों में समान हैं तथापि ज्ञान और विवेक में अन्यान्य जीवों से मनुष्य को असमानता है। इसी कारण मनुष्य जाति की उत्तरोत्तर उन्नति होती गई। विवेक चिल्ला रहा है और साक्षी दे रहा है कि मनुष्य के लिये हिंसा करना अनुचित है। हम मनुष्य अपने सुख दुःख का जैसा अनुभव करते हैं वैसे ही इन पशुवों के क्लेश के ऊपर भी स्वभाव से ही दया का अनुभव करते हैं। वे हम से डर कर भागते हैं और अपनी रक्षा का उपाय भी करते हैं। यहां तक देखा गया है कि जहां अधिक व्याध रहते हैं वहां से पशु और पक्षी भाग जाते हैं। परस्पर व्याध के गमन की सूचना भी अपनी बोलियों से देते हैं। इत्यादि कारणवश मनुष्य के लिये हिंसा निषिद्ध है।

और भी-मनुष्य जाति अन्यान्य बहुत उपायों से अपना निर्वाह करने में समर्थ है। खेती से, फलों को उपजाने से, कन्दों और मूलों के सेवन से इस का अच्छी तरह से निर्वाह हो सकता है। प्रकृति ने इतने फल, वृक्ष और वनस्पतियां दे रक्खी हैं कि इन को सग्रह कर मनुष्य परम सुखी रह सकता है। और भी-जैसे पशु और पक्षियों में बहुत से ऐसे हैं जो फलों, अन्नों और घासों पर ही निर्भर हैं और बहुत से मांसों पर। जो घास भोजी गौ हिरण और अन्न भोजी शुकादिक हैं वे कभी मांसाहारी नहीं होते और व्याघ्रादिक मांसाहारी जीव घासाहारी नहीं होते। किन्तु इस से विपरीत मनुष्य मांसाहारी, फलाहारी, अन्नाहारी, शाकाहारी अपने अभ्यास वश सब कुछ हो गया है। इस अवस्था में इसे उचित है कि मांस को छोड़ अन्नाहारी ही सदा बना रहे।

अब इस पर अधिक न विवेचना कर अन्य विषय को लेती हूं क्योंकि एक एक विषय पर एक एक छोटा मोटा ग्रन्थ बन सकता है और बना हुआ भी है। यहां मुझे केवल वैलक्षण्य दिखलाना है। सब विषयों के निर्णय करने का स्थान वेदान्त में नहीं। जहां तक

आत्मोद्धार के लिये वैराग्यादिकों की आवश्यकता है वहां तक ही मैं वर्णन कर सकती हूं। अतः पुनः विलक्षणता की ओर ध्यान दे। हिंसा के सम्बन्ध मे यह विलक्षणता दिखलाई गई कि एक मनुष्य की हत्या के बदले के लिये घोर संग्राम उपस्थित हो सकता है। कचहरीमें लाखों रुपये खर्च हो जातेहैं। किन्तु लक्षों पशुयोंको हत्या के लिये कोई चिन्ता नहीं। अब परस्पर मनुष्य ही में विलक्षणता देख। यदि एक राजा निरपराध दश बीस मनुष्योंको अथवा दोसहस्र मनुष्योंकोअपनेस्वार्थ सिद्धिके लिये देशके देशोंको मारदे, जलादे, भस्म करदेतो कुछ चिन्ताकी बात नहीं। तद्विपरीत यदि एक साधारणजन अपराधी, उन्मत्त राजा को भूल से भी मार दे तो यह कितना घोर पाप और अनुचित समझा जायगा। राजवश साक्षात् देवजात माना जाताहै। ब्राह्मण मुखसे, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य ऊरुसे, शूद्र पद से उत्पन्न हुआ। इतना मिथ्या गढ़ने पर भी सन्तुष्ट न होकर राजगण कहने कहवाने लगे कि हमारा वंश साक्षात् सूर्य्य भगवान् से, चन्द्रदेव से, अग्नि से पैदा हुआ है। अमुक राजा साक्षात् इन्द्रका ही अवतार है। सम्राट् केवल एक ही देवता के अंश से नहीं। किन्तु आठ दश देवों के अंशों से होता है। इसी प्रकार को कल्पना सर्वत्र इस पृथिवी पर विद्यमान हैं। यद्यपि समान रूप से मनुष्यता एक ही हैं। तथापि अपने २ स्वार्थ के लिये अनेक प्रकार की कल्पनाएं करते गये। पुनः आगे देख। यूरोपनिवासी अफ्रिकानिवासीमनुष्योंकी ऐसी दुर्दशा करनेपर लगगए कि एक एक का एकप्रकार नाश कर दिया। पशुयों और शाकों के समान उन हवशियों को बाज़ारों मे बेचा करते थे। दासों का क्रय विक्रय अतिप्राचीन काल से चला आता है। राजधानियों में बहुत से मनुष्य खोजे बनाकर रक्खे जाते थे और अब भी रक्खे जाते हैं। एक एक पुरुष कभी२ सहस्रशः स्त्रियों को रख लेता है। ऐसा घोरतर दृश्य आज भी विद्यमान है। इसके अतिरिक्त कोई इस संसार को तुच्छ समझ कौपीन धारण करना भी व्यर्थ समझता है। एक कौड़ी भी अपने साथ रखना पाप मानता है और कोई एक फूटी कौड़ी को भी

बड़े यत्नसे यत्रा रखताहै । कोटियों रुपये उपार्जन करके भी सन्तुष्ट नहीं होता । इत्यादि विलक्षणता के ऊपर ध्यान दे । यह सब दैवी सम्पत्ति का दिग्दर्शन है ।

अब आसुरी सम्पत्ति की ओर आ । बहुत मनुष्य इस अभिप्राय से तप, श्मशानसाधन और मन्त्र जप करते हैं कि मैं सदा अमर होऊं किसी प्रकार कदापि न मरूं । ऐसे ही मनुष्यों को दृष्टि में रखकर नमुचि, हिरण्यकशिपु और रावण आदि की कथा कल्पित हुई है । कोई इस लिये सिद्ध बनना चाहता है कि जगत् की सुन्दरियां, अप्सराएं, किन्नरियां, गन्धर्वकन्याएं, देवस्त्रियां और सारी सम्पत्तियां मुझे प्राप्त हों । इसी प्रकार सहस्रशः विलक्षणताएं केवल मनुष्यसमाज में विद्यमान हैं ।

यहां यह विचार करनाहै कि इस पृथिवीपर कोईभी सौ दोसौवर्ष से अधिक न रहा । जो अपने को योगी योगिराज कहते थे । क्या वे आज कहां हैं? बलि, विभीषण, मार्कण्डेय, व्यास आदि इस पृथिवी पर कहां हैं? बड़े २ पृथिवी के विजयियों का नाममात्र भी नहीं है सभ्यता की आद्यावस्था से अद्यावधि अगण्य असंख्य राजा हुए किन्तु एकका भी नाम इस भूमिपर अवशिष्ट है ? वे मदोन्मत्त भूपतिगण, अपने समय में अपने को अजर अमर देवाभिमानी सर्वश्रेष्ठ समझते थे । परन्तु जैसे कुत्ताआदियों का नाम मरने पर मिटजाता है वैसा ही वे लोग भी आए और चले गए । इत्यादि मानवदशा पर विचार करने से क्या सिद्ध होता है ? जब दोनों प्रकार के साधु असाधु इस पृथिवी परके क्षणिक अतिथिहैं तो कौनसा मार्ग अवलम्बनीय है । यह तो अपने शास्त्रों और विचित्रसृष्टियों के देखने से विदित होता है कि पुनर्जन्म अवश्य है । यदि मानव शरीर पाकर आत्मोद्धार न किया तो निस्सन्देह किस २ जाति में गिर कर जन्म लेकर क्या २ दुःख भोगना होगा । इस को कौन कह सकताहै? फिर ऐसा ज्ञानी और विवेकी मानवदेह मिलेगा या न मिलेगा इस का भी कौनसा निश्चय ?

इस लिये हे पुत्री ! इस कर्मक्षेत्र को प्राप्त कर जो आत्मोद्धार नहीं करता उसका व्यापार उस निर्बुद्धि के समान है जो चन्दन को काट कर अर्कवृक्ष लगाना चाहता है। सोने की हण्डिका (हांडी) में लशुन पकावे। सोने के हलसे जोतकर भांग का खेत करे। गौ को न पोष कर दुग्ध की आशा से गद्दही को पाले। इस में सन्देह नहीं कि इस मानवशरीर को प्राप्तकर जो तप नहीं करता वह मानो अपने गृह में सांपों को पाल रहाहै। यह जानकर अपने चारो ओर कांटों का खेत कर रहा है। वह अमृत के स्थान में विष का सग्र ी है। जब इस शरीर से उत्तम से उत्तम मुक्ति को पा सकता है तो उसको न पाना कितनी हानि की बात है। श्रुति कहती हैः-

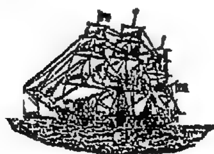
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदी-न्महती विनष्टिः।

यहां यदि जान लिया तो ठीक है। यदि न जाना तो महान् विनाश है। इस हेतु अपने को जानने की पूरी चेष्टा करनी चाहिये। बहुत मनुष्य इस विचार मे रहते हैं कि चतुर्थाश्रम में ही इस का साधन करूंगा। यह ठीक है कि मुक्ति का साधन बिना सन्यास के नहीं होसकता। किन्तु वह सन्यास तब लिया जाय जब सब इन्द्रियां शिथिल होजायं। शरीर जर्ज्जर होजाय। केश पकजांय। त्वचाएं ढीली पड़जायं अर्थात् सर्वथा असमर्थावस्था प्राप्त होने पर संन्यास ग्रहण किया जाय। निःसन्देह ऐसे संन्यास से कदापि मुक्ति की आशा नहीं। वृद्धावस्था मे मननशक्ति और श्रवणशक्ति का ह्रास होजाता है। तब वह कैसे " अहम् ब्रह्मास्मि " इत्यादिवाक्य द्वारा अथवा ब्रह्म चिन्तन अथवा अभेदज्ञान कर सकता है।

आश्चर्य्य अथवा अति आश्चर्य्य यह है कि मनुष्य जान कर भी क्यों इस व्यामोह में फंस जाता है इस का पता नहीं लगता। मूढ़ातिमूढ़ से बातें करें तो उसके मुखसे भी अनायास यह शब्द निकलेगा कि यह संसार मिथ्या जो क्षणिक है। बड़े प्रतापी दुर्योधन

रावण आदि सम्राट् कहां चले गये और कोटियों जीव कहां चले जा रहे हैं ? । मैं क्या कहूं मैं सब जानता हूं परन्तु घर के जञ्जाल ने ऐसा घेर रक्खा है कि इससे छुटकारा एकक्षण भी नहीं होता। लोग कहते हैं कि गद्दे का बन्धन मरने पर भी नहीं छूटता। कुछ दिन हुए कि बेटियों के विवाह से निश्चिन्त हुआ अब दूसरी ही चिन्ता लगी। दो चार नाती पोतों का विवाह बहुत जल्दी करना है। दूसरी ओर माके श्राद्धमें कईसौ ऋण होगये। इधर राजेन्द्रकी भाभी बराबर रुग्ण रहती है। क्या कहू दवा देते २ हारगया। अजी! महाराज आप से दो चार बातें कर लेनेकी भी मुझे फुरसत नहीं। इत्यादि २ ज्ञान और अज्ञान दोनों की बातें सब करेंगे किन्तु कोटियों में एक आध ही साधनसम्पन्न हो आत्मदर्शनके लिये यत्न करेगा। जानता भी है कि नाना नरकादियों में मैं नाना क्लेश सहूंगा। यम यातना तीव्रता से मेरे ऊपर आवेगी। मैं संसारसागर में डूबकर अनन्त २ क्लेश भोगूंगा-इत्यादि। तथापि आत्मोद्धार में लोगों की प्रवृत्ति नहीं। इस वैलक्षण्य को देख यदि तू उस भगवान् की शरणमें आना चाहती है तो बहुत शीघ्र आजा।

इति श्रीरूपकुमारी कृते वेदान्तपुष्पाञ्जली
स्वप्न-जगद्वैलक्षण्य-विवेकनिरूपणा-
भिधेयो गुच्छः समाप्तः।



प्राप्यविवेक

राजकुमारी-श्रीमती जी ! मेरी बहुत सी शङ्काएं निवृत्त हो गईं और ब्रह्मध्यान से मुझे अतिशय आनन्द प्राप्त होता है। कभी कभी मैं अपने को भूल तन्मयी होने लगगई हूं। आशाहै कि थोड़े ही दिनों में मैं अपने स्वरूप को पहचानने में समर्था हो जाऊंगी। किन्तु यह मेरी प्रियतमा सखी प्रियवदा मुझ से बहुत शङ्काएं किया करती है इसे आज साथ ले आई हूं यदि श्रीमती की आज्ञा हो तो यह श्रीमती के निकट अपना मनोभाव प्रकट करे।

रूपकुमारी-ऐ पुत्रियो ! हमारी प्रबल, उत्कट और चिरस्थायी कामना बनी रहती है कि लोगों का उद्धार कैसे हो ? राजव्यवस्था और कुछ कुलमर्य्यादा के कारण अन्यत्र जाकर प्रचार कर सकती नहीं। यद्यपि इस सब को मैं अति तुच्छ समझती हूं और महात्मा-ओं की कृपा से मैं सर्वथा शास्त्र चिन्तनही में रहती हूं। इस शरीर से स्वभावतः बाह्य क्रियाएं होती रहती हैं किन्तु मेरा मन उस परम पिता से पल भर भी वियुक्त नहीं होता। तू देखती है, अन्यान्य बहुत सी स्त्रियां ब्रह्मकथा सुनती ही रहती हैं। इस अवस्था में तेरी सखी प्रियवदा यदि मुझ से अपनी शङ्का निवृत्त करले तो इस में क्षति क्या ?

प्रियंवदा-श्रीमती जी ! आप की मुझ पर बड़ी कृपा हुई। मैं आप के दर्शन से सदा अपने आत्मा को पवित्र करती रहती हूं। मेरा मन प्रतिमाओं, तीर्थों और अन्यान्य व्रतों में इतना नहीं लगता जितना श्रीमती के दर्शन में। आपका ही ध्यान मैं दोनों संध्याओंमें नियम से करती हूं। राजकुमारी पद्मावती जो मेरी परमप्रिया है उस के संग से मुझे ब्रह्मज्ञान का कुछ बोध हुआ है किन्तु शङ्काएं भी बहुत हो जाती हैं।

१-जब मैं अपने हाथों से फूल, तुलसी और बिल्वपत्र आदि चुन कर विष्णु और महादेव की पूजा करती थी तो मुझ को बड़ा

आनन्द आता था। एकादशी चतुर्दशी आदि व्रत करने से भी बहुत हर्ष और आल्हाद होता था किन्तु जब से अपनी सखी का उपदेश सुन कर "अहंब्रह्मास्मि" का ध्यान अथवा चिन्तन करने लगी तब से उदासीनता अधिक छागई। कभी २ चित्त विक्षिप्त हो जाता है उस निर्गुण में मन स्थिर नहीं होता। यद्यपि सत्य, ज्ञान, आनन्दघन, रसमय, परमकृपालु, सर्वत्रपरिपूर्ण, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप जो परमात्मा है वही मैं भी हूं-यह बहुश: सुना है और बड़े वेग से और उत्कण्ठा से आसन लगा कर "अहंब्रह्मास्मि" का ध्यान लगाने बैठ जाती हूं किन्तु थोड़ी ही देर में वह ध्यान उखड़ जाता है और पुनः सगुण उपासना ही की ओर चित्त दौड़ जाता है। अतः मुझे ऐसा उपदेश मिले कि मैं अपने स्वरूप को जान मैत्रेयी के समान अमृतभागिनी होऊं।

रूपकुमारी-तेरे कथन और प्रश्न से हमारा मन बहुत प्रसन्न हुआ। तू जो कहती है वह ठीक है। यद्यपि वेदान्त का मार्ग अति सरल है तथापि अतिशयित कठिन भी है। इस में लोगों का मन नहीं लगता यह ठीक है। बड़े क्लेश से यह मार्ग कोटियों में किसी एक को मिलता है इसी लिये ब्रह्मज्ञानियों के दो चार ही उदाहरण वेदान्त में गाये जाते हैं। वामदेव, जनक, अजातशत्रु, याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी, गार्गी, अरुन्धती, लोपामुद्रा आदि।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिक भी तो माया से बद्ध ही हैं। तब मनुष्यजाति की कथा ही क्या? ये तीनों देव राग, द्वेष से भरे हुए हैं। देवता के कार्य्य के लिये असुर बलि को भगवान् ने छला है। ब्रह्मा को इतना मोह हुआ कि उस ज्योति के पता लगाने के लिये ऊपर गया जब पता न चल सका तब कुछ मिथ्यासाक्षी बना कर और साथ ले नीचे आया। उसका यह गर्हित व्यापार देख उस ज्योतिने ब्रह्माको अपूज्य बनाया। महिम्नः स्तोत्र में यह श्लोक आया है:-

तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरिविरिञ्चो हरिरधः ।
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः ॥
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिशयत् ।
स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥

पुराणों में इस का प्रसंग इस प्रकार से गाया जाता है कि एक समय ब्रह्मा और विष्णु लडने लगे कि " मैं बड़ा हूं, मैं बड़ा हूं " उतनेही में एकअग्निमय लिङ्ग ज्योति उत्पन्न हुई और उससे आकाश-वाणी निकली कि जो तुम दोनों में से इस लिङ्ग के आदि अन्त का पता लगा लेगा वही श्रेष्ठ माना जायगा। तब उसका पता लगाने के लिये ब्रह्मा ऊपर चले और विष्णु नीचे गये। सर्व सर्व वर्ष जाते २ जब विष्णु को उस ज्योतिर्लिङ्ग का कहीं भी पता न लगा तो नीचे से ऊपर आ उसी स्थान में बैठ गये। ब्रह्मा भी ऊपर जाकर लिङ्ग के अन्त का पता न लगा सका तब लौटने लगा। मार्ग में गौ और एक फूल को कहा कि आप दोनों मेरे साथ चलें और वहां यह साक्ष्य दें कि ब्रह्मा लिङ्ग के अन्त का पता लगा आए। जब इस प्रकार दोनों उसी स्थान पर आए और पुनः विवाद करने लगे तो पुनः ज्योतिर्लिङ्ग से आकाशवाणी हुई, कि ब्रह्मा मिथ्यावादी और विष्णु सत्यवादी है। जब सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा भी मिथ्या भाषण कर के अपना महत्त्व चाहता था तो औरों की क्या गणना। इतना ही नहीं किन्तु वह प्रजापति अपनी पुत्री पर मोहित हुआ यह कथा भागवतादि में अतिप्रसिद्ध है।

महादेव के सम्बन्ध में भी ऐसी २ बहुत कथाएं गाई जाती हैं। सती के वियोग से महादेव को कितना दुःख हुआ। दक्ष के यज्ञ में महादेव का कैसा निरादर हुआ। जब इस प्रकार तीनों देव राग-द्वेष में गिरे हुए हैं तो उनकी बनाई हुई जीवों की कथा ही क्या ? इन्द्रादि देव की अतितुच्छ कथा पुराणों में वर्णित है। अहल्या के

रूप पर मोहित हो निकृष्ट कर्म कर इन्द्र की जो दुर्दशा हुई उसको पुराण अच्छी तरह से बतला रहा है।

हे पुत्री ! इस लिये जन्मजन्मान्तर के पापों से ग्रसित ये जीव क्योंकर ब्रह्म की ओर आवें। एक तो मन ही अति चञ्चल दूसरे विषयवासना अति प्रबल। तीसरी लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा का अतिप्रबल वेग। आडम्बर जगत् में इतना बढ़ा हुआ है कि इस में सहजतया लोगों की प्रवृत्ति होती है, मन्दिर यज्ञ, तीर्थ भ्रमण एकादशी आदि इत्यादि २ अनुष्ठानमें झटसे लोगों की प्रवृत्ति होती है यज्ञादि कर्म तत्कालशोभाप्रद और कीर्त्तिप्रदायी होता है। दश बीस अथवा सौ पचास श्रोत्रिय आनुष्ठानिक पुरोहित आदि ब्राह्मण पीताम्बर पहन चन्दन लगा कुशासन पर बैठ बाहर से गम्भीरताधर और मौनावलम्बी बन कहीं वेद मन्त्र पढ़ने लगते हैं। कतिपय ऋत्विक् समिधाओं और शाकल्यों को शुद्धथालियों में रख कुण्डों में अग्नि प्रज्वलित कर मन्त्रोच्चारणपूर्वक स्वाहा शब्द से लोगों के हृदय को प्रफुल्लित करने लगतेहैं। कहीं यजमान और पुरोहित फूल, अक्षत, गन्ध दीप, ताम्बूल, मधुर और घण्टा घड़ियाल शङ्ख वस्त्र आदि नानाविध सामग्रियां लेकर कृष्णादिप्रतिमाओं की पूजामें मन्त्रादिजपमें तत्पर होजातेहैं। कहीं ढोल कहीं नृत्य कहीं संगीत होने लगतेहैं ऐसी दुर्गादि पूजा महोत्सव में सहस्रशः नर नारियांभी एकत्रित होजातीहैं सहस्रशः बकरे भैंसेकटने लगजातेहैं। इत्यादि २ वस्तुएं पूजकों के तथा दर्शकों के मन को अपनी ओर खैंच लेती हैं और इसके अतिरिक्त उस यजमान का देश में कीर्त्ति भी फैल जातीहै। इस प्रकार कर्मकाण्ड में सर्व साधारण का चित्त आकृष्ट होजाता है।

वेदान्तशास्त्र कर्मकाण्ड का सर्वथा निषेध भी नहीं करता। अतत्त्ववित् पुरुषों के लिये कर्मकाण्ड आवश्यक है। कर्मद्वारा बाह्य और आन्तरिक शुद्धि जहां तक हो, करे किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के

लिये अन्ततोगत्वा केवल ज्ञान ही है। " ज्ञानान्मुक्ति " ऐसी सर्व-शास्त्रकारों की घोषणा है। कर्मकाण्डवर्णन पूर्व में भी कह आई हूं। इस लिये यहां पुनः वर्णन करने से पुनरुक्त होगा। तथापि दो चार बातें पुनः यहां श्रुति से दिखलाती हूं:-

प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

ये यज्ञरूप प्लव (नौकाएं) अदृढ़ हैं जिन में यजमान पुरोहित मिलकर अठारह १८ पुरुष कर्म करते हैं। इसको जो श्रेय (मुक्ति-साधन) समझते हैं वे मूढ़ हैं और वे जरा और मृत्यु को पाते हैं। पुनः——

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं
कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्ते-
नातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥

यद्यपि बहुत से पुरुष अविद्या में वर्त्तमान हैं तथापि वे अपने को कृतार्थ समझते हैं। ऐसा समझने वाले वास्तव में बालक हैं। किन्तु रागवश वे कर्म्मकाण्डी नहीं समझते इस हेतु पुण्यफलों को भोग पुण्यलोक से गिर पड़ते हैं। पुनः-

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं चाविशन्ति ॥

जो कोई इष्टों (यज्ञों) आपूर्त्तों (सरोवर बान्ध मार्गादि बनवाना) को जो श्रेष्ठ मानते हैं और इन से उत्कृष्ट मोक्षप्रद ज्ञान-मार्ग है इसको नहीं समझते वे अतिमूढ़ हैं। वे स्वर्ग में जा पुण्य-फल भोग हीनतर लोक में जागिरते हैं। इसके विपरीत ज्ञानकाण्ड की श्रुति इस प्रकार प्रशंसा करती है।

तपःश्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ताविद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

जो श्रद्धा और तप करते हुये शान्त हो भैक्ष्यचर्य्या द्वारा अपने को पोषते हुए अरण्य में वसते हैं वे निष्पाप हो सूर्य्य द्वार से वहां पहुंचतेहैं जहां वह अमृतस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं। इसी प्रकार गीता आदि सब पुस्तकों में ज्ञान की ही श्रेष्ठता गाई गई है। बहुत से उदाहरण भी ऐतिहासिक ग्रन्थोंमें दिये हुए हैं। प्राचीन ऋषिगण जितने हुए वे सब ही इसी मार्ग पर चला करते थे।

और भी-मन में विचार कर देख। कर्म बहुविध हैं। प्रत्येक देश प्रत्येक धर्मपुस्तक में भिन्न २ रूपसे कर्म्मों का वर्णन करते हैं। कहो तेअस्तिमिरवत् विपरीत कर्म्म कह गये हैं जैसे पुराण प्रतिमापूजा विधान करता है। इस के विपरीत मुसलमान मूर्त्तिपूजा से अति-घृणा रखते हैं। वैष्णवों को पशु बलिदान से अत्यन्त द्वेष है। किन्तु शाक्तों की इस में अत्यन्त भक्ति और श्रद्धा है। इस प्रकार जैसे कर्म-काण्ड में बहुविध भेद पाते हैं वैसे ज्ञान में भेद नहीं। सब देश और सर्व धर्मपुस्तकों में ज्ञान समान रूप से वर्णित है। वस्तुओं तथा ईश्वर और जीवों का ज्ञान समानरूप से वर्णित है। इस हेतु कर्म अनित्य और ज्ञान नित्य वस्तु है। हे पुत्रो! कुछ दिन कर्मकरके ज्ञान की ओर आने के लिये प्रयत्न कर। थोड़े ही दिनों में ज्ञान साधन से जो आनन्द प्राप्त होगा वह त्रिलोकी राज्य की भी प्राप्ति से नहीं हो सकता।

प्रियंवदा-श्रीमतीजी के उपदेश से मेरे हृदय में ज्ञानकी श्रेष्ठता सर्वथा खचित होगई। इसमें सन्देह मुझे न रहा किन्तु इस के सम्बन्ध में कुछ और भी सुनना चाहती हूं जिस से उत्तरोत्तर इस में दृढता होजाय।

रूपकुमारी-एवमस्तु। इन वक्ष्यमाण बातों पर ध्यान दे। श्रुति कहती है:-

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्॥

धीर ब्राह्मण को उचित है कि उसी को जानकर बुद्धि बढ़ावे अत्यान्य बहुत शब्दों का ध्यान न करे क्योंकि वह केवल वचन का श्रम हेतु है। श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

जो जन अनन्य अर्थात् " अहं ब्रह्मास्मि " इस प्रकार के ज्ञान से मत्स्वरूप होकर मुझे चिन्तन करते हुए सब काल में उपासना करते हैं उन नित्याभियुक्त तत्परायण भक्तों के लिये योग (अलब्ध-प्रापण) और क्षेम (लब्धरक्षण) दोनों देता हूं। इन दोनों वचनों से यही सिद्ध होता है कि एकाग्र होकर इस परमात्मा में तत्पर होजाय। पुनः विद्यारण्यस्वामी अपने पञ्चदशी ग्रन्थ में सन्न्यासियों को जिस प्रकार व्यवहार करने के लिये लिखते हैं उन में से कुछ बातें सुनाती हूं, वे ये हैं:-

दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया॥१॥

जो अज्ञ दुःखी जन हैं वे पुत्रादिकों के जञ्जाल में पड़कर सांसारिक बनें परन्तु मैं जो परमानन्दपूर्ण हूं, वह मैं किस इच्छा से संसारी बनूं।१।

अनुतिष्ठन्तु कर्म्माणि परलोकपिपासवः ।
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥२॥
व्याचक्षतान्ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥३॥

परलोक की प्राप्ति की कामना वाले भले ही कर्म्म करें किन्तु जो मैं सर्वलोकात्मक हूं वह किस उद्देश से क्यों कर कर्म करूं ।२। जो अधिकारी हैं वे शास्त्र की व्याख्या करें । अथवा वेदों को पढ़ावें । किन्तु सर्वक्रिया शून्य मेरा अधिकार ही नहीं । ४ ।

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च।
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्ति किम्मे स्यादन्यकल्पनात् ।४।
गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ।
नान्यारोपितसंसारधर्म्मानेवमहं भजे । ५ ।

न निद्रा, न भिक्षा, न स्नान, न शौच मैं चाहता न करता हूं । मुझ में इतर द्रष्टा इन क्रियाओं की कल्पना करते हैं किन्तु दूसरों की कल्पना से क्या । ४ । दूसरे ढेर में स्थापित अग्नि गुञ्जाराशि को न जलावेगा । इसी प्रकार अन्यारोपितसंसार धर्मों का अनुसरण मैं नहीं करता ।

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येहमसंशयः ॥ ६ ॥
विपर्य्यस्तो निदिध्यासेत किं ध्यानमविपर्य्ययात
देहात्मत्वविपर्य्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम्॥७॥

जिन्हें तत्व नहीं ज्ञात वे सुनें किन्तु जानता हुआ मैं क्यों सुनूं संशयापन्न जन मनन करें किन्तु संशय रहित मैं क्यों मनन करू ।६

भ्रान्तपुरुष निदिध्यासन करें किन्तु भ्रान्तरहित मुझे ध्यान से क्या ? देह और आत्मा में भ्रान्ति मुझे कदापि होती ही नहीं । ७ ।

प्रारब्धकर्म्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्त्तते ।
कर्म्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्‌ध्यानसहस्रतः ।८।
विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्‌ध्यानमस्तु ते ।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ।९।

प्रारब्ध कर्मके क्षीण होने पर व्यवहार निवृत्त होजाता है किन्तु कर्मों के क्षय न होने पर सहस्र ध्यानसे भी व्यवहार की निवृत्ति नहीं होती ॥ ८ ॥ व्यवहार की क्षीणता के लिये यदि ध्यान इष्ट हो तो वह तुझे हो किन्तु व्यवहारमें बाधा न देखता हुआ मैं क्यों ध्यान करूं ९।

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥१०॥
नित्यानुभवरूपस्य कोमे वानुभवः पृथक् ।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ।११।

मुझे विक्षेप नहीं है इसलिये समाधि भी नही लगाता । विक्षिप्त विकारी मन में विक्षेप अथवा रोकने के लिये समाधि होती है ।१०॥

मैं स्वयम् नित्य अनुभवस्वरूप हूं । तब मुझ से अनुभव पृथक् कैसे । जो कर्त्तव्य थे वे किये गये जो पाने थे वे पाये यह मुझे निश्चय है ।११।

व्यवहारो लौकिकोवाशास्त्रीयो वाऽन्यथापिवा।
ममाकर्त्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्त्तताम् ॥ १२ ॥
अथवा कृतकृत्योपि लोकानुग्रहकाम्यया ।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्त्तेऽहं का मम क्षतिः ॥१३॥

अकर्त्ता और अलेप मेरे प्रारब्ध कर्म के अनुसार लौकिक अथवा शास्त्रीय अथवा अन्यथा व्यवहार हों । १२ । अथवा कृतकृत्य भी मैं लोकों के अनुग्रह की इच्छा से यदि शास्त्रीय मार्ग से ही कर्म में प्रवृत्त होऊं तो इस से मेरी क्षति ही क्या ?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्त्ततां वपुः ।
तारं जपतु वाक्तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ९४॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वाब्रह्मानन्दे विलीयताम् ।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥१५॥

मेरा शरीर देवार्चन, स्नान, शौच,और भिक्षा आदि में प्रवृत्त हो तद्वत् वाणी मन्त्र जपे अथवा वेदान्त पढ़े। मेरी बुद्धि विष्णु का ध्यान करे यद्वा ब्रह्मानन्द में लीन हो किन्तु साक्षी मैं न कुछ करता न कराता हूं ॥ १५ ॥

नाविद्या नापि तत्कार्य्यं बोधं बाधितुमर्हति ।
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥१६॥
बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ।
जीवन्नाखुर्न मार्जारं हन्ति हन्यात्कथं मृतः ।१७।

न अविद्या न उस का कार्य्य मेरा बोध बाधित कर सकता है पहले ही तत्वबोध से वे दोनों बाधित होगये ॥ १६ ॥ यदि अविद्या का कार्य्य कदापि बाधित नहीं होता क्योंकि यह प्रत्यक्ष दीखता है। यदि ऐसा कोई कहै तो ठीक नहीं। क्योंकि जीता चूहा यदि मार्जार को न मारता तो मरा हुआ चूहा मार्जार को कैसे मार सकता है।

अपिपाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ।
निष्फलेषुविद्धाङ्गो नंक्ष्यतीत्यत्र का प्रमा १८।

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्य्यैर्जृम्भमाणया ।
युद्ध्वा बोधोऽजयत् सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥१९

जो महादेव के अस्त्र से न मरा वह शल्यरहित वाण से विद्ध होकर मरेगा इस में क्या प्रमाण । १८ । आदि में ही मेरा बोध अपने विचित्र कार्य्यों से संयुक्त माया के साथ घोर संग्राम करके विजय पा चुका है । तव अब इस सुदृढ़ बोध को बाधित कौन करेगा । १९ ।

तिष्ठन्त्वज्ञानतत्कार्य्यशवा बोधेन मारिताः ।
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥२०॥
य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ।
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयास्य किम् ॥२१॥

निज बोध से मारित अविद्या और उस के कार्य्य भले ही बने रहें किन्तु बोध सम्राट् को उन से भय नहीं वरन् उन से कीर्त्ति ही है । २० । जो प्रज्ञशाली ऐसे अति शूरवीर बोध से कदापि वियुक्त नहीं होता । उस की देहस्थित प्रवृत्ति यद्वा निवृत्ति से क्या । २१ ।

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ।
स्वर्गाय चापवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥२२॥

बोधहीन पुरुष को कर्म प्रवृत्ति में आग्रह न्याययुक्त है क्योंकि स्वर्ग अथवा अपवर्ग के लिये पुरुषों को यत्न करना अवश्य चाहिये ।

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ।
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥२३॥
एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ।
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥२४॥

कर्मसंगी पुरुषों के मध्य यदि विद्वान् हो तो उन के अनुरोध से काय, मन और वाणी द्वारा निखिल क्रियाएं किया करे ॥२३॥ किन्तु बोधाभिलाषी जनों के मध्य यदि ज्ञानी पुरुष विद्यमान हो तो इनके बोध के लिये सब क्रियाओं को दूषित करता हुआ वह ज्ञानी सभी क्रियाओं को त्याग दे।

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ।
स्तनन्धयानुसारेण वर्त्तते तत्पिता यतः ।२५।
अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ।
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ।२६।

ज्ञानी को अज्ञानी के अनुसार वर्त्तना उचित है क्योंकि बालक के अनुसार ही उस का पिता वर्त्तता है ।२५। बालक अपने मां बाप को अज्ञानवश मारता पीटता है तथापि माता पिता न क्लेश मानते और न क्रुद्ध होते हैं प्रत्युत बालक को लाड प्यार करते हैं ॥२६॥

निन्दितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निन्दति ।
न स्तौति किन्तु तेषां स्याद्यथाबोधस्तथाचरेत्।२७
येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्य्यमेव तत् ।
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत् कार्य्यमस्त्यत्र तद्विदः ।२८।

अज्ञानियों से विद्वान् निन्दित हों। यद्वा स्तूयमान हो। किन्तु वह ज्ञानी न किसी की निन्दा न स्तुति करे प्रत्युत उन अज्ञानियों को जिस से बोध हो वैसा ही करे ।२७। जिस २ आचार विचार से अज्ञानी को बोध हो उसे ही ज्ञानी करे किन्तु अज्ञों के बोध के अतिरिक्त कुछ न करे ।२८।

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ।२९

कर्तव्य कर्म कर चुकी। प्राप्य वस्तु पाई। अतः परितृप्त, ज्ञानी जन स्वमनसे इस प्रकार सदा मानते हैं।

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥३०॥
धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥३१॥

मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। क्योंकि मैं अपने आत्मा को सदा जानता हूं। मैं धन्य हूं मैं धन्य हूं क्योंकि ब्रह्मानन्द मुझे विस्पष्ट भासित होता है। ३०। मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। क्योंकि आज सांसारिक दुःख नहीं देखता। मैं धन्य हूं, मैं धन्य हूं क्योंकि मेरा अज्ञान कहीं भाग गया। ३१

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्॥३२॥
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः॥३३॥

मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। अब मेरा कुछ कर्तव्य नहीं। मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। क्योंकि आज मेरा सब प्राप्तव्य प्राप्त हुआ। ३२। मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। लोक में मेरी तृप्तिकी उपमा नहीं। मैं धन्य हूं। मैं धन्य हूं। धन्य धन्य मै हूं। पुनः पुनः मैं धन्य हूं।

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयमहो वयम्॥३४॥

अहो पुण्य, अहो पुण्य, दृढता से फलित हुआ फलित हुआ। इस पुण्य सम्पत्ति के भागी हम हुए। धन्य हम। धन्य हम।३४।

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहोगुरुः ।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् । ३५ ।

अहो शास्त्र, अहो शास्त्र । अहो गुरु, अहो गुरु । अहो ज्ञान अहो ज्ञान । अहो सुख, अहो सुख ।३५।

हे प्रियंवदे ! इस प्रकार अनेक आचार्य्यों ने ज्ञान के कर्तव्यों का वर्णन किया है । इतने उपदेश से तू अवश्य समझ गई होगी कि ज्ञान के अनन्तर पुनः कर्म करने की आवश्यकता नहीं जब तक पूर्ण बोध न हो तब तक ओङ्कारोपासना और "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि ध्यान और समाधि करे किन्तु जीवनमुक्त पुरुष के लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं होता । पञ्चदशी से हम ने तुझे जो उपदेश सुनाया है वह जीवन्मुक्त पुरुष के लिये ही है । तू भी उस दशा से अत्यन्त दूरस्था है अतः तेरे लिये यह उपदेश है कि तू अन्यान्य व्यर्थ कर्मों को न कर के आत्मसम्बन्धी श्रवण, मनन और निदिध्यासन सदा कर और दोनों सन्ध्याएं एकान्तमें बैठ "अहं ब्रह्मास्मि" का चिन्तन कर । इस से उत्तरोत्तर ज्ञानोदय होता जायगा । इति सक्षेपतः ।

प्रियंवदा—श्रीमती जी के उपदेशामृत से मैं तृप्त होगई हूं किन्तु पुनः २ श्रीमती के मुखारविन्द से निःसृत वचनों को पान करना चाहती हूं अतःपुनरपि किञ्चिन्मात्र विवक्षुहूं। वह यह है कि श्रीविद्यारण्यस्वामी जी के उपदेश में अनेक सन्देह मुझ को होता है । यदि कर्मों का सर्वथा त्याग हो तो अश्वमेध, राजसूय, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, सर्वमेध, दर्शेष्टि, पूर्णमासेष्टि इत्यादि २ वैदिक कर्म तथा गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्य्यन्त गृह्यकर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राज्यव्यवस्था, धर्मव्यवस्था तथा तीर्थ, व्रत, सम्प्रदाय देवार्चनआदि इत्यादि २ सर्वव्यवहार का ही इस संन्यास धर्म से लोप हो जायगा क्योंकि इस में सर्वकर्म परित्याग का ही उपदेश दिया जाता है ।

पुनरपिः—

यदि अन्य सम्प्रदाय के समान यह मत विस्तारित किया जाय तो

मेरी बुद्धिसे थोड़े दिनोंमें ही मानव जाति का इस भूमि पर से प्रलय या लोप हो जायगा। क्योंकि जैसे वैष्णव गृह में बाल्यावस्था से ही लोग मत्स्य मांस भक्षण का परित्याग कर देते हैं। कण्ठी, तिलक, मुद्रा इत्यादि चिह्न धारण करते हैं। राम कृष्णादि प्रतिमा का पूजन और उन ही देवों के मन्त्र स्तोत्र कथा पुराण व्रत आदि मे तत्पर हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य सम्प्रदायी भी अपने सम्प्रदाय के अनुकूल सदाचार करने लगे हैं। वैसे ही परमश्रेष्ठ, परमहितकारी, वेदविहित और सर्वशिष्टानुमोदित और अङ्गीकृत इस वेदान्त का प्रचार यदि गृहस्में हो तो मनुष्यजातिकी क्या दशा होगी केवल ओङ्कारोपासना अथवा "अहम् ब्रह्मास्मि" का ध्यान ही, वह भी कहां २ रह जायगा। सर्वत्र ब्रह्मज्ञान के कारण वेदादिशास्त्र का अध्ययन भी बन्द हो जायगा। विवाहादिक लौकिक व्यवहार ही क्योंकर किए जायंगे। भोजनादिक मे प्रवृत्ति भी क्यों होगी। लोग क्या स्त्रियां, क्या पुरुषगण क्या बालकगण सब ही वैराग्ययुक्त होकर लौकिक अथवा वैदिक कर्म त्याग परिव्राट् बन इतस्ततः प्रारब्ध कर्म के अनुसार रहा करेंगे। कौन किस को खिलावेगा। यद्वा कौन खायेगा। कौन कृष्यादि व्यापार करेगा? सब तो ब्रह्मरूप, निष्क्रिय, निरञ्जन ही रहेंगे। इस प्रकार थोड़े काल में मनुष्य जाति इस पृथिवी से उठ जायगी यदि इस वेदान्तधर्मका प्रबलता से प्रचार हुआ। हे मातः! अतः मुझ बालिका में जो यह महासन्देह उत्पन्न हुआ है कृपया इसका निवारण कर मुझे अधिकारिणी बनावें।

श्रीरूपकुमारी–तेरे इस प्रश्न से मैं बहुत प्रसन्न हुई हूं निःसन्देह जब तक मन में संशय उत्पन्न होते रहें तब तक अपने आचार्य्य, पुरोहित गुरुआदि से पूछकर उनकी निवृत्ति करता जाय। किन्तु हे पुत्री! यह ब्रह्मोपदेश अतिकठिन, दुर्गम, अविज्ञेय है अतः इसके लिये ब्रह्मनिष्ठपुरुष के निकट जाकर ही इस का श्रवण करे जैसा श्रुति कहती है।

तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषंवेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतोब्रह्मविद्याम्

सामग्री सम्पन्न हो परम वैराग्ययुक्त ब्राह्मण उस विज्ञान के लिये ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के निकट पहुंचे। सर्वभाव से कपटादि त्याग ऋजुभाव ग्रहण कर प्रसन्न चित्त हो शमदमादियुक्त ऐसा शिष्य यदि प्राप्त हो तो वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठगुरु तत्वतः उस ब्रह्म विद्या का उपदेश करे। जिस से उस शिष्य को अक्षर सत्यपुरुष का ज्ञान हो।

एवमस्तु, अब तेरी शङ्काओं का कुछ उत्तर संक्षेप से देती हूं। ध्यान से श्रवण कर। इन का कुछ वर्णन अनुबन्धचतुष्टय में भी हो चुका है। प्रथम तू यह समझ सर्वांश में सब के लिये वेदान्त शास्त्र का उपदेश नहीं है। वेदान्त केवल संन्यासियों के लिये ही उपदिष्ट है। शम दमादि सर्वपुरुष के लिये अभिप्रेत है। प्रथम अधिकारी वह है जो निखिल वेद और उनके अर्थ शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ब्राह्मणादि ग्रन्थ और तर्कादि शास्त्रों में परम निपुण हो। इतिहास, पुराण, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, भूतविद्या, ब्रह्मविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, इत्यादि २ विद्याओं मे कुशल हो। इस से यह सिद्ध हुआ कि विधिवत् उपनीत हो, आचार्य्यकुल में जा वेद से लेकर लौकिक विद्या तक सब का अध्ययन करे इस से ब्रह्मचर्य्याश्रम की प्रथम रक्षा हुई तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो स्वर्गादि इष्ट साधन ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्म्मों को कर अनिष्ट-साधन ब्रह्महननादि निषिद्ध कर्म्मों को न कर और सत्यादिभाषण से अन्तःकरण को पवित्र करने में लगे जिसके न करने से प्रत्य-वाय हों ऐसे सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म, पुत्र जन्मादि के उपलक्ष में अनुष्ठेय जातकर्मेष्टि आदि नैमित्तिक कर्म और पापक्षय मात्र साधन

चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तकर्म इत्यादि २ कर्म्मों का अनुष्ठान गार्हस्थ्यआश्रम में करे। तदनन्तर वानप्रस्थाश्रम में चित्तैकाग्रता के लिये ओंकारादि उपासना सूर्य्यादि में ब्रह्मचिन्तन कर के जब बुद्धि शुद्ध हो सकल पाप की निवृत्ति हो तब ब्रह्मजिज्ञासा की ओर आवे। इस से गृहाश्रम और वानप्रस्थाश्रम की भी रक्षा कही गई है। इस के पश्चात् जिस किसी को ऐहिक सकल भोग से और पारलौकिक स्वर्गादिफल भोग से भी परमवैराग्य उत्पन्न हुआ हो और शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान आदि पूर्णतया उदित हुए हों और इस संसार को अतितुच्छ जन्ममरणादि महादुःख का अनुभव करे और ब्रह्मप्राप्ति की उत्कट इच्छा हो तब वह पुरुष वेदान्त का अधिकारी होगा। क्योंकि श्रुति भी कहती है:-

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय
प्रक्षीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा
प्रदेयमेतत् सकलं मुमुक्षवे॥

जिस का चित्त शान्त हो और जितेन्द्रिय हो और भ्रम, विप्रलिप्सादि दोषरहित आज्ञाकारी गुणवान् सर्वदा अनुगत और मोक्ष की इच्छा करने वाला हो ऐसे शिष्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये।

इतने से ही प्रियंवदा! तेरी शङ्का निवृत्त होगई होगी अब तू समझ सकती है कि वेदान्त का अधिकारी कौन, और यह भी समझ गई होगी कि वैष्णवादि सम्प्रदाय के समान यह वेदान्त मार्ग कोई सम्प्रदाय नहीं। इस लिये किसी लौकिक वैदिक कर्म्म का उच्छेद नहीं हो सकता और बाल्यावस्था में अथवा प्रत्येक स्त्री पुरुष की प्रवृत्तिभी इस में कदापि नहीं हो सकती। इस लिये संसार के लोप का चिन्तन मतकर। ऐ पुत्री! यह तो तू समझ

बाल्यावस्था में अथवा मौढ्यावस्था में इस को कोई कदापि भी समझ सकताहै ? जैसे दोचार वर्षीय बालकको लज्जा और विवाहादिक विषय कदापि समझ में नहीं आ सकता। परम सुन्दरी के शृंगार से वह कदापि मोहित नहीं हो सकता। जैसे अल्पवयस्क छात्र कदापि अष्टाध्यायी और रेखागणित आदि का तत्व नहीं जान सकता तद्वत् इस वेदान्त की शिक्षा को भी सब नहीं समझ सकते। जन्म जन्मान्तर में जिसने बहुत से पुण्य सञ्चित किये हैं जिन्हें पुण्यबल से अच्छे गुरु मिलते हैं। योगादि के अभ्यास से और वेदान्त के पुनः २ श्रवण से जिन का अन्तःकरण परमनिर्मल हो चुका है और ऐहिक और पारलौकिक भोगों को जिन्हों ने अतितुच्छ समझ लिया है उन में से एकाध की इस में प्रवृत्ति होती है।

तू यह तो देख ब्रह्मज्ञान कर्म्मकाण्ड इत्यादि का उपदेश सृष्टि की आदि से ऋषिगण करते आए हैं किन्तु कर्म्म में कितने लोगों का प्रवेश हुआ और ज्ञानमार्ग में कितनों का ? आज भी पृथिवी पर कितने परमहंस देख पड़ते हैं ? कहना पड़ेगा, अर्व खर्व में कोटि २ वर्ष के अभ्यन्तर कभी एक आध ही ब्रह्मज्ञानी आत्मदर्शी हुए हैं। इस लिये जैसे अन्य सम्प्रदाय के उपदेश और सदाचार ब्रह्मणादि बाल्यावस्था ही से होने लगते हैं। तद्वत् इसका उपदेश नहीं हो सकता और जैसे प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने २ भिन्न २ चिह्न हैं वैसे सन्यासी के लिये कोई चिह्न नहीं। कण्ठी, तिलक, माला, मुद्रा, सिन्दूर, पञ्चककार, पञ्चमकार इत्यादि २ विविध चिह्न भिन्न २ देवता भिन्न २ उपासना पूजापद्धति आदि हैं तद्वत् वेदान्तमार्ग में नहीं। कण्ठी और तिलक धारण से ही वैष्णव बनजाता परन्तु सन्यासी के लिये अथवा विवेकी पुरुष के लिये यदि कोई चिह्न है तो वह केवल ज्ञानमात्र है, आत्मदर्शनमात्र है। कर्म काण्ड में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। परन्तु आश्चर्य्य की बात है कि अपने ज्ञान के लिये एक की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। हे पुत्री ! इस लिये चतुर्थाश्रम इस मार्ग के लिये योग्य कहा गया है।

तथापि यदि सद् गुरु के मिलने से प्राक्तन जन्मजन्मान्तर के फल से यदि संन्यासाश्रम के पूर्व ही ज्ञान वैराग्य युक्त हो तो वह पुरुष भी इसका अधिकारी है। यद्यपि तुम लोगों को न उतनी तपस्या और न विद्या और न समाधिप्रभृति साधन हैं। तथापि बारंबार मेरे उपदेशों के श्रवण से और प्राक्तन जन्म के पुण्यबल से इस मे प्रवृत्ति हुई है और राजकीय भोगादि मे भी तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं देखती किन्तु उन भोगों से उदासीनता और इस ओर उत्कट उत्कण्ठा देख कर ही राजपुत्री पद्मावती प्रभृति को मैं इस का उपदेश करने लगी।

प्रियंवदा—श्रीमती के उपदेश से ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतीत हुई। निःसन्देह ज्ञान श्रेष्ठ है मैं भी इस का अनुभव अब करने लगी। किन्तु पुनः शङ्का इस विषय में रह गई है और यह शङ्का वास्तव में श्रीमती के उपदेश से ही उत्पन्न हुई है। वह यह है कि जैसे अन्यान्य कार्य्यों को करते हुए नित्य नैमित्तिक आदि कर्म लोक करते हैं। समय नियत कर उस २ समय में उस २ कर्म के करने में बहुत सरलता होती और अभ्यास और परिपाटी भी बन्ध जाती है तद्वत् सांसारिक काम करते हुए भी मनुष्य ब्रह्मज्ञान का भी अभ्यास समय पर करले तो क्या क्षति।

रूपकुमारी—ब्रह्मज्ञान वैसा पदार्थ नहीं जो सब क्रियाओं के साथ किया जाय यह कोई अनुष्ठेय वस्तु नहीं। जैसे पूजा, पाठ, यज्ञादि नियत हैं वैसा यह नियत वस्तु नहीं। अमावास्या को दर्शेष्टि, पूर्णमासी को पौर्णमासेष्टि, एकादशी को एकादशीव्रत, ग्रहण में गङ्गादि स्नान, आश्विन में दुर्गा पूजा वैशाख में स्नानादिक नानाव्रत इत्यादि २ नियत काल, द्रव्य, स्थान होते हैं। तद्वत् इस ब्रह्मज्ञानके लिये न काल, न मास, न तिथि, न देश, न स्थान इत्यादि नियम हैं। इस के अतिरिक्त इस में सब से विशेषता यह है कि ब्रह्मज्ञान के पश्चात् उस पुरुष को किसी काम मे स्वयम् प्रवृत्ति नहीं होती। यहां तक कि शरीरधारणार्थ और लोकलज्जानिवृत्त्यर्थ अशन, वसन मे भी ज्ञानी

की प्रवृत्ति नहीं होती । अपने को वे सर्वथा भूल जाते हैं । ठीक बालक सी उनकी अवस्था होती है। जैसे बालक को लज्जा का बोध नही होता वस्त्र भी धारण नही करता । जगत् की भी कोई चिन्ता नहीं रहती। इस कारण केवल क्रीडातिरिक्त अन्य काम मे शिशुगण का प्रवेश नही तद्वत् परमहंस होते हैं। बालक से इन में यह विशे· षता होती है कि बालक ऐहिक क्रीडामें युक्त रहता है किन्तु परमहंस ब्रह्मानन्दरूप महासागर में डूबा रहता है इस लिये शौचादिक क्रिया में भी किञ्चिन्मात्र भी परमहंस की प्रवृत्ति नहीं देखती। तब समय नियत कर वह ब्रह्मज्ञान का भी अभ्यास करे यह कैसे हो सकता है।

और भी-किसी युवा वा वृद्ध पुरुष से कहा जाय कि जो २ खेल क्रीड़ा आप शैशवावस्था में किया करते थे उसको अब कीजिये तो वे उत्तर देंगे कि वे खेल उसी समय के लिये थे। अब उन के खेलने में लज्जा और घृणा होगी। इस हेतु हे पुत्री! इस मार्ग मे वही आवे जो प्रथम वेद से लेकर लौकिक सब शास्त्र जानता हो । द्वितीय, निःशेषतया सकल भोगों से उस के मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ हो। पुत्र कलत्र राज्य और सांसारिक मान प्रतिष्ठा इत्यादि सबको तिला· ञ्जलि दे चुका हो। केवल ब्रह्म जानने की ही अत्युत्कट इच्छा उत्पन्न हुई हो। वही किसी अच्छे गुरु के निकट जाकर ब्रह्मविद्या का उप· देश ग्रहण करे।

प्रियंवदा-माता! तब तो यह मार्ग अति कठिन है। जब भग· वन्नामोच्चारण से अथवा अन्यान्य यज्ञ व्रतादि के अनुष्ठान से भी मुक्ति लाभ पुरुष कर सकता है तो इन सहज मार्गों को छोड़ कर वेदान्तविहित मार्ग में लोक क्यों प्रविष्ट हों।

रूपकुमारी-तेरा कथन बहुधांश में योग्य है किन्तु आत्मज्ञान विना मुक्ति नहीं। मार्ग बहुत कहे गये हैं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु श्रुति प्रतिपादित जो मार्ग है वही आत्मोद्धार के लिये समर्थ है। परमपुरुषार्थ आत्मा ही है। उसका त्याग कदापि करना उचित नहीं।

प्रियंवदा-एक इस में यह सन्देह उत्पन्न होता है कि सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये सबकी चेष्टा है। किन्तु आत्म प्राप्ति की चेष्टा में कोई भी लगा हुआ नहीं है। दूसरी बात यह है कि आत्मा तो प्राप्त है ही फिर उस की प्राप्ति क्या ? । सब के शरीर में आत्मा विद्यमान है वही श्रवण मनन इत्यादि व्यापार करता है। इस के अतिरिक्त यदि कोई वस्तु ही नहीं तो वह स्वतःप्राप्त है। इस के लिये चेष्टा करना सर्वथा निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। तीसरी बात यह है कि यदि मुक्तिमें कुछ विशेषता नहीं है किन्तु वह केवल कैवल्य ही है अर्थात् न वहां सुख न दुःख, न विधि न निषेध, न प्रकाश न अन्धकार, न खेल, न क्रिया, न निवृत्ति, न मित्रोंके साथ भाषण, न शत्रुओं से कलह अर्थात् सर्वव्यवहार सर्व क्रिया से शून्य यदि मुक्ति है तो मुझे यह निरर्थक ही प्रतीत होती है। किसी ने ठीक कहा है:-

वरं वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति ।
न तु निर्विषयं मोक्षं मन्तुमर्हति गौतम ॥

हे गौतम ! जो कोई शून्य वृन्दावन में शृगाल भी होने की इच्छा करता है वह अच्छा है, किन्तु निर्विषय मोक्ष उस से अच्छा नहीं। माता ! जैसे पुराणादिक में वर्णन आता है कि गोलोकादि में जाकर सेवक सेव्य परमात्मा का सदा दर्शन पाता रहता है और संकीर्त्तन नृत्यादि सब सुख भोगता है किन्तु मुक्ति में यदि वह जीव केवल एकाकी ही रहता तो उसको आनन्द ही क्या आता होगा और ऐसे आत्मा की प्राप्ति ही से क्या ?

रूपकुमारी-इसमें सन्देह नहीं कि सकल मनुष्यसमाज सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति की चेष्टा में लगा हुआ है। आत्म-प्राप्ति का यत्न किसी को नहीं। श्रुति यह कहती है -

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
निदिध्यासितव्यः। इत्यादि

इस आत्मा के उपलम्भ के सम्बन्ध में सिद्धान्तमुक्तावलिरचयिता श्रीप्रकाशानन्द यति की सम्मति थोडी सी सुनाती हूं। ध्यान से श्रवण करः-

आत्माय: सर्ववस्तूनां यदर्थं सकलं जगत्।
आनन्दाब्धिः स्वतन्त्रोऽसावनादेयः कथंवद॥

सर्व वस्तुयों का जो आत्मा है जिस के लिये यह सकल जगत् है। जो आनन्दाब्धि स्वतन्त्र है वह आत्मा अग्राह्य कैसे? कह।

यदन्यद्वस्तु तत्सर्वं यद्भेदे नरशृंगवत्।
सत्ता सर्वपदार्थानामनादेयः कथं वद॥

जो कुछ अन्य वस्तु है वह सब जिस के भेद में मनुष्यशृंगवत् मिथ्या है जो सर्वपदार्थों की सत्ता है वह आत्मा अग्राह्य कैसे? कह।

यद्वशे प्राणिनः सर्वे ब्रह्माद्याः कृमयस्तथा।
ईशानः सर्ववस्तूनामनादेयः कथं भवेत्॥

जिसके वश में सर्वप्राणी, ब्रह्मादि देव और कृमि हैं और जो सर्ववस्तुयों का ईश्वर है वह अग्राह्य कैसे हो?

यच्चक्षुः सर्वभूतानां मनसो यन्मनो विदुः।
यज्ज्योतिर्ज्योतिषां देवो नोपादेयःकथंविभुः॥

जो सर्व भूतों का नयन है जिसको मन का भी मन जानते हैं। जो ज्योतियों का ज्योति है वह विभुदेव ग्राह्य कैसे नहीं।

मोदप्रमोदपक्षाभ्यामानन्दात्मा समोगतः।
जीवयत्यखिलान् लोकाननादेयः कथ कुतः॥

जो आत्मा आनन्दस्वरूप है जो मोद और प्रमोदरूपपक्षों से अखिल लोकों को जिला रहा है वह आत्मा अग्राह्य कैसे और क्यों?

यस्यानन्दसमुद्रस्य लेशमात्रं जगद्गतम् ।
प्रसृतं ब्रह्मलोकादौ सुखाब्धिं कः परित्यजेत्॥

जिस आनन्दसमुद्र का लेशमात्र इस जगत् में प्राप्त है । जो ब्रह्मलोक से लेकर सर्वत्र व्याप्त है उस आनन्दाब्धि को कौन त्यागे?

हैरण्यगर्भमैश्वर्यं यस्मिन्दृष्टे तृणायते ।
सीमा सर्वपुमार्थानामपुमर्थः कथं भवेत्॥

जिस के देख लेनेसे हिरण्यगर्भका ऐश्वर्य्य भी तृणवत् होजाताहै जो सर्व पुरुषार्थों की सीमा है । वह अपुरुषार्थ कैसे?

यत्कामा ब्रह्मचर्य्यन्त इन्द्राद्याः प्राप्तसम्पदः।
स्वस्वभागं त्यजन्त्येव न पुमर्थः कथं नृणाम्॥

सर्वैश्वर्य्य सम्पन्न इन्द्रादि देवभी जिस की कामना से ब्रह्मचर्य्य करते हुए अपने २ भोग त्याग देते हैं वह आत्मा मनुष्यों का पुरुषार्थ कैसे नहीं?

यद्दृष्टसाफलाः सर्वाः वैदिक्यो त्रिविधाः क्रियाः॥
यागाद्या विहितास्तस्मिन्नुपेक्षा वद ते कथम्॥

जिस के दर्शन के लिये ही विविध वैदिक क्रियाएं की जाती हैं यागादि भी जिस के लिये किये जाते हैं । उस में तेरी उपेक्षा कैसे? कहो ।

यद्दृष्टिमात्रतः सर्वाः कामाद्या दुःखभूमयः ।
विनश्यन्ति क्षणेनासावुपादेयः कथं न ते ॥

जिस की दृष्टिमात्र से कामादिक समस्त दुःख क्षण में विनष्ट होजाते हैं वह आत्मा तेरा ग्राह्य कैसे नहीं?

आह्लादरूपता यस्य सुषुप्ते सर्वसाक्षिकी ।
तत्रोपेक्षा भवेद्यस्य तदन्यः स्यात्पशुः कथम् ॥

सुषुप्त्यवस्था में जिस की आह्लादरूपता सर्वसाक्षिकी और प्रत्यक्षा हो उस में जिस की उपेक्षा हो वही महापशु है । उस से अन्य पशु कैसे ।

इत्यादि स्वामी प्रकाशानन्द यतिवर के कथन से आत्मा ही उपादेय, पुरुषार्थ और सीमा है । अन्य नहीं । हां लोगों की इस ओर प्रवृत्ति नहीं है इस लिये श्रुति का दोष कुछ नहीं । लोगों की प्रवृत्ति तत्व की ओर नहीं होती । कोटियों में से एकाध पुण्यात्मा पुरुष ही सत्य पहचान सब वस्तुयें को त्याग कर आत्माके साक्षात्कार में संलग्न होता है । लोक जैसा कहे वैसा ही किया जाय इस में प्रमाण कुछ नहीं और लोकबुद्धि से ही वेदातिरिक्त सब ग्रन्थ, शास्त्र पुराणादिक और विविध सम्प्रदाय निःसृत हुए हैं । इस हेतु वे जैसा कहें वैसा ही करना भी चाहिये, यह असंगत है । श्रुत्यनुकूल मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर है । लोकानुसार कर्त्तव्य का निषेध स्वयं श्रुति करती है । यथाः—न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां येनस्तद्व्याचचक्षिरे ॥

वहां चक्षु नहीं जाता, वाणी नहीं जाती, मन भी नहीं, न हम जानते न समझते हैं । जैसे इसका अनुशासन (उपदेश) हो । विदित अथवा अविदित दोनों से वह अन्य ही है । यह हम पूर्वजों से सुनते आए हैं । जो हमको उस की व्याख्या करके सुनाते थे ।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

जो वचन द्वारा अच्छी तरह से उदित न होता जिसने वचन को उदित किया है उसी को ब्रह्म तू जान । यह ब्रह्म नहीं जिसको उपासना सब कर रहे हैं ।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् । तदेव० ।
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।तदेव०।
यच्छ्रोत्रेणनश्रृणोति येन श्रोत्रमिदंश्रुतम्।तदेव०।
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदंमुपासते ॥

मन से जिसका मनन नही होता। जिस ने मन का मनन किया है ऐसा कहते हैं। उसी को ब्रह्म तू जान यह ब्रह्म नहीं । जिस की उपासना सब करते हैं। जिस को नेत्र से नहीं देखता जिससे नेत्रों को देखता है उसी को०। जिस को श्रोत्र से नहीं सुनता जिस से यह श्रोत्र सुना जाता है उसी को०। जो प्राण से सांस नहीं लेता किन्तु जो प्राणको सांस देता है उसीको ब्रह्म तू जान। यह ब्रह्म नहीं है। जिस को उपासना सब करते हैं।

इन मन्त्रों से विस्पष्टतया दिखलाया गया है कि जिस की उपासना पूजा पाठ में लोग लगे हुए हैं और सर्वसाधारण जिस को परमपुरुषार्थ समझते हैं वास्तव में वह ब्रह्म नही है। न वह परमपुरुषार्थ ही है। माता से बढ़कर श्रुति कल्याणकारिणी है और यह जीव बात बातमें अपने उद्देश से विच्युत होजाता है। इसलिये श्रुति भ्रान्त जीव को सन्मार्ग पर लेजाने के लिये वारंवार सदुपदेश देती रहती है। इस हेतु सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिये भी चेष्टा करते हुए मनुष्य अपने उद्देश को प्राप्त नहीं होते। अतः श्रुति के उपदेश के अनुसार चलना ही उचित है।

अब जो तेरा प्रश्न "प्राप्त आत्मा की प्राप्ति क्या?" यह है इसका संक्षेप से उत्तर यह है। आत्मा यद्यपि सदा प्राप्त ही है तथापि यह अपने को भूले हुए है। इसलिये इसकी प्राप्ति की चेष्टा भूयोभूयः की जाती है। इस के सम्बन्ध मे अनेक बातें पूर्व में कह आई हूं। पिष्टपेषण करना व्यर्थ है। तथापि प्रसिद्ध उदाहरण बतला कर आगे

चलूंगी। किसी पुरुषका कङ्कण यद्यपि हस्तमें ही था तथापि उसे ऐसा भ्रम होगया कि मेरा कङ्कण कहीं गिरगया। इस लिये वह व्याकुल होकर कङ्कण ताकता फिरता था। किसी आप्त पुरुष ने उसे कहा कि तू कैसा मूढ़ है तेरे हाथ में ही यह कङ्कण है देख तू व्यर्थ क्यों व्याकुल होता। वह भ्रान्त कङ्कण देख अति प्रसन्न हुआ। यहां प्राप्त कङ्कण की ही प्राप्ति है परन्तु विस्मरण के कारण पुनः उसकी प्राप्ति कही जाती है।

हे पुत्री! आत्मसम्बन्ध में प्रायः सबही भ्रान्त हैं क्योंकि कपिल ऐसे तत्वज्ञानी आत्मा को विभु मानते हुए भी बहुविध मानते हैं अर्थात् आत्मा अनन्त हैं। कणाद भी आत्मा का अनन्तत्व ही स्वीकार करते हैं। चार्वाक आदि इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं। इस अवस्था में कहना पड़ता है कि आत्मविमुख यह सम्पूर्ण जगत् है। श्रुति ही इस को यथार्थरूप से बतलाती है इस कारण वारंवार इस का मनन, श्रवण और निदिध्यासन करते रहना चाहिये। अब जो तेरा प्रश्न मुक्ति के निर्विषयत्व सम्बन्ध में है वहां केवल इतना ही वक्तव्य है कि श्रुति को छोड़ अन्य कल्पनाएं मानना ही अनर्थ का बीज है, क्योंकि ईश्वर एक है वही प्राप्य है इसमें तो किञ्चिन्मात्र भी किसी आस्तिक को सन्देह नहीं। तब प्रथम तीन ब्रह्मा विष्णु महेश मानना ही व्यर्थ है। क्या एक ही ईश्वर में कर्तृत्व पातृत्व संहर्तृत्व तीनों सामर्थ्य नहीं हैं जो तीन ईश्वर तीन सामर्थ्यों से युक्त माने जायं। कहीं भी श्रुति त्रैतवादिनी है? नहीं, किन्तु श्रुति विरुद्ध पुराणादिक सर्वशास्त्र त्रिदेवताप्रधानतापरक हैं। ये सब कल्पित होने के कारण सर्वथा त्याज्य हैं। समय २ पर किसी कारणवश उस २ समय के आचार्य्य वैसी २ रोचक बातें बना लिया करते हैं। तदनुसार ही ब्रह्मा विष्णु महेश भी बना लिये गए। अतः गोलोक, कैलाश और इन्द्रपुरी केवल रोचकमात्र हैं। इसी प्रकार अन्यान्य सहस्रशः सम्प्रदाय भी वेदविरुद्ध चल पड़े। यह भी हेय हैं।

हे पुत्री! यह तो विचार यदि मुक्ति भी सविषय हो अर्थात् उस

अवस्था में उत्तमोत्तम खान पान, सम्भोग, नृत्य गानादि-इत्यादि लौकिकवत् ही हों तो वे लोकवत् ही विनश्वर भी होंगे। तब इसके लिये क्लेश कर तपस्या प्रभृति का प्रयोजन ही क्या। पामरातिपामर पृथिवीस्थ सहस्रशः पुरुषों को वैसा सुख यहां ही प्राप्त है और भी जहां शरीर और पार्थिव अथवा भौतिक वस्तु की सत्ता होगी वे अवश्य ही क्षणिक होंगे। तब इसके लिये चेष्टा करना सर्वथा मूर्खता है। पशुप्राय अतिमूढ़जनों के लिये वैसा उपदेश किया गया है कि इस प्रकार भी वे कुछ सदनुष्ठान की ओर आवें असत्य की ओर से सत्य की ओर मुख फेरें।

मुक्तिकी अवस्थामें केवल आनन्दही आनन्द रहताहै, इसको सब नहीं समझ सकते हैं। केवल समाहित योगिगण ही समाध्यवस्था में अनुभव करते हैं। जगत् में इस की कोई उपमा नहीं जिस के द्वारा यह समझाया जाय। जिस ने कभी मधुरता का स्वाद नहीं जाना है उस को सहस्रों व्याख्यानों से भी सहस्र पण्डित मिलकर भी माधुर्य्य का बोध नहीं समझा सकते। किन्तु मधुर आम्रादि भोजन कर लेने से तत्काल ही स्वयं उसको मधुरता का ज्ञान झट से होजायगा। इस हेतु श्रुति कहती है:-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूँ स्वाम्॥

यह आत्मा व्याख्यानों से लभ्य नहीं होता न मेधा से न बहुधा श्रवण से ही प्राप्त होता है। जिस के ऊपर अथवा जिस को यह स्वयं कृपा से चुनता है उसी से यह आत्मा लभ्य होता है उसीको यह आत्मा अपनी तनु दिखलाता है। पुनः-

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसोवापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

दुश्चरितों से अविरत पुरुष उस को पा नहीं सकते। न अशांत और न असमाहित ही पुरुष उस को पा सकते हैं जिस का मन अशान्त है उस से वह आत्मा अत्यन्त दूर है उसको केवल ज्ञान से ही प्राप्त कर सकता है। पुनः—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारञ्चाधिगच्छति॥

जो अविज्ञानवान् है और जो अमनस्क सदा अशुचि है वह उस पद को पा नहीं सकता। वह पुनः २ जन्म मरणरूप संसारमें उगता और डूबता रहता है। किन्तुः—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥

जो विज्ञानवान् समनस्क और सदा शुचि है वह उस पद को पाता है जिस को पाकर पुनः कदापि जन्म मरण प्रवाहरूप सागर में वह जन्म नहीं लेता। हे पुत्री! पुनः आगे ध्यान से श्रवण कर।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

यद्यपि सब भूतों में गूढरूप से यह आत्मा प्रकाशमान हो रहा है तथापि इस को सब नहीं देखते किन्तु जिन की बुद्धि श्रेष्ठ और सूक्ष्म है वे ही सूक्ष्मदर्शी उस को देखते हैं। हे पुत्री! इस कारण संसारलोलुप विषयी लम्पट पुरुष को वृन्दावन की गोपीक्रीड़ा ही अच्छी लगेगी। वह निर्विषय मुक्ति उन्हें रुचिकर न होगी। यह तो देख जो आनन्दसागर है जिस आनन्द की एक मात्रा से यह त्रिभुवन आनन्दित हो रहा है उसको निर्विषय कहना बनता नहीं। उसे पाकर कुछ अवशिष्ट रहता ही नहीं जिस की पुनः कामना हो। इति संक्षेपतः।

प्राप्य वस्तु केवल आत्मा ही है उसी की प्राप्ति के लिये सर्व-साधन सर्ववेद सबउपनिषद् और सब पुराणादिकहैं। विवेक दृष्टिसे यदि देखा जाय तो सब ही ग्रन्थ उसी ईश्वर की उपलब्धि के लिये प्रवृत्त हुए हैं भेद इतना ही है कि उस ब्रह्म को नाना प्रकारसे मानते हैं और अपनी २ बुद्धि के अनुसार उस में गुणों का आरोप करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, सूर्य्य, अग्नि, इन्द्र, वरुणा, पूषा, भगवती, दुर्गा, काली, बुद्ध, जिन, ऋषभदेव, राम, कृष्णा, मत्स्य वराह आदि इत्यादि २ नाम रख कर उसी को स्रष्टा, पाता संहर्त्ता मान अपनी २ मति के अनुसार नाना साधन पूजापाठ इतिहास, पुराण इत्यादि २ बनाकर उसी की उपलब्धि के लिये अनुष्ठानकरते और उपदेश देते हैं। विचार दृष्टि से जब मैं देखती हूं तो कहना पड़ता है कि सर्वांश में उस आत्मासे कोई विमुख नहीं। सब उसी ओर दौड़ना चाहते हैं कोई साक्षात् और कोई परम्परा से उसको पकड़ना चाहते हैं। कोई उस के सृष्ट सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, पृथिवी, अप, तेज, नदी, समुद्र, पर्वत, वट, तुलसी इत्यादि २ वस्तुओं की भी पूजा उस की उपलब्धि का साधन समझते हैं। ये व्याकुल मनुष्यजीव उसी को ढूंढ़नेके लिये इतस्ततः मारे २फिरते हैं और आश्चर्य्य यह है कि जिसी किसी मनोरथमात्र कल्पित वस्तु को पाकर अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं जो कोई जग-न्नाथ द्वारिका रामेश्वर और वदरिकाश्रम से हो आतेहैं वे कितने ही मूढ अज्ञानी हो आत्मा से उन्हें कुछ भी परिचय न हुआ हो तथापि वे अपने को परमपवित्र आत्मदर्शी इतर लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठ साधु,सन्त मानने लगते हैं वे अपने को क्या नहीं मानते हैं यह कहना कठिन है। उस की माया ऐसी प्रबला है कि यदि शिष्यगणों से अथवा मोहित इतर जनोंसे वे ईश्वर नाम करके पुकारे जायं तो बड़े प्रसन्न होकर इस पद को अङ्गीकार करलेंगे। कहां तक मैं वर्णन करूं, एक निर्बुद्धि यदि सदा तिलक लगाया करता है वह उतने ही से कृतकृत्य समझता है। कोई बड़े ज़ोर से रामादि नाम उच्चारण

करता हुआ अपने को धन्य मानता है इत्यादि बहुतसी मानवबुद्धिकी विलक्षणताएं तू देखती है किन्तु इतनीहीमें यदि कृतकृत्यता, आत्म धन्यता, परमपुरुषार्थ सिद्धि और मानवजन्म की सफलता होती तो अच्छे २ सत्पुरुष इतने परिश्रम ही क्यों करते। इस से सिद्ध है कि आत्मप्राप्ति के लिये ज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। वह ज्ञान निःसन्देह प्रयत्न साध्य है। इस हेतु वेदान्तके प्रचार से अखिलविद्याओं से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विद्या के विस्तार की सम्भावना है न कि सब वस्तुओं के लोप की आशङ्का।

इति श्री रूपकुमारी–विरचिते
वेदान्तपुष्पाञ्जलौ प्राप्यविवेक
गुच्छः समाप्तः।



धर्म्मादित्रयव्यवस्था

प्रियंवदा-यदि वेदान्त ही सत्य हो तो वे पुराणादिक व्यर्थ हो जांय।

रूपकुमारी-इस विषय को कपिलमत निराकरण और कणाद मत निराकरण इत्यादि प्रकरणों मे दिखला आई हूं। पुनः आगे इस का कुछ निरूपण करूंगी। संक्षेप से यहां तू यह जान कि जीव की गति अति विचित्र है रुचि भी नाना हैं और मैं कतिधा कह भी चुकी हूं कि अल्पज्ञ जीवों के बनाए हुए प्रायः सब ग्रन्थ हैं किन्तु श्रुतियां परमात्मा से आविर्भूत हुई हैं। यह सर्व आस्तिकों की सम्मति है इस हेतु श्रुतियां नित्य और सर्वदोष रहित मानी जाती हैं। अतः एव श्रुत्यनुसार विवेक करना सर्वथा उचित है। वेदव्यास श्री शङ्कराचार्य्य प्रभृति इसी विषय को लक्ष्य में रखकर अपने सिद्धांत को स्थापित करते आए हैं और अन्यान्य मतों की समालोचना और समीक्षा करके निःसारता दिखलाई है। एवमस्तु। तुझे पुनः जो शङ्का हो सो कर। जहां तक होगा मैं उस को दूर करने के लिये प्रयत्न करूंगी।

प्रियंवदा-आपके वचनामृत से मैं आप्लावित हो रही हूं। किन्तु सन्देह भी बहुत हैं उनकी निवृत्ति भी यदि न करूं तो सन्दिग्धावस्था में रह कर अनृतभागिनी न होऊंगी। अतः मेरे वक्ष्यमाण सन्देहों को कृपया श्रीमती जी अवश्य दूर करेंगी, वे ये हैं:-

शङ्का-कार्य्यसहित अज्ञान की निवृत्ति और ज्ञान की प्राप्ति ही वेदान्त का प्रयोजन है क्योंकि यह व्यावहारिक और प्रातिभासिक जगत् अज्ञानकृत है अथवा सर्वथा मिथ्या है इस की निवृत्ति हो और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि हो अथवा कार्य्यसहित दुःखों के अत्यन्ताभाव से और अपने स्वरूप में स्थिति अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति करने से ही वेदान्तशास्त्र की अर्थवत्ता होती है और यह भी कहा जाता है कि वेदान्त नाम उपनिषदों का है वे भगवद्वाक्य और

अपञ्चवत् अनादि भी और मिथ्या भी हैं अर्थात् मानवसृष्टि की आदि से ही इन ग्रन्थों की भी विद्यमानता और अध्ययन अध्यापन चले आते हैं। इन उपनिषदों के तत्वों को लेकर वेदान्त के शतशः सहस्रशः ग्रन्थ भी बन गए हैं। इन के पठन पाठन और तदनुसार उपदेश, विशाल २ मन्दिर और गद्दियां आदि भी सर्वत्र लगी हुई हैं परन्तु मैं पूछती हूं कि अब तक न अज्ञान वा दुःखों की निवृत्ति हुई और न परमानन्द की प्राप्ति ही हुई। किसी को परमानन्द की प्राप्ति तो सहस्रशः कोश दूर रहे किन्तु लौकिक सुख भी शारीरिक (देही, आत्मा) को न मिला। अनादि काल से ही दुःखों और अज्ञानों की राशि की राशि चली आती है। मैं नम्रभाव से जिज्ञासा करती हूं कि अब तक कितने "शारीरिक" परमानन्दस्वरूप हुए। यदि दुःखादिकों की निवृत्ति की कथा केवल आडम्बर और अर्थवाद और अरोचन ही है तो इस का आरम्भ करना निष्प्रयोजन है।

पुनः—जब वैदिक, पौराणिक, स्मार्त, तान्त्रिक सम्प्रदाय और बौद्ध, जैन, पारसी, क्रिस्तानी और मुसलमानी धर्म्म आदिकों के अगण्य असंख्य ग्रन्थ रहने पर भी मानवसन्तानों की अतिशोचनीय दुर्दशा देखती हैं। तब श्रीमती के वेदान्त से यह जगत् परिडन अब दुःखशून्य और ज्ञानानन्दमय हो जायगा यह केवल मनोरथमात्र अथवा बालोन्मत्त की क्रीडा है। मैं देख रही हूं कि यह पृथिवी मन्दिरों और धार्म्मिक क्षेत्रों से भरी हुई है। कहीं पौराणिक बड़े ठाट बाट से उपदेश और कथा बांचते हैं। कहीं मुहम्मदीय मुसलमान भाई सहस्रशः इकट्ठे होकर बड़ी गम्भीरता से नमाज़ पढ़ रहे हैं। कहीं क्रिस्तान महाशय अपने सुन्दर और आकाश में अभिमान प्रकट करते हुए विशाल मन्दिरों में बेञ्चों पर सुखपूर्वक बैठ ईश्वर की प्रार्थना कररहे हैं। इसी प्रकार बौद्धादि भी अपने २ धर्म्मानुसार पूजापाठ में आसक्त हैं। तथापि जगत् में दुःखों और अज्ञानों के समुद्र लहरें मार रहे हैं। परितः नानाक्लेशों से पीडित मनुष्यसन्तानें आर्त्तनाद से कर्णविदीर्ण कर रही हैं। दूसरी ओर इसी दुःख

की निवृत्ति और ज्ञान अथवा आनन्द की प्राप्ति के हेतु ही राज्य की ओर से कैसी सुव्यवस्था की गई है। समस्त देशमें छोटी और बड़ी सहस्रशः पाठशालाएं स्थापित हुई हैं। पार्लियामेण्ट और हाईकोर्ट आदि विविध न्यायालय अपने २ कार्य्य में तत्पर हैं। बड़े लाट महोदय से लेकर ग्रामीण चौकीदार तक राजकीय पुरुष उत्तमोत्तम प्रबन्ध में तन्मय हो रहे हैं। तथापि क्लेशों की सीमा नहीं। भूखों आदमी मर रहे हैं। अज्ञानदलदल में डूबते चले जाते हैं। कहीं किन्हीं उपायों से भी मैं मानवसन्तानों का उद्धार नहीं देखती। कोई मक्का मदीने की ओर दौड रहे हैं। कितने जेरुसलम को ही ईश्वर का भवन समझ वहां शिर फोड़ते हैं। दूसरे सर्प से लेकर सूर्य्यतक कोई पदार्थ ही नहीं जिनकी पूजापाठ न करते हों। इस प्रकार सब सम्प्रदायी महामोह का ही परिचय दे रहे हैं। इस अवस्था में मर्त्यजीवों के कल्याण की कौन सी अनुत्तम पद्धति निकाल वेदान्ती यशोभागी होने की आकांक्षा रखते हैं। अगस्त्य, विश्वामित्र, वसिष्ठ, मूसा, ईसा, मुहम्मद, जौरो आष्टर, बुद्ध, जिन, ऋषभ, महावीर, कबीर नानक, दादू, राममोहन, केशव, दयानन्द एवम् आचार्य्यशङ्कर, रामानुज, वल्लभ आदिकों के उपदेशों से क्या फल फला जो अब वेदान्ती कोई नवीन बीज बोना चाहते हैं?

पुनः वेदान्त समान महामिथ्या शास्त्र का बीज फैला प्रत्युत वेदान्ती अमङ्गल भागी होंगे क्योंकि "मैं ब्रह्म हूं। तू ब्रह्म है। ये जीव ब्रह्म हैं। यह सृष्टि मरीचिकावत् और रज्जुसर्पवत् सर्वथा मिथ्या है अर्थात् न सृष्टि है न हुई न होगी" इत्यादि महा २ गप्पों से यह शास्त्र परिपूर्ण है। प्रत्यक्षविरुद्ध अर्थों का उपदेश करना केवल पागलों का कार्य्य है। वेदान्त भी यदि शास्त्र कहावें तो बालोन्मत्तों का प्रत्येक वाक्य ही महावाक्य होवे और सम्प्रति नव २ शास्त्रों के अद्भुत आविष्कार ने प्राचीन बातों का मिथ्यात्व दिखला अपना सिक्का जब जमालिया है। तब पुरानी लीक पीटते हुए वेदान्ती विद्वानों में हास्यास्पद होंगे।

रूपकुमारी-तेरे प्रश्नों में मुख्य पांच अंश हैं, वे ये हैं। १-अनेक सम्प्रदायों की विद्यमानता से जब अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति न हुई तो वेदान्तसे होगी, यहकथाहोक्या? २-प्रकाण्ड और नाना शाखावलम्बी राज्यके अत्युत्तम प्रबन्धों से भी दुःखकी निवृत्ति नहीं देखती तब वेदान्त से यह कार्य्य सिद्ध होगा-यह कैसे आशा हो सकती है? ३-पृथिवी पर के सहस्रशः शिक्षा-विभाग भी अपनी सारी शक्ति लगाकर जब दुःखध्वंस करने से हार मानते हैं। तब वेदान्त का यह उद्योग दुःसाहस है। ४-प्रत्यक्षविरुद्धवस्तुयों का शासन करने वाला वेदान्त है। अतः यह हेय होना चाहिये न कि उपादेय? ५-पञ्चम अंश यह है कि वेदान्त के भी शतशः ग्रन्थ जब वर्तमान ही हैं तब आप क्यों नूतन उद्योग कर रहे हैं? मैं इन पांचों अंशों पर अतिसंक्षेप विचार प्रकट करूंगी। इस को अपनी बुद्धि से अधिक बढ़ाले। प्रथम तू यह विचार कि यदि धर्म, राज्य और शिक्षा-विभाग के निरन्तर परिश्रम उद्योग और सुप्रबन्ध से मानवक्लेशों की निवृत्ति न हुई तो उनका निज उद्देश सिद्ध न हुआ। अतः वे व्यर्थ हैं-अथवा इन में कोई महती त्रुटि है। जिस से कार्य्यसिद्धि में बाधा आपड़ती है यह अवश्य कहना पड़ेगा। इस के प्रथम जिस अन्तःकरण द्वारा हम धर्माधर्म सत्यासत्यादि का निर्णय करती हैं। वह कैसे बनता है और धर्म्म का वर्त्तमानकालिकस्वरूप क्या है? इत्यादि बातें जानकर तब निर्णय करने में प्रविष्ट होना चाहिये। वे दो चार बातें ये हैं।

१-अन्तःकरण का परिस्थितिके अनुसार बनना

जिस कुल, परिवार, ग्राम, देश और धर्म व सम्प्रदाय में मनुष्य का जन्म होता है जैसा जातीय साहित्य प्रथा आचार विचार आदि रहता है। तद्रूप ही उस का अन्तःकरण बनता चला जाता है। उसी को परम सत्य मान उसी में निमग्न रहता है। किन्तु यह महापुरुष का लक्षण नहीं। आप देखें कि जिसका जन्म वैष्णव गृह में है वह बाल्य से ही माता, पिता आदिकों का अनुकरण करता हुआ

विष्णु के नामों को परम पवित्र समझ उनके पूजने गाने और बजाने मे लग जायगा। उसे मांसभक्षण से घृणा, हिंसा से क्लेश, तुलसी माला में आदर, चन्दन लगाने में श्रद्धा आदि क्रियाएं होने लगेंगी। शाक्त और शैव शिशुजन शैशवावस्था से ही मांसरुचि पशुबलिदानासक्त मदिरास्नेही और दुर्गा शिवादिक का पूजन करने लगेगा। इसी प्रकार मुहम्मदीय धर्म व कुरान को ही परममान्य समझ गोहिंसा से निवृत्त रहने का कदापि स्वप्न भी न देखेगा। शूकर नाम से भी तोबा करेगा और मुहम्मदी हो उस की शरण होंगे। ईसाममसीह बालक ज्ञानारम्भ काल से ही ईसाका भक्त,बाइबिल का पाठक और हिन्दू के समान कदापि भी जातिपांति के बखेड़े को सत्य न समझेगा। स्पर्शदोष का ज्ञान भी उसे न होगा। मुसलमान और क्रिस्तान विष्णुप्रतिमादिकों को तोड़ने फोड़ने में किञ्चिन्मात्र भी आतङ्क न करेगा। हिन्दू मन्दिरों को गिराना उस का धर्म होगा। विस्तार से मैं क्या लिखूं। मनुष्यों का अन्तःकरण अपनी परिस्थिति के अनुकूल तैयार होजाताहै। तदनुसारही समस्त संस्कारों से वे ऐसे शृङ्खलित और पाशबद्ध होजाते हैं कि अपनी परिधि के आगे उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। रागद्वेष पक्षपात आदि समस्त दुर्गुण इस में आजाते हैं यह ज्ञान का प्रथम और महाशत्रु है।

(२) जिज्ञासा की निवृत्ति

हम प्रतिदिन देखती हैं कि शिशुयों में कितनी जिज्ञासा होती है। सूतिकाभवन में शय्या पर से परितःस्थित पदार्थों को आंख फाड़ फाड़कर वह देखता रहता है। ज्योंही वह बोलने लगता है त्योंही प्रत्येक नूतन वस्तु को देखकर पूछने लगता है कि यह क्या है, यह क्या है? कभी आप छोटे बालक को लेकर बाहर निकलें तो मालूम होगा कि वह प्रश्नों से कितना नाकों दम कर देता है। प्रत्येक पदार्थ को देख कर अवश्य पूछेगा कि यह क्या है? भाई! यह क्या है? इस से सिद्ध है कि मनुष्यजाति में जानने की उत्कट आकांक्षा अनुगत और स्वाभाविक है। किन्तु बड़े होने पर मनुष्य की वह

जिज्ञासा नाना शास्त्रावलम्बिनी हो जाती है। वन्य मानवजाति में यह अतिपरिमित सी रहती है। शरीरयात्रार्थ जितने नामों की आवश्यकता होती है उतनेही के परिचय तक वह स्थित रहती है। वे वन्य नाममात्र के परिचायक होते हैं गुणों के नहीं। बहुत सी मानव जातियां इतनी मूर्ख हैं कि संकेतमात्र से ही व्यवहार करती हैं। पदार्थों के नाम भी उन में नहीं। सभ्यसमाज में उस जिज्ञासा की अत्यन्त दुर्दशा होती है। बालकों को शिक्षा मिलने लगती है। पाठशालाओं में वे पढाए जाने लगते हैं। जिसका जैसा साहित्य रहता है वहां तक उसको वह जिज्ञासा चलती है। आगे बढ़ने नहीं पाती, रोकी जाती है। यदि उसका धर्म पुस्तक कहता है कि पृथिवी अचला और असीम है। इसके धारण करने वाले दिग्गज, कूर्म, नाग, वराह आदिक हैं। पुनः चन्द्रसूर्य्य को राहु दुःख देता है। यह गङ्गा साक्षात् विष्णु के पद से निकल सगर सन्तानों को तारने के हेतु पृथिवी पर आई है। वह यह जिज्ञासा नहीं कर सकता है कि शरीर धारी कूर्म आदि किस पर खड़े हैं और वे कूर्मादिक कितने बड़े हैं। जो इस पृथिवी को पकड़े खड़े हैं। इस भू के समान ही चन्द्र और सूर्य्यादिक आकाशस्थ ग्रह हैं तो उनको धर रखने वाले भी कोई होंगे। ईदृश प्रश्न करने वाले रोकदिए जायगे। न मानेंगे तो वे नास्तिक समझे जायंगे। सर्वनदियों के समान ही गङ्गा को भी किसी पर्वत से निकली समझने वाले जाति से बहिष्कृत कर दिए जायंगे। इसी प्रकार कुरान के विरुद्ध एक अक्षर भी मुसलमान सन्तान बोलने पर काफिर माने जायंगे। बायबिल के निराकर्त्ता साक्षात् अग्निसात् किए जायगे। जीते गाड़े जायंगे। इस हेतु अर्ध सभ्यसमाज में बुद्धि, तर्क, युक्ति, विद्या आदि की उन्नति नहीं होने पाती। सभ्यजातियों में इन बायबिल, कुरान, पुराण आदिकों के कारण बहुत से विद्वान् सताए और मारे गए। मूर्खजनों के निकट उनकी बुरीदशा की गई है।

विद्यादि विनाश

इसका परिणाम भयङ्कर होता है अन्ध परंपरा चल पड़ती है। अन्धगोलाङ्गुलन्याय का सर्वत्र प्रसार होता है। लोगों की बुद्धि कुण्ठित और वे तर्कादि हीन क्षीण होकर पशुवत् हो जाते हैं। जहां के लोग पुरानी प्रथा से अणुमात्र भी हट कर नहीं चल सकते वहां उन्नति सर्वथा रुक जाती है। भारतवर्ष इसका महानिदर्शन है। यहां किसी विद्या की उन्नति न हो सकी। इस का मुख्यकारण धर्मान्धता ही है। बौद्ध समय में लोग कुछ स्वतन्त्र हुए तो उस समय में शास्त्र साहित्य आदि बने। सम्पूर्ण पुराण, संस्कृत शिशुपाल आदि काव्य नाटक षट् शास्त्र, वैद्यक, पाणिनिव्याकरण और भास्कराचार्य्य शङ्कराचार्य्य आदि बुद्धमहाराज के परभविक ही हैं। यद्यपि धर्मपरतन्त्रता की अवस्था में मनुष्य केवल विश्वासी और सत्तर्क शून्य होजाते हैं। तथापि उसमें जिज्ञासा अवश्य होती है। किन्तु मिथ्या बातों, कल्पनाओं और विविधकथाओं से वह पूर्ण कर दी जाती है। सामयिक चतुर पुरुष उसको आगे बढ़ने नहीं देते इस के दो चार उदाहरण ये हैं।

प्रश्न—श्रीमन् पौराणिक सूतमहाराज! यह ग्रहण कैसे होता है? उत्तर—एकराहु नाम का दैत्य शत्रुता से सूर्य्य और चन्द्र को निगलना चाहता है पुनः देवगणों की प्रार्थना से वह हटजाता है। इस प्रकार वह सदा इन दोनों को महाक्लेश पहुंचाता है। इसी का नाम ग्रहण है। सत्यमहाराज।

प्रश्न—कहीं २ पृथिवीसे पानी गरम क्यों निकलता है?

उत्तर—कहीं तो पाताल में महादेव की धूनी लगी है उसी से जलगरम होजाता है। कहीं सीताके स्नान से पानी गरम होगया है और कहीं काली देवी बैठी है जहां से ज्वाला निकलती है। इसीसे जल गरम है। सत्यवचन महाराज।

प्रश्न—चन्द्र क्यों कर बढ़ता और घटता है?

उत्तर–यह शशी अमृतमय है। क्रम से एक पक्ष में देवगण और द्वितीय पक्ष में पितृगण उस सुधा का पान करते रहते हैं। इसी से यह घटना बढ़ना है। सत्यवचन महाराज।

प्रश्न–समुद्र का जल क्यों कर क्षार और लवणमय होता है?

उत्तर–समुद्रों को किसी कारण अगस्त्यजी ने शोष लिया था पीछे प्रार्थित होने पर मूत्रेन्द्रिय द्वारा उन का त्याग किया। अतः उसका नीर क्षार होगया। सत्यवचन महाराज। इस प्रकार इस जाति का विद्याविषय प्रथम सर्वथा विध्वस्त हो जाता है और लोग मूर्ख और तर्कहीन होने लगते हैं।

सदाचार विनाश

विद्याके नाश और अविद्या के विस्तारसे उस जाति का सदाचार भी भ्रष्ट होने लगता है और उदाहरण देनेके लिये स्वपूज्यदेव और पूर्वज आदि भी वैसे ही बनालिये जाते हैं। जब आर्य्यगण सदाचार से पतित होने लगे तब अपने २ आचारों को प्रामाणिक-सिद्ध करने के हेतु क्या २ इन में लीलाए रची गई उन के कुछ उदाहरण ये हैं। प्रथम परमदेव दूषित किए गए। यथा–जलन्धर की पत्नी वृन्दा के ऊपर विष्णुभगवान् मोहित हुए। महादेव ऋषियों की सहस्रशः कन्याओं के दूषक कहे जाते हैं। सृष्टिविधाता ब्रह्मा निज दुहिता के पीछे दौड़े। इन्द्र अहल्या के जार बने। चन्द्र गुरुपत्नीगामी हुए। कृष्ण षोडश सहस्र स्त्रियों के विहारी थे। इस प्रकार प्रधान देवताओं के ऊपर लांछन लगाये गए। पश्चात् ऋषि, मुनि और राजा महाराज भी वैसे ही बना लिये गए। यथा–कोई बड़े ऋषि या राजा अपनी माता और पिता से उत्पन्न न हुए। ऋषि अगस्त्य और वसिष्ठ मित्रावरुण के द्वारा उर्वशी से और घट से, मृग के शृङ्ग से ऋष्यशृङ्ग, वल्मीक से वाल्मीकि, हाथ से पतञ्जलि, शुक्रो से शुक्राचार्य्य, सूर्य्य से सूर्य्यवंशी राजा, चन्द्र से चन्द्रवंशी। इसी प्रकार सर्प, वृक्ष समुद्र, नदी आदि से भारतवर्षीय महात्मागण उत्पन्न हुए हैं।

वेदव्यासके पिता पराशर एक कैवर्त की कन्यासे आ फंसे। विश्वामित्र उर्वशी के प्रणयी हुए। दुर्वासा ऋषि महाक्रोधी नारद झगड़ा लगाने वाले। इत्यादि।

अन्धपरम्परा का प्रसार

इसका फल यह होता है कि उस जातिकी जैसी बुद्धि और सदाचार, आहार, विहार होते हैं। तदनुसार ही देवता और पूर्वज घड़ लिये जाते हैं। उस समय में समझदार कुछ होते भी हैं तो वे मूर्खों से डरकर मौनसाध बैठ रहते हैं। देवताओं और साहित्यों की परीक्षा से ही उस जाति के आचरणों का पता लग सकता है। यहां मैथिल और बंगवासी मत्स्याहारी हैं। अतः इनके देवता काली दुर्गा, महादेव, भैरव भैरवी प्रभृति भी वैसे ही हैं। महाराष्ट्री राजस्थानी वैश्य और ब्राह्मण निरामिष होते हैं। अतः इनके देव विष्णु भगवान् सदा मांस से निवृत्त रहते हैं। यहांकी कुछ जातियां शूकर खाती हैं उनका देव भी वराहरूपधारी होता है। उन देवोंके गुण, पूजा, पाठ, गान आदिक भी उपासक के सदृश होते हैं। जिस हेतु स्त्री, सभा, समाज, नृत्य, गान, नाटक, विवाह, उत्सव, वाहन, अस्त्र, शस्त्र, समर, न्याय, अन्याय आदि सामग्री के बिना मनुष्य का निर्वाह होना कठिन है। अतः अपनी प्रकृति के अनुसार ही मनुष्य ने अपने देवों को भी उन सम्पत्तियों से भूषित किया है। विष्णु की पत्नी लक्ष्मी, अस्त्र चक्र, वाहन गरुड़, निवासस्थान वैकुण्ठ अथवा क्षीरसागर, मधु, हिरण्यकशिपु आदि शत्रु एवम् बलिके साथ छल वृन्दा से कपट देवों के पक्षपाती असुरों के हन्ता आदि विष्णु माने गए हैं। इसी प्रकार स्वर्ग में अप्सराओं का नृत्य हाहा हूहू आदिकों का नाटक खेलना, महादेव की पार्वती इत्यादि सब बातें मनुष्य के समान ही देवगणों की भी बनाली गई हैं। मनुष्य ने विचारा कि जब हम स्त्री आदिकों के बिना नहीं रह सकते तब हमारे देव कैसे रह सकतेहैं। इत्यादि। विविध कल्पनाओंको प्रथम विचार तब तुझे सत्यासत्य का पता लगेगा।

विश्वासी बनना

जब विद्या, विज्ञान, सभ्यता, सदाचार, नर्वराट्, स्वतन्त्रता, निर्भयता, पुरुषत्व, दृढ़चित्तता आदि धर्मविधायक भूषण गुण गुम हो जाते हैं तब नाना अनर्थ उस जाति में अन्तःस्थित होकर मानसिक शक्ति को दुर्बल कर देते हैं। वास्तव में वह जाति जीवन से मृतप्राय होजाती है। सभ्यता से असभ्यता की ओर पग रखता है। ज्योति से अन्धकार ही प्रिय मालूम होता है। चलने से बैठना, बैठनेसे लेटना, लेटने से सोना, सोने से मरना ही रुचिकर होने लगता है। उन अवगुणों में से एक विश्वास की मात्रा अधिक बढ़ती जाती है। मनन वा तर्क न रहने से उस जाति और पशु में स्वल्प भेद रह जाता है। यहां तक मानसिक दुर्बलता होजाती है कि मनुष्य होकर भी गर्दभ, सर्प, काक, मूषिक, पीपल, वट, सरित् पर्य्यन्त आदि को भी पूजा और स्तुति कर निज अभीष्ट का प्रार्थी होता है। हैजा, प्लेग, महामारी, ज्वर आदि रोगों को भी देवप्रेरित और डाकिनी, शाकिनी, भूत प्रेत प्रभृतियों के कर्म मानने लगते हैं। देवों के कोप से ही अशेष व्याधियां होती हैं। महामहाकुसंस्कारोंका भवन बन जाते हैं बहुत शकुन मना लग्न साध यात्रा करेंगे। देवों की मनता मानेंगे। सदा सशङ्कित हृदय रहेंगे। गोबर को भी निज इष्ट मानने से दूर न होंगे।

इस विश्वास से किञ्चित् चतुर स्वार्थी धूर्तगण बहुत लाभ उठाने लगते हैं। उस समाज के बहुत पुरुष गुरु बन माया फैला उन विश्वासी मूर्खोंको खूब ठगते, लूटते और हाथ मारते हैं। ऐसी धूर्तता रचते हैं कि जिस से राज्य शक्ति भी बच नहीं सकती है। गुरुगण कहते हैं इस मन्त्र के बिना मनुष्य शुद्ध हो ही नहीं सकता अतः भाइयो! इन को ग्रहण करो। मुक्ति के भागी बनो। मेषबुद्धिक जन बिना विचारे उस धूर्तराट् के चरणोंमें गिर पड़ते हैं। उन के उच्छिष्ट तक भी खालेते हैं। उन के थूक को हथेली पर रख चाट जाते हैं अपनी स्त्री को समर्पित कर देते हैं। गुरुके सम्भोग बिना स्त्री शुद्ध

हो ही न सकती यह वल्लभ सम्प्रदाय का अटल सिद्धान्त है। ह्रीं, क्लीं क्र्ं गं गणेशायनमः, भम् भैरवायनमः इत्यादि ऊटपटांग मन्त्र दे द्रव्य लूट शिष्यों को पोठ ठोक गुरुदेव कहते हैं कि देखो, ये मन्त्र किसीसे कहना नहीं। ऐसा न हो कि इसका प्रभाव और शक्ति चली जाय। इधर भैरवीचक्र की पूजा मद्यपान युवतिसेवन पञ्चमकार मद्य, मांस, मीन मुद्रा और मैथुन में आसक्त गुरुदेवों को देखकर भी शिष्यों में यही विश्वास होता है कि श्रीजी तो भगवदवतार हैं क्या ये खाते पीतेहैं? नहीं। केवल नरलीला दिखलाते हैं। ये गुरुदेव साक्षात् ईश्वर हैं। बड़े भाग्य से इन का दर्शन होता है इस प्रकार का विश्वास उन में अचल हो जाता है। अथवा "सामरथ को नहीं दोष गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं।" उन महामूढ़ विश्वासियों को यह जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है कि ये गुरुदेव हमसे किस बात में श्रेष्ठ है? हमारे समान ही विषयी, लम्पट, लोभी, भोगी, विलासी, रसिक, क्षुधार्त, पिपासु, इत्यादि युक्त हैं। पुनः वे कैसे देव। हम कैसे अधम मनुष्य। ऐसा विचार उन के हृदय में नहीं उठ सकता क्योंकि वे अन्ध प्रथम में बना दिए गए हैं॥

"विश्वासः फलदायकः। गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः। एषा च शाम्भवी मुद्रा रक्ष्या कुलवधूरिव।"

इत्यादि पाठ पढ़ाए हुए हैं। ऐसे विश्वासियों को ज्ञानी बनाना गुरुदेव भी नहीं चाहते। जितने ये मूर्ख विश्वासी, धर्मान्ध, भक्त, श्रद्धालु गुरुपूजक बने रहेंगे उतना ही गुरुदेव प्रसन्न रहेंगे। येही मूर्खजन गुरुओं के महापशु होते हैं। इनसे ही उनका जीवन चलता है। सर्व निर्वाह होता है॥

धर्म में त्रुटियां

पूर्व प्रसंग में मैंने संक्षेप से लिखा है कि लोगों का अन्तःकरण और धर्मपथ कैसे बनते जाते हैं। कैसी २ कल्पना होती

जाती है। विश्वासियों को कैसे ठगते हैं? इत्यादि। अब यह विचारना है कि वर्तमानकालिक धर्मसम्प्रदायों से सुख की आशा है या नहीं सुख के साधन-विवेक, विराग, शम, दम, तप, सत्यता, समदर्शिता, अहिंसा, सदाचार, न्याय, धैर्य, ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता आदिकों का लाभ इनसे हो सकता या नहीं? इसकी संक्षिप्त आलोचना करती हूं।

१ सदाचार

क्या वर्तमान धर्म से सदाचार बिगड़ते या बनते हैं?-बिगड़ते हैं। कैसे? इस समय भारतवर्ष में सब से महापूज्य और स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण जी माने जातेहैं। कृष्ण की सधर्मपत्नी राधा नहीं हैं। किन्तु रुक्मिणी आदिक हैं! परन्तु लोग राधाकृष्ण कहतेहैं रुक्मिणीकृष्ण कोई नहीं कहता है। इससे सदाचार बनता या बिगड़ता है?-जब राधा का दूसरे गोप के साथ विवाह होगया था तब श्रीकृष्ण ने उससे क्यों प्रेम लगाया। इन उदाहरण से कौनसी धर्ममर्य्यादा स्थापित की गई। पुनः श्रीकृष्ण जी के ८ आठ विवाह थे १-रुक्मिणी २-जाम्बवती ३-सत्यभामा ४-कालिन्दी ५-मित्रविन्दा ६-सत्या ७-भद्रा ८-लक्ष्मणा ये आठ स्त्रियां थीं। इनके अतिरिक्त १६००० सोलह सहस्र और भी स्त्रियां थी। अब प्रश्न ये होतेहैं कि कृष्णजीने इस पृथिवी पर आकर ऐसी लीला क्यों रची? क्या इस लिये कि मेरे अनुकरण कर के मेरे भक्त भी अपने सामर्थ्य के अनुसार बहुत विवाह करें? या इस विषय में भी मेरी अद्भुत शक्ति देख कर लोग मेरे उपासक बनें! अब तू विचार कर कि श्रीकृष्ण जी के अनुकरण करके बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में से एक एक मनुष्य दो दो सौ चार चार सौ विवाह कर लेता था। मिथिला देश के ब्राह्मण सौ पचास विवाह क्या नहीं करते थे! इस बहुविवाह से सदाचार बनता या बिगड़ता था? पुन इसी प्रकार कपटरूप से वृन्दा का पातिव्रत भग्न करना और बलि को छलना आदि कथा से कौनसा शुद्ध आचरण बनेगा

अहल्या पर इन्द्र का मोहित होना, गुरुपत्नी के साथ चन्द्र का व्यवहार प्रभृति आख्यानोंसे लोग कौनसी उत्तमशिक्षा ग्रहण करेंगे? पुराण कहता है कि शिव, राम, नारायण आदि नाम स्मरणमात्र से और गङ्गादि तीर्थों में जाने से पाप कट जाता है। अत्यन्त पापी जन भी शुद्ध हो मुक्ति का भागी होता है। इत्यादि सहस्रशः आख्यान होते हुए अतिपरिश्रमसाध्य विवेक प्रभृति साधनों के निकट क्यों कर कोई जायगा। अतः इन ग्रन्थों के पढ़ने से विवेकादि उत्पन्न नहीं हो सकते। इस लिये उत्तरोत्तर दुःखों की ही वृद्धि होती जायगी।

पक्षपात

ये धर्मग्रन्थ पक्षपातों से परिपूर्ण होने के कारण सुखके साधन नहीं! यद्यपि मनुष्य एक जाति है। इसमें पश्वादिवत् जातिभेद नहीं तथापि कहा जाता है कि ब्रह्मांके मुख से उत्पन्न होने से ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ और पैर से शूद्र हुआ है। अतः यह नीच, सेवक, दास और अस्पृश्य है। इन्हे मार पीट इनसे धन छीन जैसे बने वैसे इन को नीचातिनीच काम में लगाओ। यदि शूद्र तपस्वी बनना चाहे तो इसका शिरश्छेदन करना उचित। इनको धर्म में अधिकार नहीं एवं यदि स्त्री विधवा हो तो इसे जला देनाही उचितहै। ब्राह्मण से ईश्वर भी डरता है। वह भूदेव है। इसके पैर पूजने से मनुष्य का कल्याण है। मूर्खातिमूर्ख ब्राह्मण श्रेष्ठ। अतिबुद्धिमान् भी शूद्र नीच ही है! परमभक्त बलि को विष्णु ने इस लिये छला कि वह असुर दल का अधिपति था। इत्यादि २ शतशः पक्षपातों से ये ग्रन्थ युक्त होने के कारण हेय हैं।

ज्ञानविरोध

ये धर्मग्रन्थ ज्ञान विज्ञानों के विरोधी होने से कदापि सुखों के वर्धक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि यथार्थ ज्ञान से ही सुख प्राप्त हो सकताहै। पृथिवी प्रतिक्षण चल रही है। परन्तु ये सिखलाते हैं कि

यह भूमि अचला है और शेष, कूर्म, वृषभ आदि इसको पकड़े हुए हैं। छाया से ग्रहण लगता है तथापि ये कथा घड़ते हैं कि एक असुर सूर्य्य चन्द्र को क्लेश पहुंचाता है अतः यह ग्रहण होता है। सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वृक्ष आदि से कितने ही मनुष्य उत्पन्न हुए! पृथिवीपर के कोई भी प्रायः बड़े आदमी अपने माता पिता से नहीं हुए हैं इत्यादि अनेकशः बातें ज्ञान के विरोधी हैं इस कारण ये त्याज्य हैं।

परस्परविरोध

जितने प्रसिद्ध धर्मपथ प्रचलित हैं वे परस्पर विरोधी हैं। मुसलमानी और किस्तानी आदि धर्म्मों से पौराणिक धर्म विरुद्ध है यह प्रत्यक्ष ही है। यदि कोई हिन्दू मुसलमान का पानी या पक्क अन्न ग्रहण करले तो वह अजाति और पतित समझा जायगा। परन्तु स्पर्शदोष का लेश भी कुरान या वायविल नहीं सिखलाता। वैष्णव मांस भक्षण निषेध करते हैं। परन्तु शाक्त मांसभक्षी हैं। कलकत्ते में काली को, विन्ध्याचल में भगवती को और घर घर दुर्गा के ऊपर इस समय भी शतशः छागदान दे २ कर उन्हें काट खूब ही शाक्त ब्राह्मण महोदय खाते हैं। इत्यादि कारणोंसे ये ग्रन्थ सुखजनक नहीं हो सकते।

शौचतप आदिका लोप

इन ग्रन्थों के अध्ययन से शौच और तप आदि का बोध भी नहीं हो सकता। जब केवल नाम स्मरण से भी मुक्ति मिलती है तो सत्यादि तप की आवश्यकता ही क्या। जब काशी मरण से ही मोक्ष प्राप्त होता है तब ज्ञान के उपार्जन के लिये इतना परिश्रम क्यों कियाजाय। श्राद्धों और यज्ञों में मनुष्य को छोड किस पशु और पक्षी आदि की हिंसा की विधि नहीं। पशुओं को मार मार कर होम करना कितनी अपवित्रता दिखला रहा है। जैनधर्मावलम्बी साधुगण स्नान को भी पापजनक मानते हैं। जैनी भाई रात्रि में

भोजन को पातक समझते हैं। हरितवृक्षों को और छाग मेषादि जीवों की हिंसा के तुल्य समझते हैं। इनके माननीय साधुमहोदय उस्तरे से शिरका केश न कटवा कर लुचवा लेना ही धर्म स्वीकार करते हैं। पञ्जाब के सिक्ख महाशय मृत अशौच में भी केश कटवाने को महान् अधर्म कहते हैं। सिक्खोंमें जन्म से लेकर मरण तक शिर का केश कटवाना पाप माना गया है। इसके विरुद्ध पौराणिकों में कोई यदि मृतक अशौच में केश न कटवावे तो वह महापतित माना जायगा। वैष्णव महाशय द्वारिका आदि स्थानों में जाकर तप्त मुद्रा की छाप देह पर लगवाते हैं। और उस तप्त मुद्रा को देह पर लगाकर दूध में या पानी में बुताते हैं। उस दूध पानी को पीजाते हैं यह कैसी घृणा का दृश्य है। वल्लभ सम्प्रदाय में अब तक यह नियम चला आता है कि जब गृह में नई नई वधू आवे तब प्रथम वह गुरु के निकट भेजी जाय। इसी विधि से वह शुद्ध समझी जाती है। जैन विद्वान् जगत्कर्ता का अङ्गीकार नहीं करते। तान्त्रिकगण तन्त्र शास्त्र को ही वेदों से भी अत्युच्च श्रेष्ठ और कलि में परमोपयोगी कहते हैं। यहां स्त्रीरूप में ही उपास्य देव मानेगए हैं। कामरू देश में घृणित पूजा होती है। जगन्नाथ का मन्दिर अश्लील मूर्तियों से खचित है। भगवती की पूजा का विधान तन्त्रों में पढ़िये। महादेव क्या वस्तु है। इनकी क्या पूजा होती है पुराणों से जानिये।

मैं कहां तक लिखूं अद्यतन कालिक सम्प्रदायों से सुख की आशा नहीं। पृथिवी पर के सब ही धर्म ग्रन्थ ऐसे हो हैं। उन का अन्तः करण अपने २ धर्म के अनुसार बनकर तैयार हैं। इसकारण धर्मावलम्बी पुरुष कदापि ज्ञान विज्ञान की ओर नहीं आ सकते। शोक की बात है कि जिस वस्तु को इतना आकाश में चढ़ाए हुए हैं जिन ग्रन्थों को साक्षात् ईश्वरवाक्य अथवा सिद्ध पुरुषों का वचन कहते हैं। उन की परीक्षा नहीं करते। क्या आश्चर्य्य है कि एक ओर सत्यताकी दोहाई देते हैं। सत्यकी प्रशंसा करने २ कभी थकते

नहीं किन्तु दूसरी ओर मिथ्या का भी असीम पक्ष ले बैठते हैं। ईसामसीह साक्षात् ईश्वरपुत्र थे वा नहीं इस पर विवाद नहीं किन्तु ईश्वर का ही यह नियम है कि दाम्पत्य प्रेम के पश्चात् ही सन्तान होता है। ईसामसीह के जन्म में इस का अभाव देखते हैं। तब कुमारी मरियम का कैसे पुत्र होगया। यदि कहा जाय कि ईश्वर की ओर से अथवा उस प्रभु के आशीर्वाद से कौमारावस्था में ही मरियम गर्भवती हुई तो मैं पूछता हूं कि सृष्टि में आदिकाल से अब तक केवल एक ही वार यह चमत्कार दिखलाया गया या वारंवार और अब भी यह आश्चर्य्य लीला दिखलाई जायगी या नहीं। यदि कहा जाय कि एक कल्प में यह लीला एक ही वार दिखलाई जाती है तो इस को अन्य देश वाले नहीं मान सकते हैं क्योंकि इन में भी कुमारी से बहुत बालक उत्पन्न माने जाते हैं। वा इस में आश्चर्य्य जनक लीला अन्यत्र विद्यमान हैं। व्यासदेव और कर्ण कानीन माने जाते हैं। प्रह्लाद आग में न जल सके। वाल्मीकि पिता माता के विना ही उत्पन्न होगए। कबीरदास भी स्वयं प्रकट हुए। इत्यादि महापुरुष तब ईश्वर क्यों नहीं? ग्रीस देश में भी प्लेटो, सिकन्दर आदि अनेक देवजात कहे जाते हैं। मैं एकबात यहां यह भी पूछती हूं कि जिस यहूदी जाति में ईश्वर स्वयं क्राइष्ट (ईसामसीह) नाम से अवतीर्ण हुआ उसने इसको ईश्वर क्यों नहीं स्वीकार किया? क्यों कर शूली पर चढ़ाकर मार दिया। यदि कहो कि ईश्वर की वैसी ही इच्छा थी। वह इस मर्त्यलोक में मरणलीला दिखलाने को ही आया था तो क्या इसके पूर्व जगत् में मरणलीला नहीं थी? और भी, जब ईश्वर इस पृथिवी पर आया तो वह अपने स्वरूपमें आता अथवा एक देखने योग्य मनोहर अद्भुत रूप बनाकर आता जिस को कोई भी पार्थिवशक्ति मार नहीं सकती। और वह पृथिवी के सब-भागों में जाजा कर अपना उपदेश कहकर और सब से मनवा कर पुनः अपने धाम को पधार जाता। और जब २ दुर्घटना संसार में हो तब २ वह आजाया करे। एक ही वार आने से लोगों

में सन्देह उत्पन्न होता है। आश्चर्य की बात है कि जहां के कई एक कोटि मनुष्य क्राइष्ट के अनुगामी हैं और इस नाम के कारण क्रिश्चियन (क्रिस्तान) कहलाते हैं वहां के ही विद्वान् क्राइष्ट को ईश्वर वा ईश्वरपुत्र नहीं मानते। मैं कह सकती हूं कि प्रबल राज्य-शासन इस पक्ष का न होता तो इन दो तीन शताब्दियों की विद्वन्मण्डली इस मत को जड़से उखाड़कर समुद्र में फेंक देती। किन्तु दोषों के पक्षपाती अगणित मूर्खजन और राजन्यगण के कारण से ही अबतक इसका नाम यूरोप में विद्यमान है। तथापि मैं कह सकती हूं कि बायबिल के सवमाननीय सिद्धान्त यूरोप महाद्वीप से निकाल दिए गए। बायबिल कहता था कि यह सृष्टि ६।७ हज़ार वर्ष की है इस के विरुद्ध विज्ञान कहता है कि यह अतिछोटी पृथिवी ही कई एक लाख वर्षों की है और यह सृष्टि तो कब से है इसकी संख्या करना मनुष्य की शक्तिसे बाहर है। यह अनादि और अनन्त है। बायबिल कहताहै कि छः दिनों में ही यह सम्पूर्ण सृष्टि होगई। इसके विरुद्ध विज्ञान कहता है कि इस पृथिवी ही के बनने के लिये कई कोटि वर्ष चाहियें। इस समस्त जगत् की रचना का हिसाब कौन लगा सकता है। इसी प्रकार धर्मपुस्तक कहती है कि १-यह पृथिवी-चौरस समधरातल रूप में है, गोल नहीं। २ सूर्य्य से भी बहुत बड़ी है। ३-सूर्य्य इसकी परिक्रमा करता है। ४-यह नील आकाश इसकी छत है। ५-इस आकाश में ये नक्षत्रगण जड़ित हैं जैसे राजमुकुट में नाना महार्घ हीरा मोती आदि जड़े जाते हैं। ६-इसके ऊपर स्वर्ग है। ७-इस पृथिवी के नीचे नरक है। इत्यादि २ धर्म बातों को आजकल यूरोप के छोटे २ बच्चे भी तिरस्कार दृष्टि से देखते हैं। अतः मै कहती हूं कि धर्म सम्प्रदायों से सुख नहीं है।

सम्प्रदाय के दोष

(१) प्रसिद्ध २ जितने सम्प्रदाय हैं वे ईश्वर और मनुष्य के शत्रु हैं। १-इनपर कलङ्क लगाते हैं २-इनको नीच बताते हैं। ३-इन के महत्त्व को सर्वथा गिरादेते हैं। ४-मनुष्य की उन्नति को रोकते

हैं। ५-पाखण्ड को फैलाते हैं। ६-मूर्ख जनों के झुण्डों को बढ़ाते और ज्ञान को रोकते हैं। ७-विरोध और असत्यता के बीजों को सदा सींचते रहते हैं। ८-धोखा देते हैं। ९-अज्ञान को बढ़ाने और ज्ञान को रोकते हैं। मैं कहां तक लिखूं। मेरा कार्य्य वेदान्त का उच्च सिद्धान्त दिखलाना है। तथापि वेदान्त-विरोधी बातों को अतिसंक्षेप से भी यदि न दिखलाऊं तो सत्य और विज्ञान का नाश होजायगा और मानवजाति एक महापशु बन जायगी।

१-ईश्वर और मनुष्य के शत्रु

मैं अतिचिन्ता के साथ कहती हूं कि धर्मसम्प्रदाय कैसा अविवेकी और अन्ध है कि जो २ महापुरुष इस पृथिवी पर ईश्वर के महत्व और पवित्र गुण दिखलाने को आए वेही २ पश्चात् साक्षात् ईश्वर मान लिए गए और वह प्रभु गौण पड़गया। यथा क-एक अतिलघु राजा का पुत्र बुद्ध था। समस्त मानवप्रकृतियों से संयुक्त था। तथापि पश्चात् वही ईश्वर मान लिया गया और जिसका वह गान करताथा, वह परमदेव वहासे लापता होगया। ख-मैं निश्चयसे कहती हूं कि क्राइष्ट (ईसामसीह) उस प्रभुके पवित्र गुणोंको दिखलाने के लिये आए थे। माता पिता से उत्पन्न हुए थे। प्राकृत गुणों से पूर्ण थे। महात्मा, ईश्वरभक्त, निष्कपट महापुरुष थे। परन्तु धीरे २ इनको ही लोगों ने ईश्वर मान लिया और पृथिवी तथा स्वर्गकेराजा महाराज प्रभु को क्रिस्तान महोदय भूल बैठे। ईश्वर के द्वारा नहीं किन्तु ईसा के द्वारा मुक्ति होती है। ईश्वर के नाम पर नहीं किन्तु क्राइष्ट नामपर लोगों ने अपना नाम क्रिस्तान रक्खा। ईश्वर के नाम पर उत्सव नहीं किन्तु क्राइष्ट की जीवन-घटनाओं पर। ग-राम मनुष्य थे। दशरथ और कौशल्या इन के पिता माता थे। मानवप्रकृति से समन्वित थे। वाल्मीकि रामायण पढ़कर देखिये। तथापि धीरे २ वे साक्षात्-ईश्वर बना लिए गए। घ-इसी प्रकार मुहम्मद, जिन, ऋषभदेव, जरदुस्त, व्यास, कपिल आदि भी

कोई ईश्वर के दोस्त और कोई ईश्वर ही मानलिए गए। मैं समझती हूं कि इन बुद्धादि महात्माओं का कुछ दोष नहीं किन्तु इन के अनुयायियों का यह महादोष है। इस हेतु ये सर्वसम्प्रदाय ईश्वर के शत्रु बनगए।

जैसे ईश्वर के महत्व को प्रख्यात करने को ये सम्प्रदायें सर्वत्र स्थापित हुए इसी प्रकार मनुष्य को उच्च बनाने और समतामें रखने, अत्याचार रोकने और सदाचार फैलाने आदि के लिये धर्म स्थापित हुए। परन्तु धीरें २ अधिक संख्यक मनुष्यों के शत्रु बन गए और धर्म और सत्य जो दोनों एक पर्य्याय वाचक शब्द थे वह असत्य रूप में प्रकट होगये। श्रुति कहती है–

सनैव व्यभवत् तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत
धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः।
तस्माद्धर्म्मात्परं नास्ति अथोअबलीयान्
बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवम्।
यो वै स धर्मः सत्यमेवैतत्। तस्मात्सत्यं
वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं
सत्यं वदतीति एतद्ध्येवैतदुभयं भवति। बृ० उ०

इसके पूर्व प्रसङ्गमें यह विषय है कि प्रथम मनुष्यजाति एक ही रूप में विद्यमान थी जिसको ब्रह्म (ब्राह्मण) कहते थे अर्थात् अतिशुद्ध निश्चल कपटरूपरहित राज्यादि व्यवस्थाहीन तुल्य और सत्यादिपरायण वह जाति थी। परन्तु इतने से कार्य्य न चला। पश्चात् इसमें से एक शाखा निकली जिसका नाम क्षत्र (क्षत्रिय) हुआ अर्थात् समस्त राज्यव्यवस्था स्थापित हुई और जाति–भेद, नीचता, उच्चता, न्याय, अन्याय, छल, कपट आदि गुण अवगुण दोनों का प्रवाह बहने लगा। इस से भी कार्य्य सिद्ध न हुआ। तदनन्तर

वैश्य नाम की तीसरी शाखा निकली। सत्यासत्य के साथ सर्व प्रकार के व्यापार, सूद पर द्रव्य देना खरीदना, पशुयें को वश में करना, उन से काम लेना खेती करना इत्यादि २ चल पड़े। इस से भी मानवसृष्टि का निर्वाह न हो सका। तब शूद्र नाम से चौथी शाखा उसी में से निकली अर्थात् उसी मानवसमुदाय से बहुत से लोग दास, सेवक धोबी, चर्मकार, नापित, स्वर्णकार, बढई, लुहार, कुम्हार, तम्बोली, कसेरा, इत्यादि २ अनेक वर्ण आवश्यकता के अनुसार बने और बनाए गए।

जब इतने से भी कार्य्य में बाधा आपड़ी तब सर्वोत्तम कल्याण स्वरूप मङ्गलमय पञ्चमी शाखा निकली जिस का पवित्र नाम धर्म हुआ। वह धर्म उग्र क्षत्रियों का भी शासक हुआ। इस कारण धर्म से पर (उत्कृष्ट) कोई वस्तु नहीं। क्योंकि इस धर्म के द्वारा अत्यन्त दुर्बल पुरुष भी परम बलिष्ठ पुरुष का मुकाबिला कर सकता था। जैसे राजा के द्वारा निर्धनी दुर्बल पुरुष भी बलिष्ठ पुरुष के ऊपर मुकदमा चलाता है। वह धर्म क्या है? सत्य है। इसी कारण सत्यभाषण करते पुरुष को लोग कहते हैं कि यह धर्म कर रहा है और धर्म कहते पुरुष को देखकर लोग कहते हैं कि यह सत्य कह रहा है। ये दोनों एक ही बात हैं।

यहां पर आप देखते हैं कि सत्य और धर्म दो पदार्थ नहीं। और भी–जब चारो वर्णों की बहुत वृद्धि होने लगी और इनमें न्याय, अन्याय, सत्य, असत्य, उच्चता और नीचता सर्व प्रकार के व्यवहार चल पड़े। तब महर्षियों ने एक धर्मव्यवस्था चलाई। उसकी नींव सत्यके ऊपर रक्खी और तदनुसार सब का न्याय ठीक रीति से होने लगा। जो क्षत्रियवर्ग परम उद्दण्ड, उच्छृंखल, आततायी और स्वार्थी होकर मनुष्यपीड़क बन गए थे। उनका शासक यही धर्म बनाया गया। अतः श्रुति के पाठ में "क्षत्रस्य क्षत्रम्" ये पद आए हैं। परन्तु वही कालान्तर में मनुष्यघातक भी बन गया। कैसे? उसी सत्य धर्म की दुहाई देते हुए यहां के पुरोहितों ने कहा

कि ये कायस्थ, गोप, कुम्भकार, कुरमी, लोहकार, तक्षा, नापित आदि शूद्र हैं, और ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न होने के कारण नीच हैं। ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ है इस लिये श्रेष्ठ है। जैसे गौ, महिष, गर्दभ आदि भिन्न २ पशु हैं वैसे ही चारों वर्ण चार जातियों के हैं। शूद्र यद्यपि एक ही जाति है तथापि वर्णसङ्करता के कारण इन में बहुत सी उपजातियां होगई हैं। इनमें भी एक बहिष्कृत शूद्र हैं। चर्मकार, धोबी, तेली, कलवार, भंगी आदि। ये अन्त्यज, अस्पृश्य, अग्राह्य हैं। ये यदि वेद शास्त्र किसी से सुन भी लें तो इनके कान गरम शीशे से भर दिए जाय। धर्म में इनका कोई अधिकार नहीं। उपनयन संस्कार इनका नहीं हो सकता। इस लिये ये वेद के अधिकारी नहीं। मैं कहां तक लिखूं भारतवासी इनको जानते हैं कि इस धर्म ने कितने मनुष्यसमुदायों को मनुष्यता से गिराकर पशु बना छोड़ा।

इसी धर्म के छल से पृथिवी पर बड़ी बड़ी लड़ाइयां हुई। यदि सब सम्प्रदाय सत्य हैं तब मुसलमानों ने यहां हिन्दुओं के असंख्य मन्दिर क्यों तोड़ गिराए और हिन्दू तब मुसलमानों और क्रिस्तानों के साथ विवाहादि व्यवहार क्यों नहीं करते? एवमस्तु। इसी भारत वर्ष में अगण्य बौद्धमतावलम्बी यहां से निकाल दिए गए और इन का दर्शन भी पातक मानागया। इसी प्रकार प्रत्येक देश की यही दशा है। हमारे देश में इतिहास नहीं कि मैं बहुत से प्रमाण दे सकूं परन्तु तू पुराण पढ़ और संस्कृतसाहित्य को ध्यान से देख। तब तुझे ज्ञात होगा कि बौद्ध, जैन और चार्वाक आदि कैसे भयङ्कर नास्तिक माने गए हैं और कैसी घृणादृष्टि से ये देखे जाने लगे।

परन्तु यूरोप में सिलसिलेवार इतिहास एक से एक उत्तमोत्तम विद्यमान है। उन इतिहासों से यदि आर्य्यभाषा में धर्म का अत्याचार लिखा जाय तो महाभारत के समान १०। २० ग्रन्थ बन जायं। जिन विद्वानों को यूरोपनिवासी अब प्रातःस्मरणीय समझते हैं। जिनके नाम तुलसीदास, सूरदास, राम, कृष्ण इत्यादि नामके समान

यहां प्रसिद्ध हैं। महामूर्ख से मूर्ख भी जिनके जीवनवृत्तान्त को रामवृत्तान्तवत् जानते हैं। वे महापुरुष कोई आग में जलाए गए। कोई विष पिला कर मारे गए। कोई महामहा कष्ट से जेलों में ही सड़ गए। हा! रे धर्म! तैंने क्या क्या अत्याचार दिखलाए। तेरे शुभ नाम अति अशुभ होगए। तू विद्वानों की दृष्टि में बहुत ही नीच माना गया। इस तेरे मिथ्यारूप को मिटाने के लिये विद्वान् प्रयत्न करने लगे और सत्यरूप का प्रकाश होने लगा। जो मिथ्या धर्म के नाम पर मारे गए। उन में से दो चार नाम ये हैं १-साक्रेटीज २-गैलेलियो ३-ब्रूनो ……………… …… ॥

२-ईश्वर और मनुष्य पर कलंक

धीरे २ धर्म महाभयङ्कर होगया। यह ईश्वर पर भी कलङ्क लगाने लगा। ईश्वर भी स्त्री (लक्ष्मी) के बिना नहीं रह सकता। यह इसके लिये कलङ्क ही है। वह एक मूर्ति में रह कर जगत् का शासन नहीं कर सकता। अतः ब्रह्मा, विष्णु और महादेव त्रिमूर्त्ति हुआ। यह भी लाञ्छन ही है। ब्रह्मा अपनी दुहिताके ऊपर मोहित हुआ यह कितना बड़ा लांछन है। तपस्वी महादेव भी मोहिनी रूप में फस कर धैर्य्यच्युत होगया। विष्णु का छल प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार ईश्वर कुमारी में पुत्र उत्पन्न करता है। छः दिनों में ही सृष्टि बना लेता है इत्यादि अनेक कलङ्क ईश्वर के ऊपर मढ़ दिए गए।

मनुष्यों पर भी-अगस्त्य और वसिष्ठ एक बड़े २ ऋषि हुए हैं। वे कहे जाते हैं कि मित्र और वरुणदेव की कृपा से स्ववेश्या उर्वशी द्वारा घट से उत्पन्न हुए। महर्षि विश्वामित्र मेनका से जा फसे। पराशर एक कैवर्त की कुमारी के प्रणयी बने। ऋषि गौतम की स्त्री अहल्या शापग्रस्ता हुई-इत्यादि………। यहां ही अब यह विषय समाप्त किया जाता है। ऐ प्रियंवदा! तू स्वयम् इस को एकान्त में जाकर विचार। इति सक्षेपतः।

——:०:——

राज्यव्यवस्था

दैवो दुर्बलघातकः

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। श्रुतिः।

राज्यव्यवस्था के सम्बन्धमें यदि मैं दो चार लाख पृष्ठ लिखती, समय भी इस बृहत् कार्य्य के लिये मुझे अनुरोध करता और जनता को भी इस को विचार पूर्वक पढ़ने को पूर्ण अवकाश मिलता तब कदाचित् एतद्विषयक लेख से मेरा मन सन्तुष्ट होता और कृतकृत्या अपने को समझती परन्तु इस सब के अभाव से और विशेषतः वेदान्त शास्त्र से इसका उतना सम्बन्ध न होने के कारण इस पर यहां अधिक लिख कर विवेकी पुरुषों का अमूल्य समय नष्ट करना नहीं चाहती। तथापि वेदान्त में इस का जितना प्रयोजन हो सकता है उसे भी अतिस्वल्प करके यहां प्रकाश करती हूं। जिज्ञासु हितैषी महोदय इस को ऐतिहासिक ग्रन्थों द्वारा जान सकते हैं कि इस व्यवस्था से संसार कितना सुखी हुआ। श्रुति इस में यों दिखलाती है-

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि। .... ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामा सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। इत्यादि।

कठोपनिषत्

नचिकेता से यम कहते हैं कि तू मुझ से शतायु पुत्र पौत्र मांग, तू पृथिवी परके बहुतसे पशु हाथी हिरण्य और घोड़ा आदि जितना

चाहता है, उतना मांग। पृथिवी का बहुत भाग तू ले। स्वयम तू जितने दिनों जीना चाहता है उतने दिनों जी। मैं कहांतक कहूं। इस मर्त्यलोकमें जो २ दुर्लभ कामनाएं हैं। सहस्रशः मनोहारिणी युवतियां, रथ और विविध वाद्य आदि जो तू चाहता है वह तू लेले किन्तु मरण सम्बन्धी प्रश्न तू मुझसे मतकर। इसपर नचिकेता इस प्रकार कहताहै-

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः। इत्यादि

हे यम! इस वित्त से मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती। इन्द्रियों के तेज को ये युवती प्रभृति सम्पत्तिया नष्ट कर देती हैं। ये पृथिवी पर के समस्त ऐश्वर्य क्षणविध्वंसी हैं इन से मुझे मत मोहित और लोभित कर किन्तु कृपा करके मुझ को अमृत दे।

पुनः याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी के संवाद में श्रुति यों कहती है-

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णास्यात् कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोप करणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति। बृहदा० उ०

मैत्रेयी निज पति से पूछती है। हे भगवन्! यदि मेरे लिये य समस्त पृथिवी वित्त से पूर्ण हो तो क्या उस से मैं अमृत होऊंगी इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि नहीं। वित्त से अमृतत्व की आश कदापि नहीं। धनवानों का जैसा जीवन होता है तेरा भी धन वैसा ही जीवन होगा। तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में इ विषय को अच्छी तरह से दिखलाया है। उस की एक बात यह है

युवा स्यात् साधु युवाध्यापकः। आशिष्ठ दृढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी वित्तस्य पूर्णा स्यात् स एको मानुष आनन्दः।

इस पृथिवी पर यदि कोई पुरुष युवा हो और उस समय की निखिल विद्याओं से पूर्ण अध्यापक हो समस्त रोगरहित भोगविलासी हो, किसी प्रकार की चिन्ता न हो सर्वथा स्वतन्त्र अतिशय बलवान् हो और वह इस समस्त पृथिवी का केवल सम्राट् ही न हो किन्तु इस के लिये यह पृथिवी वित्तों से पूर्ण हो । तब यह एक मानुष आनन्द कहावेगा। इससे शतगुण आनन्द गन्धर्वानन्द कहाता है गन्धर्वानन्द से बढ़ कर शतगुण आनन्द देवगन्धर्वानन्द कहाताहै। इससे शतगुणानन्द पितृगणानन्द । इससे शतगुण आनन्द आजानदेवानन्द । इस से शतगुण आनन्द कर्मदेवानन्द । इस से शतगुण आनन्द देवानन्द । इस से शतगुण आनन्द इन्द्रानन्द । उस से शतगुण बृहस्पत्यानन्द । उस से शतगुण प्रजापत्यानन्द । उस से शतगुण ब्रह्मानन्द है ।

इतने लेख से तू समझ सकती है कि वेदान्त के निकट राज्य कितनी तुच्छ वस्तु है । भारतवर्षीय महापुरुषों की दृष्टि में राज्य एक नीचातिनीच सामग्री समझी गई है । इसी कारण यहां के ऋषि वा विद्वन्मण्डली कदापि भी इतर देशों पर निरपराध और निष्कारण विजययात्रा की उत्तेजना नहीं करती थी ।

बहिर्मदराज्य

कुलं शीलं च वित्तञ्च रूपं यौवनमेव च ।
विद्या राज्यं तपश्चैषां कीर्त्तिता हि बहिर्मदाः॥

कुलाभिमान, शीलाभिमान, वित्तरूपयौवनाभिमान, विद्याभिमान, राज्याभिमान और तपोभिमान ये सब वेदान्त में बहिर्मद गिने गए हैं ।

औपनिषद राज्यादर्श

वेदान्त के समीप किस प्रकार के राज्य संमत हैं उन के दो तीन उदाहरण लिखती हूं-

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस ।

स ह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति । छा० उ०

पौत्रायण जानश्रुति नामका राजा श्रद्धापूर्वक दाता, बहुदाता और बहुपाकी था। उस ने अपने सम्पूर्ण राज्य में बहुत आवसथ (धर्मशालाएं) बनवाए थे कि मेरे अधीन देशों के सब ही असमर्थ जन मेरे ही आवसथों में आकर भोजन करें। यहां भोजन न करना चाहें वे यहां से दान लेकर अपने ही गृह पर पका खांय। इस प्रकार का परमोदार राजा भी रैकमुनि की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं माना गया। उस के राज्य में एक विज्ञानी महात्मा सयुग्वा, रैक रहते थे जिनना उन की अधिक कीर्ति गाती थी। पश्चात् जानश्रुति स्वयम् भी उन के निकट जा अध्यात्मज्ञान सीखा करता था।

राजा अश्वपति अपने राज्य का वृत्तान्त इस प्रकार कहता है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

छा० उ०

मेरे शासित देशमें कोई चोर नहीं है। कोई कृपण और अनुदार वैश्य नहीं है। कोई मद्यपायी नहीं है। कोई सत्यधर्मरहित नहीं है अविद्वान् भी कोई नहीं। कोई व्यभिचारी नहीं है। तब व्यभिचारिणी कोई कैसे हो सकती है।

वैदेह जनक का राज्य

इन के राज्य का इतिहास थोड़े शब्दों में क्या २ कहा जाय। १-धर्मकर्मनिर्णयार्थ बड़ी सभाएं होती थीं। २-ऐसे महान् यज्ञ होते थे जिन में देश भर के ज्ञानी विज्ञानी अनूचान (विद्वान्) सम्मिलित

होकर नाना प्रश्नों के ऊपर वाद प्रतिवाद करते थे। ३–अध्ययन अध्यापन के लिये बहुत से आचार्य्य नियुक्त थे जिन में मुख्य याज्ञवल्क्य थे। ४–प्रजाशासन की प्रणाली अत्युत्तम थी। इत्यादि। बृहदारण्योपनिषद् में तथा शतपथ ब्राह्मण में देख।

यदि ईदृश राज्य हों तो क्यों न सुख हो। जानश्रुति के राज्य में दिखलाया गया है कि प्रजाओं का भी धन राज्य में सञ्चित रहता है। समय २ में जनता के ही हेतु उस का व्यय होना चाहिये। अश्वपति के दृष्टान्त से सुशासन दिखलाया गया। जनक के निदर्शन से सर्वसम्पन्न राज्यप्रणाली कही गई।

एवमस्तु। मैं इस को कहां तक बताऊं। इस में स्थान भी इतना नहीं तथापि अतिशय संक्षेप से कुछ लिखना ही पड़ेगा। यहां के जितने पूज्य प्रातःस्मरणीय महापुरुष हुए हैं, उनके निकट राज्य त्याज्य माना गया है। सांख्य शास्त्र कहता है–

न दृष्टात् तत्सिद्धिः।

किसी भी दृष्ट उपायों से उस परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। योग शास्त्र की भी यही सम्मति है–

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य
वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥

समस्त दृष्ट और प्रचलित धार्मिक विषयों से वितृष्ण पुरुष को वशीकार संज्ञक वैराग्य प्राप्त होता है। तत्पश्चात् केवल ज्ञान से वह सर्वक्लेशरहित होकर उस सुख का अंशी होता है। इसी कारण

"ज्ञानान्मुक्तिः"

यही अन्तिम सिद्धान्त लोगों का रहा है॥

पौराणिक सम्मति

पुराण के अनुसार राज्य दो प्रकार का है। १–एक आसुर २–दूसरा दैव। जिस में धर्माधर्म, सत्यासत्य और ईश्वर का विचार

आदि इस के मन्तव्यों के अनुकूल न हों वह आसुर राज्य है और जो किसी वैदिक शाखाका अनुमोदन करने वाला हो वह दैव राज्य है। आसुर साम्राज्य की सदा निन्दा तिरस्कार और अनौचित्य का विस्तार वर्णन पुराणों में उक्त है। यहां इतना स्मरण रखना योग्य है कि पुराण सर्वदा नवीन २ कथा बनाकर आदर्शमात्र दिखलाते हैं अर्थात् कोई ऐतिहासिक घटनाएं नहीं बतलाते किन्तु अपने२ समय के दृश्यों को रूपक में रूपित करके सविस्तर रोचक आख्यानों से जनता को उपदेश देते हैं। उदाहरणार्थ ये हैं। १-हिरण्यकशिपु यद्यपि ब्रह्मा की पूजा करता था और त्रिभुवन का सम्राट् था तथापि वैदिक यज्ञादिकों को न मानने के कारण अधम समझा गया और अन्ततः सिंहासन से च्युत हो नृसिंह के नखों से विदीर्ण हुआ और उसके स्थान में प्रह्लाद का राज्याभिषेक किया गया। २-असुर बलि का अधःपात इस लिये किया गया कि उसके राज्य कर्मचारी वैदिक धर्मावलम्बी नहीं थे। ३-यद्यपि रावण ब्राह्मण था, यज्ञादिक शुभकर्म भी करता था। यहां तक किंवदन्ती अबतक चली आती है कि उसने वेदों पर भाष्य भी किया था। महादेव उसके इष्टदेव थे, ब्रह्मा से उसने वर पाया था। तथापि विषयी, व्यसनी, व्यभिचारी होने के हेतु सपरिवार उसका विध्वंस किया गया। ४-यद्यपि बाणासुर महादेव का परम भक्त था जिस के हेतु शिव और विष्णु में घोर संग्राम हुआ तथापि असुर कुलाभिमानी होने के कारण विहत हुआ। ५-कंस, शिशुपाल, जरासन्ध आदि क्षत्रिय ही थे किन्तु उनकी प्रकृति सदाचार और राज्यप्रणाली आर्य्यविरुद्ध थी अतः उनका भी विनाश किया गया।

विचारना चाहिये कि पुराण उन सब सम्राटों का राज्य क्यों नहीं पसन्द करता। निःसन्देह उनके सदाचार अच्छे न थे। अतः वे अभिशापित हुए। इस से विस्पष्ट सिद्ध होता है कि सब राज्य अच्छे ही नहीं किन्तु कोई २ राज्य बड़े ही दुःखदायी भी होते हैं। इस लिये सब प्रकार के राज्य से सुख नहीं हो सकता।

दैवराज्य

सब प्रकार के दैवराज्य को भी महाभारत और पुराण प्रशस्त नहीं समझते। मैं यहां उन प्रसिद्ध दृष्टान्तों को बतलाती हूं। जिन को आजकल भी लोग घर घर जानते हैं। जो पवित्र गान और श्रव्य समझा जाता है। जिन वृत्तान्तों से संस्कृत का कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ शून्य नहीं है।

विश्वामित्र और वसिष्ठ

ये दोनों वेदों के ऋषि मान्य, स्तुत्य, पूज्य, महातपस्वी माने गए हैं। तथापि विश्वामित्र के उस आचरण को अक्षन्तव्य और अन्याय समझते हैं। जो वसिष्ठ की गौ छीनने का पूर्ण उद्योग उन्होंने किया था।

परशुराम

पुराण के अनुसार परशुराम ईश्वरावतार माने गए हैं। इन्हों ने २१ इक्कीस बार उद्दण्ड, प्रचण्ड, उग्र, आततायी और अन्यायी राजन्यवर्गों को दण्ड दिया। इनका कोप यहां तक बढ़ गया था कि इस समस्त पृथिवी को राजवर्गों से शून्य करदें।

राजा वेन

यह सिंहासन से उतार कर मार डाला गया। यहां येही तीन उदाहरण देकर श्रोताओं के विचार पर इसको समाप्त करती हूं।

मनुस्मृति की राज्यव्यवस्था

मैं जब अपनी विचारबुद्धि से देखती हूं तो कहना पड़ता है कि इस पृथिवी पर कभी २ यथोचित न्यायालय स्थापित न हुआ। हां यह अवश्य हुआ कि दो चार न्यायी पुरुष पृथिवी पर हुए हैं किन्तु सभासदों के कारण ऐसे न्यायी की विवेचना न चलने पाई। राजवर्गों की उग्रता सदा देखी जाती है। इस अवस्था में प्राप्त होकर कहना पड़ता है कि न्याय, अन्याय, सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म आदि

शब्दों को उन लोगों ने गरीब जनों की हत्या के लिये महास्त्र बना रक्खा है। जो लोग विवेकहीन और स्वार्थ की साक्षात् मूर्ति हैं। भारतवर्ष में आंखों से देख रहे हैं कि १-शूद्रों को वेद पढ़ना अन्याय और द्विजों को न पढ़ना ही अन्याय कैसी भयङ्कर नीति है। शूद्र भी कौन ? जो जन्म से ही कायस्थ, कुरमी, अहीर, कुम्भकार, तेली, तमोली आदि शूद्र मानलिए गयहैं। २-शूद्रोंका उपनयन करना अन्याय और द्विजोंका न करनाही अन्याय। ३-विधवाहोकर अग्निमें जलकर मर जाना स्त्रियोंके लिये न्याय और पुरुषोंके लिये विभार्य्य होनेपर विवाह करना न्याय। इसके अतिरिक्त पुरुष कितने ही विवाह करले। १०० २०० । १००० इस के अधिक यदि पुरुष स्त्रियों को रख सकता है। तो भी वह अपराधी नहीं। राजा चाहे जिस गरीब देश को विध्वस्त करदे और वहां के नर नारियों को दास दासी बनाले। ऐसा अन्यायी राजा समाज में घृणित निन्दित न होकर प्रत्युत प्रशंसित होता है और वीर बहादुर धर्म्मावतार, ईश्वरावतार और देव आदि पदों से भूषित होता है। इन उदाहरणों से अभिप्राय यह है कि मनुष्य नाना मानसिक दुर्बलताओं से युक्त है। इसका उद्धार होना अतिशय कठिन प्रतीत होता है। एवमस्तु, प्रस्तुत की ओर चलते हैं।

वर्त्तमान मनुस्मृति के देखने से यह विदित होता है कि प्राचीन काल के अस्थिर नियमों को दृढ़ करने का इस का पूर्ण उद्योग है। १-पूर्वकाल में मनुष्य एक जाति मानी जाती थी। क्रमशः इस में कार्य्यविभाग और व्यापार की वृद्धि होने लगी तब वंशानुगत व्यापार चल पड़ा। यही एक प्रकार से मनुष्य पश्वादिवत् जातिविभाग का कारण बन गया। तथापि इस की जड़ मजबूत नहीं हुई थी। मनुस्मृति इस को सब प्रकार से दृढ़ कर देती है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार जातियां विश्वासपूर्वक दृढ़ता से पृथक् मानी जाने लगी। २-राजवंश को सुदृढ़ देववंश बनादिया। प्रजाओं पर अधिक प्रभाव स्थिर करने के हेतु मनुस्मृति कहती है-

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ।
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ॥
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितोनृपः॥
तस्माद्भिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ।

अर्थ—इन्द्र, वायु, यम, सूर्य्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुवेर इन आठ लोकपालों के नित्य अशों को लेकर प्रभु ने लोक की रक्षा के लिये राजा बनाया है। जिस हेतु देवोंके अशोंसे राजा निर्मित होता है अतएव अपने तेज से सब प्राणियों को दबा लेता है। इतना ही नहीं मनुस्मृति कहती है—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

मनुष्य जानकर बालक राजा को भी कोई तिरस्कार न करे क्यों कि इस पृथिवी पर वह मनुष्यरूप से महान देव स्थित है।

इस प्रकार मनुस्मृति राजसत्ता की जड़ को खूब ही प्रबल बनाती है। परन्तु मैं यह पूछती हूं कि क्या सूर्य्यादिवत् अकेला राजा अपना तेज फैला सकता है। यवन, म्लेच्छ और मुसलमान के भारत पर आक्रमण के समय यह महती देवता कहां भाग गई। हां, यह बात अङ्गीकार योग्य है कि जब यहां के वैश्य और शूद्र बहुत निर्बल थे तब उन पर यह राजवर्ग महती देवता होकर शासन करते थे। किन्तु पश्चात् मुसलमान बादशाह के गुलाम बन कर उन शूद्रों से भी अतिनीच होगए क्योंकि जो राजदेवता स्वगृह, स्वपरिवार, स्वधर्म, स्वलज्जा, स्वसदाचार भी न बचा सकता उसे किस नाम से स्मरण करें?

शूद्रजाति पर अत्याचार

मुझे यहां इतना वक्तव्य है कि शूद्र को एक पृथक् जाति मान

कार ध में और राज्य में कोई अधिकार न देना क्या महान् अन्याय नहीं। मनुस्मृति कहती है-

जातिमात्रोपजीवी वा कामंस्याद्ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ १ ॥
यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः ॥२॥
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ।३।
न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम् ४
शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते ॥५॥

अर्थ—केवल जाति का ब्राह्मण अर्थात् विद्यादि गुण विहीन भी हो और ब्राह्मणों में नीच भी हो तो भी ब्राह्मण ही राजा का धर्म प्रवक्ता हो सकता है। शूद्र कदापि और किसी अवस्था में नहीं। १। जिसराजा का धर्मकार्य्य शूद्र करता है वह दुःख पाता है जैसे गौ कीचड़ में। २। ब्राह्मण की सेवा करना ही शूद्र का धर्म है। इस से अन्यान्य जो वह करता है। वह उसका निष्फल है। ३। शूद्रमें पाप नहीं लगता इसका कोई संस्कार नहीं। धर्म में इस का अधिकार नहीं। ब्राह्मण सेवारूप धर्म से प्रतिषेध नहीं।

मैं इस विषय को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता। केवल यह दिखलाना है कि राजकीय व्यवस्था भी धर्मानुसार ही होती है। अतः न्याय की मात्रा वहां ही तक परिमित होती है। जहां तक धर्म आज्ञा देता है। इस हेतु अविवेकी राज्य प्रबन्ध से भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती। इति संक्षेपतः

धर्मादित्रयव्यवस्थाविवेक

शिक्षा व्यवस्थाविषय

प्रियम्वदा-श्रीमती जी के उपदेश से मेरे निखिल सन्देह मेरे मन से निकल कर भागते हैं। चित्त में कितना आनन्द तरंगायमाण होता है उसका वर्णन नहीं हो सकता। जो २ बहुत से सन्देह मेरे मन में बहुत दिनों से समाए हुए थे वे अपने ही से निवृत्त होगये न मालूम कि श्रीमती के वचन रूप महास्त्र मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट हो, माना, मेरे सन्देहरूप मृगपक्षियों को मार २ कर बाहर निकाल रहे हैं। और मुझे यह दृढ़तर निश्चय होगया कि वर्त्तमान कालिक धर्मसम्प्रदाय और राज्य सुखप्रद नहीं है। अब मैं शिक्षा-सम्बन्ध में भी भगवती के वचनामृत पान करना चाहती हूं। यदि किसी प्रकार महाशया को क्लेश न हो।

श्रीरूपकुमारी-मुझे उपदेश करने में कोई कष्ट नहीं प्रत्युत आनन्द आता है। एक तेरे उपदेश से सहस्रों को कल्याण पहुंचरहा है। श्रोतावर्ग भी दिन २ बढ़ते जाते हैं। एवमस्तु। आगे देख। धर्म और राज्यव्यवस्था के अनुसार ही शिक्षा भी हुआ करती है। उदार शिक्षा का अभाव सर्वत्र विद्यमान है। पुनः मुझे वही बात स्मरण में आती है कि देश भेद से मनुष्यों ने अपने में इतना भेद मान लिया है कि सब में सामञ्जस्य और एकता होना कठिन प्रतीत होता है जैसे विज्ञान और गणित की सर्वत्र एकता है वैसे ही यदि सर्व धर्म्मों की एकता होती तो समस्त पृथिवी पर के मनुष्य बड़े सुखीहोते। किसी देशका वासी विद्वानहो, जल और पृथिवी आदिके विज्ञान में भिन्न नहीं है। कोई भी कहीं क्यों न हो गणित को एकरूप से ही मानेंगे। वैसा ही मन्तव्य सब वस्तु मे होना चाहिये। देश काल भेद से विचार में भेद होता गया। किन्तु ईश्वर की इस समय बड़ी कृपा है कि मनुष्य स्थान २ में एकत्रित होरहे हैं। अपना २ भाव परस्पर बतला रहे हैं। एक भाषा के ग्रन्थों का अनुवाद

दूसरी भाषा में अच्छीतरह से हो रहा है। यदि हठ और दुराग्रह को छोड़ सत्यता के लिये परस्पर विचार करें तो पारस्परिक विरोध सहजतया दूर हो सकता है। किन्तु मनुष्य इतने बुद्धिमान् होने पर भी अत्यन्त अभिमानी हठी और आलसी हैं अतः वे अपने कर्म्मों का फल भोग रहे हैं। लोगों ने जो अपना २ एक एक विशेष चिह्न मान लिया है उसे छोड़ एक ईश्वर की ओर आजाय तो सुख की आशा बहुत है। प्रथम एक एक आचार्य्य के नाम पर शिर मुड़ाना अथवा लड़ना सर्वथा अनुचित है।

देख, विचार और सोच। एक आचार्य्य के मन्तव्य का अनुसरण करने से बहुत दोष आजाते हैं। जैसे वल्लभाचार्य्य ने तन, मन, धन, अर्पण के लिये कहा था। इस पक्ष पर चलने वाले सबको नीचाति नीच तन समर्पण करने का कर्म्म करना पड़ता है यह गलती इस लिये हुआ करती है कि अपने आचार्य्य को भगवान् समान मान उस के पक्ष पर चलना अनुयायीवर्ग सर्वोत्तम मानते हैं। यदि एक पर ही वे भक्तवर्ग निर्भर न होते तो ऐसा अयोग्य कर्म उन में प्रचलित न होता एक आचार्य्य के मानने से ही भारत वर्ष में अतिघृणित शिवलिङ्ग पूजा और तन्त्र पद्धति चल पड़ी। यदि जैनी लोग एक ही अपने आचार्य्य के अतिशयविश्वासी न होते तो वे कदापि पौराणिकों से भिन्न न होते। इसी प्रकार सर्वमुसलमान मुहम्मद के और सब क्रिस्तान ईसा के परम विश्वासी हैं। जिस हेतु मुहम्मद धोती को लुंगी के तौर पर पहिन पश्चिम मुख हो नमाज पढ़ा करते थे इस लिये सब कोई वैसे ही करने लग गये। मुहम्मद जी ने किसी कारणवश स्त्रियों को पर्दा में रखने को कहा था अब समस्त मुहम्मदीय भाई इस आचार को परमकर्त्तव्य समझने लगगये। मूसा ने किसी समय खतना करने की रीति चलाई थी उनकी देखा देखी समस्त यहूदी, मुसलमानों तथा यूरप में भी खतना करने की प्रथा चल पड़ी। अब क्रिस्तानी धर्म में यह प्रथा बन्द करदी गई है। मैं कहां तक उदाहरण बतलाऊं एक ही आचार्य्य के मानने से बड़ी २ क्षति हुई है।

दूसरी बात यह है कि लोगों ने जो अपना २ चिह्न अलग २ बना लिया है उसे छोड़कर भी मनुष्य सुखी हो सकता है। वैष्णव कण्ठी तिलक लगाना स्वधर्म समझते हैं किन्तु वह चिह्न उनका अपना है। जैन इसको अपना चिह्न न समझ कर रात्रि में न खाना नग्नमूर्त्ति को पूजना इत्यादि अपना चिह्न मानते हैं। जैसे समस्त हिन्दू मथुरा आदि तीर्थों को निज समझते हैं वैसे ही मुसलमान मक्का और मदीने को क्रिस्तान जेरुसलम को निजतीर्थ समझते हैं। इस प्रकार माने हुए बहुत से अपने २ चिह्नों को छोड़ भाई २ समझ परस्पर सब आदमी मिलजांय तो मनुष्य जाति में बहुत से बखेड़े दूर होजांय।

देश, भाषा और निजत्व को लोक छोड़ें। केवल एक राष्ट्रीय भाषा बना लें। स्वार्थ त्यागें। मानवजाति में ही उच्चता नीचता का भेदज्ञान दूर फेंक एक मनुष्यता पालें। वास्तव में मनुष्यत्वेन मनुष्य में भेद भी कुछ नहीं। केवल देशाभिमान कुलाभिमान जात्यभिमान इत्यादि २ विविध अभिमान मनुष्य जाति को नीचे गिराए हुए हैं। एवमस्तु। मैं कहां तक मानव जाति की विचित्रता बतलाऊं। इस में सन्देह नहीं कि मनुष्य की नाना अवस्थाओं को देख कर अनायास कहना पड़ता है कि इस सृष्टि का उपादान कारण ही अज्ञान है और इस जीव की उपाधि ही अविद्या है तब ही मनुष्यजाति में ऐसी घनी अविद्या और अज्ञानता है। जिसके विवश ये जीव मूढ़ बन रहे हैं। इन पर विद्वानों को दया करनी चाहिये। वैदिक शिक्षा का थोड़ा सा नमूना बतलाकर इस प्रकरण को समाप्त करना चाहती हूं।

वेदमनूच्याचार्य्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।
सत्यं वद। धर्म्मञ्चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद॥
आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य—
प्रजातन्तुं माऽव्यवच्छेत्सीः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्।धर्म्मान्न प्रमदितव्यम्॥ कुशलान्न प्रमदितव्यम्।भूत्यैन प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १ ॥

आचार्य्य वेद पढ़ा कर शिष्य से कहते हैं कि तू सत्य बोल। धर्म्म कर। स्वाध्याय से प्रमाद मत कर। प्रिय धन लाकर आचार्य्य को दे। प्रजातन्तु का विच्छेद मत कर। सत्यसे प्रमाद करना उचित नहीं। धर्म से प्रमाद करना उचित नहीं। कुशल से प्रमाद करना उचित नहीं। स्वाध्याय (नित्यपाठ) और प्रवचन (पढ़ाना) से प्रमाद करना उचित नहीं।

देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवोभव। आचार्य्यदेवोभव। अतिथिदेवोभव। यान्यवद्यानि कर्म्माणि तानि सेवितव्यानि।नोइतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि।२।

देव और पितृकार्य्य से प्रमाद करना उचित नहीं। मातृदेव हो। पितृदेव हो। आचार्य्यदेव हो। अतिथिदेव बन। जो अनिन्दनीय कर्म हैं उन्हे सेवना उचित है। इतर नही। जो हमारे सुचरित हैं उन्हें तू ध्यान से कर।

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्॥ श्रद्धयादेयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रियादेयम्। ह्रियादेयम्। भिया देयम्। संविदादेयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३ ॥

इतर नहीं। जो कोई हम लोगों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उन को तू आसन आदिसे सम्मान कर। श्रद्धासे देना उचित है। अश्रद्धा से भी देय है। सम्पत्ति से देय है। लज्जा से देय है। भयसे देय है। ज्ञान से देय है। यदि तुम्हें कर्म में सन्देह हो अथवा व्यवहार में सन्देह हो ॥ ३ ॥ तो–

ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथातत्र वर्त्तेथाः। अथाभ्याख्याते तेषु ये तत्र ब्राह्मणाःसम्मर्शिनः। युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः। यथा तेतेषु वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

वहां जो ब्राह्मण परमार्थतत्वदर्शी हों ब्रह्म में युक्त और संसार में अयुक्त अतएव अलोभी धर्म्मात्मा हों वहां वे जैसे रहें वैसा वहां तू भी रह। यह आदेश है। यह उपदेश है। यह उपनिषत् है। यह अनुशासन है। इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये। पुनः–

ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने। च सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। समश्चस्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्चस्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रश्च स्वाध्याय प्रवचने च।

अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्चस्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपो नित्यः पौरुशिष्टः । स्वाध्यायप्रवचने एवेतिनाको मौद्गल्यः । तद्धितपस्तद्धि तपः ॥ १ ॥

ऋत (सत्यविज्ञान) और पढ़ना पढाना । सत्य और पढ़ना पढ़ाना। तप और पढ़ना पढ़ाना। दमन और पढ़ना पढ़ाना। शम और पढ़ना पढ़ना। विविधयज्ञ और पढ़ना पढ़ाना। अग्निहोत्र और पढ़ना पढ़ाना। अतिथियों की सेवा और पढ़ना पढ़ाना । मनुष्यों की सेवा और पढ़ना पढ़ाना। विवाह और पढ़ना पढ़ाना। सन्तानोत्पत्ति और पढ़ना पढ़ाना। प्रख्याति और पढ़ना पढ़ाना। राथीतर सत्यवाचा नाम के ऋषि कहते हैं कि यदि किसी कारणवश स्वाध्याय (पढ़ना) प्रवचन (पढ़ाना) न हो सके तौ भी सत्यग्रहण करना आवश्यक है। पौरुशिष्टि तपोनित्य नाम के ऋषि कहते हैं कि इन्द्रियदमन लोकोपकार सत्याश्रित सन्तोष अलोभ इत्यादि व्रत करना अत्यावश्यक है। मौद्गल्य, नाम के ऋषि कहते हैं कि स्वाध्याय और प्रवचन ये दो ही अत्यावश्यक हैं। यही दोनों सबके मूल कारण हैं। यही तप है यही तप है।

इन पूर्वोक्त उदाहरणों में यद्यपि बहुत सी अत्यावश्यक शिक्षाएं दिखलाई गई हैं तथापि दो चार बातों परही यहां टिप्पणी करनीहै।

सत्यंवद

ऋषि शिक्षा देते हैं कि " सत्यबोल " यहां तक कि पठन पाठन के साथ सत्यग्रहण करना अत्यावश्यक बतलाते हैं । किन्तु आज

काल सामाजिक और धार्म्मिक दोनों व्यवस्थाएं ऐसी बिगड़ी हुई हैं कि सत्य का ग्रहण करना अति कठिन है। प्रथम सत्य ही क्या है इस का ज्ञान अति दुष्कर है और विवादों से और मिथ्या कल्पनाओं से इस सत्य के रूप को लोग छिपाए हुए हैं। प्रथम इस सत्य के तीन भेद कोई २ बताते हैं १-सामान्य सत्यता २-विशेषसत्यता ३-धार्म्मिक सत्यता। सामान्य सत्यता वह है कि बाह्यरूप से जो एक वस्तु समस्त मनुष्य को एक रूपसे ही भासित हो। जैसे किसी पुष्पवाटिका में प्रत्येक प्रकार के आबाल वृद्ध-मनुष्य इकट्ठे हैं। उन सबों को एक रूपसे भासित होता है कि इस वाटिका में अमुक अमुक पुष्प हैं। अमुक २ वृक्षादिक हैं और अमुक २ अन्यान्यलताएं हैं। इस में न तो भेद ज्ञान और न विवाद ही है। रात्रि में स्वच्छ आकाश को देख सामान्यरूप से सब ही कहते हैं कि आज आकाश निर्मल है। नक्षत्रगण विस्पष्टरूप से द्योतित हो रहे हैं। उन के मध्य चन्द्रमा कैसा मनोहर विराजमान है। एक महती सभा को देखकर सब कोई कहते हैं कि आज यहां बहुत लोग इकट्ठे हुए हैं। विद्वान् व्याख्यान देते हैं श्रोता शान्ति से सुन रहे हैं। इत्यादि स्थलों में कुछ भी भेद ज्ञान नहीं होता। इस में असत्य की सम्भावना नहीं। इस प्रकार के ज्ञान का नाम सामान्य सत्य है।

विशेष सत्य वह है जो शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त होता है। जिस सत्यता को अपने अनुभव और परीक्षाओं और नाना प्रमाणों से विद्वद्गण सिद्ध कर गये और कर रहे हैं। जैसे यद्यपि पृथिवी अचला प्रतीत होती है तो भी अनेक प्रमाणों से इस की गति सिद्ध की जाती है। यह विज्ञान शास्त्र के अध्ययन से मालूम होता है। इसी प्रकार पृथिवी से कितनी दूरी पर सूर्य्य, चन्द्र नक्षत्रादि स्थित हैं। इन्द्र धनुष कौन वस्तु है। ग्रहण कैसे होताहै। भौतिक जलादिकों का वास्तविकस्वरूप क्या है। मनुष्य के शरीर में कितनी हड्डियां कितने प्रकार के धातु नेत्रादिकों की आकृति इत्यादि २ वस्तुओं का बोध बिना शास्त्राध्यन से नहीं होता। इस हेतु इस का नाम

विशेष सत्यता है। इस में भी समय २ पर यत्किञ्चित् परिवर्त्तन होता है। प्रथम अनुभवी विद्वान् की परीक्षा में जो त्रुटि रह जाती है उत्तरोत्तर विद्वान् उस त्रुटि को निकालते रहते हैं। इस लिये इस सत्यता में भी न्यूनाधिक्य होने की सम्भावना रहती है।

धार्म्मिक सत्यता वह है जिनको धर्म्म ग्रन्थ सत्य कहते हैं। यद्यपि वे अनेक अन्यान्यप्रमाणों से असत्य क्यों न ठहरा जांय तथापि धर्म्मग्रन्थ के अनुसार वे सत्य ही माने जाते हैं। और उस के कहने सुनने वाले कदापि असत्यवादी नहीं माने जाते। जैसे पुराण कहता है कि अगस्त्यऋषि सब समुद्रों का जल पीगये। यद्यपि यह सर्वथा असत्य है तथापि धर्म्मग्रन्थविहित होने से सत्य ही माना जाता है। और इसके कथकर और श्रोता अथवा मानने वाले कदापि असत्यवादी नहीं कहे जाते। इसी प्रकार बाईबिल में लिखा है कि कुमारी कन्या से ईसा की उत्पत्ति हुई। यद्यपि यह सर्वथा असत्य है तथापि इसके मानने वाले कई कोटि पुरुषों और स्त्रियों को कोई विद्वान् असत्य नहीं कहते। कहां तक उदाहरण बतलाए जांय। इस प्रकार परीक्षा करने से सत्यासत्य का निर्णय भी अतिकठिन होगया है। अतएव सब शास्त्रकारों में विरुद्धोक्ति देखते हैं।

धर्मं चर

ऋषि उपदेश देते हैं कि "धर्म्म कर। इस पर बहुत कुछ पूर्व में कह चुकी हूं। धर्म्म भी विवादग्रस्त होगया है। कौन धर्म्म ? हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, जैनधर्म्म, क्रिस्तान धर्म, इसलामीधर्म्म इत्यादि २ अनेक धर्म्म परस्पर विरुद्ध हैं। इस हेतु यदि यहां वेदान्त पद्धति मानली जाय तो धर्म की भी एकता सुगम रीति से होजाती है क्योंकि इसमें प्रधान तथा शम, दम, तितिक्षा, श्रद्धा, विश्वास, ज्ञान, वैराग्य आदिक ही मुख्य धर्म कहे जाते हैं।

स्वाध्यायप्रवचने च

पठनपाठन के लिये ऋषि कितना जोर देते हैं। इसी के अभावके

कारण भारतवर्षीय दुःख भोग रहे हैं। पूर्वकाल में प्रत्येक मनुष्य अपने सन्तान को अध्ययनार्थ गुरुकुल में भेजता था इस का माहात्म्य और आवश्यकता यहां तक समझी गई कि इस कार्य्य की सिद्धि के लिये एक ब्रह्मचर्य्याश्रम पृथक् स्थापित किया गया। गुरु और आचार्य्य की प्रतिष्ठा सब से अधिक समझी गई। जो विद्याध्ययन आचार्य्यकुल में जाकर न करे वह जातिबहिष्कृत माना जाने लगा। इस में सन्देह नहीं कि अध्ययन बिना मनुष्य पशु ही है। इस के अतिरिक्त अतिथियों की सेवा इत्यादि २ अनेक शिक्षाएं भरी हुई हैं।

ऐ प्रियंवदे! इतने व्याख्यान से तेरी समझ में यह बात अवश्य आगई होगी कि वैदिक धर्म्म वैदिकराज्य और वैदिकशिक्षा यदि पृथिवी पर फैले तो निःसन्देह मनुष्य सुखी हो सकता है। यदि कहो आदिकाल से वैदिक धर्म का उपदेश होता चला आता है उस से संसार मे सुख विस्तारित न हुआ तो अब मेरे उद्योग से सुखोपलब्धि होगी। इस में कौन आशा है। हां, यह कहना बहुत ठीक है तथापि यदि इतना भी उपदेश विद्वद्गण न करते रहें तो और भी महान् अनर्थ जगत् में फैल जाय। इसलिये मेरा उद्योग भी निष्फल तो नहीं किन्तु सर्वजन के निकट पहुंच नहीं सकता। अब इस को मैं अधिक बढ़ाना नहीं चाहती तुझे यदि इस सम्बन्ध में शङ्का रह गई हो तो पूछ। मैं यथाशक्ति और यथाविवेक बतलाऊंगी।

प्रियवदा-मातः! अब मुझे कुछ भी सन्देह नहीं रहा। किन्तु वेदान्त की बहुतसी बातें सुनने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुईहै। अतः हम वनिताओं के लिये जो २ उपदेश श्रीमती उत्तम और हितकर समझें उन्हें कहकर समझाइये।

इति श्रीरूपकुमारी कृते वेदान्तपुष्पाञ्जलौ धर्म्मादित्रयव्यवस्थाविवेक गुच्छः समाप्तः।


CENTAUR
FEATHERWEIGHT

वेदान्तसारविवेक

रूपकुमारी—प्रिये प्रियम्वदे! तुझे मैं सक्षेप से वेदान्त का सार बतलाती हूं। तू जैसी मेधावती और धारणावती है वैसी ही मुझे आशा है कि तू मेरे अभिप्राय समझ कर उस २ विषय को मन में खचित भी कर लेगी। आत्मसाक्षात्कार के लिये मुख्य चार ही साधन हैं १-विवेक २-वैराग्य ३-षट्सम्पत्तियां और चतुर्थ मुमुक्षुत्व इन में षट्सम्पत्तियां ये हैं १-शम २ दम ३-उपराम ४-तितक्षा ५-समाधि और ६-श्रद्धा। इन चार साधनों से युक्त नर अथवा नारी गुरु के निकट जा ब्रह्म की जिज्ञासा करे। उस नम्र मुमुक्षु शिष्य को अध्यारोप और अपवादन्याय से वैसा उपदेश दे जिस से परमपुरुषार्थ की सिद्धि हो।

अपवाद

असर्पभूत रज्जु में सर्प का भ्रम से आरोप होता है तद्वत् वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है। सच्चिदानन्द परब्रह्म ही एक वस्तु है अज्ञानादि सकल जड़ समूह अवस्तु है न सत् न असत् अनिर्वचनीय त्रिगुणात्म,ज्ञानविरोधी, भावरूप जो एक वस्तु उसको अज्ञान कहते हैं। अज्ञान, माया, अविद्यातम, उपादानकारण, ईश्वर शरीर, ईश्वरोपाधि, इत्यादि शब्द एकार्थक हैं। वह अज्ञान समष्टि और व्यष्टिरूप से एक और अनेक दोनों हैं। जैसे वृक्षों की समष्टि (समुदाय) वन ऐसा एक नाम होता है। परन्तु भिन्न २ रूप से वन में अनेक वृक्ष होते हैं। इसी दृष्टान्त के अनुसार सर्व जीवगत जो अज्ञान समूह वह एक ही अज्ञान है किन्तु पृथक् जीवगत अज्ञान अनेक भी हैं। इस हेतु स्वस्व अज्ञान की निवृत्ति से आत्मा स्वयम् भासित होता है।

अज्ञान की शक्ति

उस अज्ञान की आवरण और विक्षेप नाम की दो शक्तियां है।

आवरणशक्ति यह है जैसे अल्प भी मेघ अनेक योजन विस्तीर्ण सूर्य्य मण्डल को आच्छादित कर लेता सा प्रतीत होता है। जैसे पृथिवीस्थ मनुष्य सूर्य्य को नहीं देख सकते वैसे ही अत्यन्त अल्प भी अज्ञान अत्यन्त अथवा अपरिच्छिन्न अनन्त २ आत्मा को घेर लेता है। ऐसी महाशक्ति का नाम आवरणशक्ति है। किसी ने ठीक कहा है:-

घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। तथाबद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिःस्वरूपोऽहमात्मा॥

मेघ से आच्छादित नयन वाला अतिमूढपुरुष सूर्य्य को भी घनच्छन्न और निष्प्रकाश जैसे मानता है वैसे ही मूढदृष्टि में जो आत्मा बद्धवद्भासित होताहै, वही नित्यज्ञानस्वरूप आत्मा मैं हूं। इसी आवरणशक्ति से युक्त जब आत्मा होता है तब वह अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी दुःखी इत्यादि धर्म वाला कहता है। और इसी से इस को संसार की प्राप्ति होती है जैसे स्वकीय अज्ञान से आवृत रज्जु में सर्पत्व की सम्भावना होती है।

विक्षेपशक्ति

जैसे रज्जुगत अज्ञान स्वावृत रज्जु में स्वशक्ति से सर्पादिक उत्पन्न करता है वैसे ही अज्ञान भी स्वावृत आत्मा में स्वशक्ति से आकाशादि प्रपञ्च को घड़ लेता है तादृक् सामर्थ्य का नाम विक्षेप शक्ति है। यही विक्षेप शक्ति लिङ्गादि शरीर से लेकर ब्रह्माण्डान्त जगत् को बनाती है। वही अज्ञान निमित्त और उपादान दोनों कारण जगत् का है। जैसे मकड़ी स्वयम् जाल बनातीहै इसलिये वह निमित्तकारण है और अपने शरीर से ही जाल बनाती है इस लिये उपादानकारण है। तमोगुणप्रधान विक्षेपशक्तियुक्त जो अज्ञान उस से युक्त जो चैतन्य उस से यह सम्पूर्ण जगत् बनता बिगड़ता रहता है।

इस प्रकार वस्तु में अवस्तु का आरोप अध्यारोप कहलाता है इस को अति संक्षिप्त रूप से दिखलाया है। अब इस जीवात्मा में भी

जैसा जैसा लोक अध्यारोप करते हैं उसे संक्षेप से दिखलाती हूं। कोई इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं। क्योंकि "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्यादि प्रमाण से अपने शरीर के समान ही स्वपुत्र में भी प्रेम देखते हैं। पुत्र के पुष्ट और नष्ट होने से मैं ही पुष्ट और नष्ट भी हुआ हूं, इत्यादि अनुभव भी करते हैं। किन्तु अपने से विभिन्नशाखा रूप पुत्र में निज शरीर से न्यून भी प्रेम होता है। अग्नि से जाज्वल्यमान गृह को देख प्रथम प्रत्येक आदमी पुत्र को त्याग अपनी रक्षा करना चाहता है। मैं स्थूल और मैं कृश हूं, इत्यादि अनुभव से इस स्थूल शरीर ही को कोई चार्वाकादिक आत्मा मानते हैं। दूसरे नास्तिक कहते हैं कि यदि इन्द्रिय न हों तो शरीर नहीं चल सकता और मैं काण हूं और मैं बधिर हूं इत्यादि अनुभव भी होता है। इस हेतु इन्द्रिय ही आत्मा है। तीसरे कहते हैं कि यदि प्राण न हों तो इन्द्रियों की गति नहीं हो सकती और मैं बुभुक्षु और पिपासु हूं, इत्यादि अनुभव भी होता है अतः प्राण ही आत्मा है। चौथे कहते हैं कि यदि मन सुप्त हो जाय और इस की क्रियाएँ न हों तो प्राण भी कुछ नहीं कर सकते। और मैं सकल्प विकल्प करने वाला हूं संकल्प और विकल्प मन के धर्म हैं इस हेतु मन ही आत्मा है। पञ्चम बौद्ध कहते हैं कि कर्त्ता और भोक्ता कोई अन्य न हो तो करण मन की शक्ति कुछ नही कर सकती और मैं कर्त्ता हूं, और भोक्ता हूं, इत्यादि अनुभव भी होता है इस हेतु बुद्धि ही आत्मा है। प्रभाकर और तार्किक कहते हैं कि सुषुप्ति में बुद्ध्यादिकों का अज्ञान में लय हो जाता है और मैं अज्ञ हूं इत्यादि अनुभव भी होता है अतः अज्ञान ही आत्मा है। भट्ट कहते हैं सुषुप्ति में प्रकाश और अप्रकाश दोनों रहते हैं और मै अपने को जानता हूं सुख से आज मैं सोया इत्यादि अनुभव भी होता है अतः अज्ञानोपहित, चैतन्य ही आत्मा है। दूसरे नास्तिक कहते हैं कि सुषुप्ति में सब वस्तुओं का अभाव होता है और सुषुप्ति से उठ कर पुरुष को ऐसा ज्ञान होता है कि सुषुप्ति में मेरा अभाव होगया था, इस हेतु शून्य ही आत्मा है।

ऐ प्रियम्वदे! इन पूर्वोक्तमतों का खण्डन वेदान्तके समस्त ग्रन्थों में विद्यमान है। शरीरादि आत्मा नहीं। किन्तु नित्यशुद्धबुद्ध मुक्त स्वभाव प्रत्यक् चैतन्य ही आत्मा है यह वेदान्त का माननीय सिद्धान्त है। इस प्रकार आत्माऽध्यारोप का भी वर्णन किया है।

अपवाद

रज्जुविवर्त=रज्जु में सर्प का भ्रम होकर जिस समय वह भ्रम नष्ट हो जाय उस समय जैसे सर्पज्ञान भी नष्ट होजाता है तब केवल रज्जुमात्र का ज्ञान रह जाता है। इसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म में अवस्तुरूप अज्ञानादि जड़ पदार्थ का भ्रम होकर जिस समय उस भ्रमका नाश होजाय तब केवल ब्रह्ममात्र अवशिष्ट रह जाता है। इस प्रकार बोध का नाम अपवाद है। परिणाम और विवर्त्त का भी भेद यहां जान लेना चाहिये-जो स्वरूप को विकृत करके कार्य्य को उत्पन्न करे वह विकारी वा परिणामी उपादान कारण है। अर्थात्, वस्तु का विकृतरूप में होना परिणाम है। यथादूध स्वयं दधि बन जाता है। बीज क्रमशः अंकुर और शाखा पल्लव युक्त वृक्ष बन जाता है। ऐ पुत्री यह सम्पूर्ण जगत् ही माया अथवा अज्ञान का परिणाम है जिस हेतु वह माया त्रिगुणात्मक और अत्यन्त विलक्षण है अतः यह समस्त जगत् भी वैसा ही हुआ है। क्या मृत्तिका से बने हुए पदार्थ कदापि सुवर्णमय होंगे? नहीं मृत्तिकामयही होंगे। ऐसे ही इस संसार को समझ।

किन्तु यह जगत् ब्रह्म का विवर्त भी कहा जाता है। कारण को विकृत न बनाकर वस्तु के समान ही कार्य्य उत्पन्न करे उसको विवर्त कहते हैं। जैसे अन्धकारादि दोषवश जो सामर्थ्य रज्जु को विकृत न बनाकर रज्जु के समान ही सर्परूप कार्य्य को उत्पन्न कर देता है अतः इस सामर्थ्य का नाम विवर्त है।

शङ्का—कदाचित् तुम सबको परिणाम और विवर्त शब्द सुनने से अवश्य शङ्का उत्पन्न हुई होगी क्योंकि एक ही वस्तु माया का

परिणाम और ईश्वर का विवर्त कैसे हो सकता है। यह जगत् परिणाम भी हो और विवर्त भी हो यह कहना सर्वथा अयौक्तिक है। क्योंकि दूध से दधि होना परिणाम कहावेगा विवर्त नहीं और रज्जु में सर्पभ्रम होना परिणाम नहीं किन्तु विवर्त है। इस जगत्में दोनों के बहुशः उदाहरण हैं। किन्तु समष्टिरूप से यह जगत् परिणाम ही कहा जा सकता है विवर्त नही, विवर्त तो भ्रम का नाम है। परिणाम वस्तुस्थिति है। रज्जु में सर्पका, शुक्ति में रजतका, आकाश में श्यामताका और स्थाणु में पुरुष का जो ज्ञान वह वास्तव में भ्रम है। वस्तु नहीं। किन्तु दूधसे दही का होना, अंकुर से काण्ड, काण्ड से पल्लव आदि का होना एक वस्तु है। किन्तु जहां बीज से अङ्कुरादि होते हैं वहां परिणाम और विवर्त दोनों नही कह सकते। अतः इस शङ्का का निवारण अत्यावश्यक है।

समाधान–ऐ पुत्रियो! इस तत्व को तुम सब तबही समझ सकोगी जब वास्तव में अपने स्वरूप को पहचान लोगी। वास्तव में यह संसार है ही नहीं। जैसे स्वप्न में सारी सृष्टियां होती रहती हैं किन्तु वे सृष्टियां वास्तव में सत्य नही वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् भी महान् आत्मा में स्वप्नवत् भासित हो रहा है। न जगत् है न होगा, अतः यह ब्रह्म का विवर्त कहलाता है। अब द्वितीय पक्ष को समझो। व्यवहार मे जगत् भासित हो रहा है इस में भी सन्देह नहीं अतः व्यवहारको लेकर इस सृष्टि का वर्णन होता है अतः इस में परिणाम बतलाया जाता है॥

यहां इतनी बात और भी जानले–माया, अविद्या, अज्ञान इत्यादि शब्दों से जिस वस्तु को कहते हैं वह वस्तु ही नहीं। यह कोई पदार्थ ही नही। वह अनिर्वचनीया कही जाती है। जैसा कि प्रमाण ग्रन्थों में उक्त है:–

नासद्रूपा नसद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

वह माया न सत् है, न असत् है, न उभयात्मिक है। किन्तु सत्

और असत् से विलक्षणा अनिर्वचनीया मिथ्याभूता सनातनी माया है। अब समझ सकती है कि जब माया कोई वास्तव में मृत्तिकादिवत् पदार्थ ही नही तो उस मे जगत् ही क्या बनेगा । उपादान के समान ही कार्य्य होता है। उपादान माया मिथ्या है, अतः उसका कार्य्य यह जगत् भी मिथ्या ही है। किन्तु व्यवहार में यह भासित होता है। अतः,माया का परिणाम इसको कहते हैं। इसी कारण कोई२ आचार्य्य दो ही सत्ताओं को मानतेहैं १—पारमार्थिकी २ और प्रातिभासिकी। अब आगे चल।

इस प्रकार अध्यारोप और अपवादद्वारा सम्पूर्ण विषय का बोध करना चाहिये। इस के पश्चात् "अहंब्रह्मास्मि" का ध्यान करके अपने को शुद्ध पवित्र बनाकर आत्मसाक्षात्कार के लिये यत्न करे। उस परमात्मा का जब तक साक्षात्कार न हो तब तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। योगशास्त्र कहता है:-

सतु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

भाव यह है, प्रत्येक वस्तु की दृढ़ता के लिये दीर्घकाल और नैरन्तर्य्य और सत्कार्य्य इन तीन वस्तुयों की अत्यन्त अपेक्षा है तो हैं। चतुर्थ तीव्र संवेग भी आकांक्ष्य है। मन में यह भाव रखना चाहिये कि वह परमप्रिय आनन्दघन परमात्मा मुझ को कैसे और कब मिलेगा ? जब योगिगण उसको पा लेते हैं तब मैं क्यों नहीं पाऊंगी। इस के साधन में तत्पर होजाना चाहिये और काल निरन्तरता और श्रद्धा इन तीनों को अपना इष्ट समझ कर अथवा महास्त्र समझ कर ब्रह्मसाधन में प्रयोग करे। अब श्रवणादि का लक्षण समझ। वेदान्त में षड्विधलिङ्ग कहे गये हैं उन-के द्वारा सम्पूर्ण वेदान्तवाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य्य है इस धारणा का नाम श्रवण है। वे षट् लिङ्ग ये हैं।

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्य्यनिर्णये॥

वेदान्त के तात्पर्य्य के निर्णयके लिये उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता,फल,अर्थवाद और उपपत्ति इन छः पदार्थों को जाने। जिस प्रकरण में जो वस्तु प्रतिपादन करने के योग्य हो उस प्रकरण में आदि से लेकर अन्ततक उसी वस्तु का प्रतिपादन करे। इसी का नाम उपक्रमोपसंहार है। उपक्रम नाम आरम्भ का और उपसंहार नाम अन्त का है। जैसा कि कि छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक की आदि में "एकमेवाद्वितीयम्" एक ही अद्वितीय ब्रह्म है–ऐसा कह कर अन्त में "एतदात्म्यमिदम् सर्वम्" इसी ब्रह्ममय यह सपूर्ण जगत् है। इस प्रकार आदि अन्त की एकता होने से इस को उपक्रमोपसंहार कहते हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का मध्य २ में पुनः २ बारम्बार प्रतिपादन करे। इसी का नाम अभ्यास है। जैसे उसी छान्दोग्योपनिषत् में वहां ही अद्वितीय वस्तु के प्रतिपादन करने में "तत्वमसि" इस वाक्य को नौ वार कहा है। लोक में भी देखते है, कि जब किसी एक श्लोक अथवा सूत्र का वारम्वार अभ्यास कर लेता है तब वह जल्दी विस्मृत नहीं होता अतएव श्रुति भी दृढ़ता के लिये "तत्वमसि श्वेतकेतो" हे श्वेतकेतु! तू वही ब्रह्म है इसको नौवार कहती है। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु का केवल निज प्रमाण से ही सिद्ध करना अन्य प्रमाण की आकांक्षा न करना इस का नाम अपूर्वता है। जैसे उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु को दिखलाने के लिये अन्यप्रमाण की अपेक्षा नहीं की गई है। प्रकरणप्रतिपाद्य वस्तु के ज्ञान से अथवा अनुष्ठान से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा इस कथन का नाम फल है। जैसे वहां ही कहा गया है किः–

आचार्य्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये। अथ सम्पत्स्ये।

आचार्य्यवान् पुरुष आत्मा को जानता है। उस को तब तक ही काल बीतता है जब तक मुक्त नहीं हुआ है। मुक्त होने पर उस को वह पा लेता है। इत्यादि अद्वितीय वस्तु ज्ञान से आत्मसाक्षात्कारकरूप प्रयोजन कहा गया है। इसी का नाम फल है। प्रकरण

प्रतिपाद्य वस्तु की प्रशंसा करने का नाम अर्थवाद है। जैसे यहां ही कहा गया है:-

उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भव- त्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।

हे श्वेतकेतु! तू ने अपने गुरु से यह आदेश पूछा था जिस से अश्रुत श्रुत होताहै। अमत मत और अविज्ञात विज्ञान होता है। यह अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा है इस लिये इस को अर्थवाद कहते हैं। प्रकरणप्रतिपाद्य अर्थ के साधन के लिये युक्तियों को कहने का नाम उपपत्ति है। जैसे वहां ही कहा गया है-

यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारोनामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

हे सौम्य! जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञानसे सम्पूर्ण मृण्मय घटादि वस्तु का ज्ञान होजाता है क्योंकि मृत्तिका से बने हुए सब ही पदार्थ मृत्तिकामय ही होते हैं। केवल उस२ घट हांडी इत्यादि विकारों का केवल एक २ नाम बढता जाता है किन्तु उस २ में मृत्तिका ही है यही सत्य है। इस प्रकार अद्वितीय वस्तु के साधन में युक्ति बतलाई गई है। मनन-श्रुत अद्वितीय वस्तु के साधन में वेदान्तपदों के अर्थ के अनुकूल नाना युक्ति द्वारा अनवरत अद्वितीय वस्तु के चिन्तन का नाम मनन है, निदिध्यासन-तत्व ज्ञानके विरोधी देहादि जडपदार्थके ज्ञानको त्यागकर अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु के अनुकूल ज्ञानके प्रवाहका नाम निदिध्यासन है। समाधि के दो भेद हैं एक सविकल्पक दूसरा निर्विकल्पक। ज्ञाता, ज्ञान और जानने योग्य वस्तु इन तीन पदार्थोंका पृथक् २ ज्ञान होने पर भी अद्वितीय ब्रह्म वस्तु में अखण्डाकार चित्त की वृत्ति होना सविकल्पक समाधि कहाता है। जैसे मृत्तिका के

हस्तीं से हस्ती का ज्ञान होने पर भी मृत्तिका ही है-ऐसा ज्ञान होता है। तद्वत् द्वैतभान होने पर भी अद्वैतभान होता है। किसीने कहा है-

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं-
सकृद्विभातं त्वजमेकमव्ययम्।
तदेव चाहं सततं विमुक्तं-
दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मकः॥
नमेऽस्तिबन्धो न च मे विमोक्षः॥

सर्वसाक्षी सर्वव्यापी सर्वोत्कृष्ट स्वप्रकाशस्वरूप जन्ममृत्यु रहित निलिप्त और सर्वदा मुक्तस्वभाव जो अद्वितीय ब्रह्म है वह मैं हूं।

निर्विकल्पक समाधि-ज्ञाता, ज्ञान और जानने योग्य वस्तु इन तीन पदार्थों का भेदज्ञान का अभाव होने पर अद्वितीय ब्रह्म वस्तुमें अखण्डाकार चित्त की वृत्ति होना निर्विकल्पकसमाधि कहलाता है। इस समाधि के समय जिस प्रकार जल में मिले हुए लवण के लवणत्व ज्ञान का अभाव होने पर केवल जल का ज्ञान होता है तद्वत् अद्वितीय ब्रह्माकार चित्तवृत्ति के ज्ञान की सत्ता का अभाव होने परभी ब्रह्म वस्तुमात्र का ज्ञान रहजाताहै। अर्थात् अखण्ड ब्रह्म में चित्तवृत्तिके लीन होने पर और भिन्न रूप कुछ ज्ञान नहीं रहता। अखण्ड ब्रह्ममय ज्ञान ही रहजाता है अर्थात् जिस समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का पृथक् २ ज्ञान हो उसे सविकल्पक कहते हैं और जिसमें इन तीनों का भेदज्ञान नहीं रहता उसे निर्विकल्पक समाधि कहते हैं।

ब्रह्म का ध्यान अनेक प्रकार से होता है चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये अनेक उपाय योगादि शास्त्रों में विहित हैं। जिस प्रकार हो उस उपाय को अवलम्बन करके चित्तवृत्तियों को रोके। जब बाह्यवस्तुओं में चित्तवृत्तियां बढ़ती जाती हैं और नाना जञ्जालों में फंस जाती हैं तब इन का रोकना अत्यन्त कठिन होजाता है।

हे पुत्रियो ! जो कुछ थोड़ा बहुत कल्याणमय कार्य्य हुआ है। चित्त-वृत्ति के रोकने ही से हुआ है। इस हेतु जहां तक हो चित्त-वृत्तियों को अन्यान्य बाह्य वस्तुयें से हटा कर अन्तःकरण में लीन करे और तब एकान्त में बैठ उस परमात्माका ध्यान लगावे। ध्यान कभी जनसमूह में अथवा लोगों को दिखलाने के लिये अथवा आडम्बर सिद्धि के लिये अथवा स्वयं सिद्ध बनने के लिये न किया जाय किन्तु स्वाभीष्ट को लक्ष्य में रख कर ही ध्यान में तत्पर हो। उस ध्यानको बढ़ाते २ समाधि तक पहुंचे जिसमें, ध्याता और ध्येय का भेद न हो। वेदान्त मत के अतिरिक्त सेव्यसेवकभावरूप से ध्या-नादि किया जाता है। उपासक अपनेको सेवक और उपास्य कृष्णा-दिक को सेव्य समझता है। सेवक अपने को पापी नीच सर्वथा अपराधी कृतपापों का विनाशाभिलाषी और अत्यन्त नीच निकृष्ट समझता है। सेव्य कृष्णादिक को शुद्ध पवित्र सर्वशक्तिसम्पन्न वरद और अत्यन्त उच्च उत्कृष्ट मानता है। इस प्रकार भेदज्ञान सहित ही ध्यानादिक होते हैं। किन्तु वेदान्त पक्ष मे सेव्यसेवकगत भेद नहीं माना जाताहै। जैसे शुद्ध पवित्र आनन्दमय निर्विकल्प निरञ्जन सर्वव्यापी सर्वद्रष्टा सर्वकर्त्ता सर्वकल्याणगुणयुक्त परमात्मा है वैसा ही सेवक जीव भी है। क्योंकि जीव और ब्रह्म दोनों एक ही हैं इसहेतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन करते हुए सेवक अपनी चित्तवृत्ति को इतना वश में करले कि समाध्यवस्था में उपास्य उपासक का किञ्चित् भी भेदज्ञान न रहने पावे। किन्तु "सोऽहं' अहंब्रह्मास्मि" इत्यादि धारावाहिक ज्ञान हो और सब काल में तदाकारवृत्ति ही बनी रहे।

इस के लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का सदा चिन्तन करे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह इन पांचों का नाम यम है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान इन पांचों का नाम नियम है। हाथ, पैरों को विशेष २ स्थान में रखने का नाम, आसन है। जैसे

पद्मासन, स्वस्तिकासन, गरुड़ासन इत्यादि बहुविध आसन हैं प्राण के रोकने का नाम प्राणायाम है। रेचक, पूरक, कुम्भक आदि भेद से श्वासप्रश्वास के रोकने से शारीरिक मल का नाश और चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। स्वस्व विषयों से हटाकर केवल आत्मचिन्तन मे इन्द्रियों को लगाने का नाम प्रत्याहार है। अद्वितीय ब्रह्म वस्तु में अन्तःकरण के अभिनिवेश का नाम धारणा है। अद्वितीय ब्रह्मवस्तु में चित्तवृत्ति के प्रवाह का नाम ध्यान है।

समाधि पूर्व में कहा गया है उस निर्विकल्पक समाधि के लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद ये चार विघ्न उपस्थित होते हैं। लय उसको कहते हैं कि अखण्ड ब्रह्म वस्तु के अवलम्बन करने में असमर्थ जो चित्तवृत्तिकी निद्रावस्था है। अखण्ड ब्रह्मवस्तु के अवलम्बन करने मे असमर्थ हो अन्यवस्तु के अवलम्बन करने की चित्तवृत्ति का नाम विक्षेप है। लय और विक्षेप के न होने पर भी रागादिवासना से स्तब्ध होकर अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने का नाम कषाय है। अखण्ड वस्तु के अवलम्बन न करने से भी चित्तवृत्ति का जो सविकल्प आनन्दास्वादन है उसे रसास्वाद कहते हैं। समाधि के आरम्भ में जो सविकल्पक आनन्दास्वाद उसे भी रसास्वाद कहते हैं।

इस विघ्न चतुष्टय से रहित जब चित्त निर्वात दीपवत् अचल अखण्ड चैतन्यमात्र अवशिष्ट रह जाता है तब वास्तव में निर्विकल्प समाधि होता है। कहा गया हैः—

लयेसम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत्॥
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञयाभवेत्।
यथादीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता॥

जब पूर्वोक्त लय प्राप्त हो तो उस की निवृत्ति के लिये चित्त को

सम्बोधिन करे अर्थात् चित्तगत जाड्यादिकों को छोड़ चित्त का पुनः उद्बाधन करे और जब विक्षेपयुक्तचित्त हो तो भोग में वैराग्यादि दिखलाकर चित्त को शान्त करे। और जब कषायसहित चित्त हो तो उसे जान शान्ति करे। जिस समय अखण्ड ब्रह्म वस्तु में प्रणिधान होय उस समय अन्तःकरण को चलायमान न करे और कोई सविकल्पक आनन्द आस्वादन न करे किन्तु प्रज्ञा द्वारा निःसङ्ग होजाय। गीता का भी यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार दीपक वायुरहित स्थान में स्थित होकर निश्चल रहता है। तद्वत् प्रणिधान होने पर अन्तःकरण निश्चल होजाताहै। इस प्रकार इस विघ्न चतुष्टय से सदा ही चित्त को बचाकर रक्षा करे। तब ही समाधि होगा इस के आगे सृष्टि की उत्पत्ति बतलाती हूं।

उत्पत्तिविवेक

मायासहित ईश्वर से अपञ्चीकृत(१)आकाश की,आकाश से वायु की, वायु से तेज की, तेज से जल की, जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। जिस हेतु माया त्रिगुणात्मक है इस हेतु यह पञ्चभूत भी सत्व रज तम तीनों गुणोंसे युक्त होते हैं। आकाशादिपञ्चसूक्ष्मभूत, महाभूत, तन्मात्र (२) और अपञ्चीकृत कहलाते हैं। इन अपञ्चीकृत सूक्ष्मभूतों से सूक्ष्मशरीर और स्थूल उत्पन्न होते हैं।

१-२-टि०-आकाश, वायु, तेज,जल और पृथिवी ये पञ्चभूत जब पृथक् असङ्कीर्णरूप से स्थित रहते हैं। तब ये अपञ्चीकृत कहाते हैं। और जब परस्पर मिलते हैं तब पञ्चीकृत कहाते हैं। इन के क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। इन का नाम ,तन्मात्रा है प्रथम अपञ्चीकृत और तन्मात्रारूप से ही पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। इस का आशय यह है कि मन्दाऽऽलोक सयुक्त प्रभातकाल में प्रथम सामान्यरूप से पदार्थ भासित होते हैं। पश्चात् सूर्य्योदय होने पर यह घट है, यह वृक्ष है यह यज्ञदत्त है इत्यादि विशेषरूप से पदार्थ

(देखो पेज नम्बर ४७३)

सूक्ष्म शरीर

१७ अवयव युक्त लिङ्ग शरीरों को सूक्ष्म शरीर कहते हैं पञ्चज्ञानेन्द्रिय पञ्चकर्मेन्द्रिय पञ्चवायु, मन और बुद्धि ये सप्तदश अवयव कहलाते हैं। कर्ण, त्वचा, चक्षु, जिव्हा और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय कहाते हैं। ये ज्ञानेन्द्रिय आकाशादिकों के सात्विक अंश

भासित होते हैं। और भी-जैसे प्रथम चित्रपट पर सामान्यरूप से हस्तपादादि द्योतक रेखामात्र खैंची जाती है। पश्चात् वर्णोंसे पूरित कर सर्वावयवसम्पन्न चित्र बनाते हैं। तद्वत् आकाशादि पञ्चक प्रथम शब्दादि तन्मात्रारूप ही उत्पन्न होते हैं इस का भी यह आशय है कि अन्यान्य भूतों के गुणों से सङ्कीर्ण न रह कर केवल अपने २ गुणों से संयुक्त रहते हैं। वेदान्त सिद्धान्त में गुण गुणी का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है, इस हेतु अपञ्चीकृत दशा में स्पर्शादि गुणों से असङ्कीर्ण शब्दस्वरूप मात्र आकाश प्रकट होता है। इसी प्रकार अन्य गुणों से असङ्कीर्ण स्पर्शस्वरूप मात्र वायु, रूपस्वरूपमात्र तेज, रसस्वरूपमात्र आप, (जल) गन्धस्वरूपमात्र पृथिवी आविर्भूत होती है।

पञ्चीकृत दशा में अन्यान्य गुणों से सङ्कीर्ण शब्दादि स्वरूप पञ्चभूत होते हैं यहां इस प्रकार जानना चाहिये कि जैसे आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से आप, आपसे पृथिवी होतीहै। यहां कार्य्य-कारण भाव कहा जाताहै। इसी प्रकार पञ्चीकृत भूतों में भी कार्य्य कारण भावजानना उचितहै। पञ्चीकृत आकाशकेप्रति शब्द तन्मात्रा और माया कारणहै। पञ्चीकृत वायुके प्रति शब्दतन्मात्राऔरपञ्चीकृत आकाश कारण है। पञ्चीकृत तेजके प्रति रूपतन्मात्रा औरपञ्चीकृत आप (जल) के प्रतिरसतन्मात्रा और पञ्चीकृत तेज कारण है। पञ्चीकृत आप (जल) के प्रतिरसतन्मात्र और पञ्चीकृत तेज कारण है। पञ्चीकृत पृथिवी के प्रति गन्धतन्मात्रा और आप कारण है।

से उत्पन्न होते हैं। आकाश के सात्विक अंश से कर्ण, पृथिवी के सात्विक अंश से घ्राण, जल के सात्विक अंश से जिव्हा, वायु के सात्विक अंश से त्वचा, उत्पन्न होती है।

अन्त:करण और विज्ञानमय कोश

निश्चयात्मक अन्तः करण की वृत्ति का नाम बुद्धि है। संकल्पविकल्पात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम मन है। अनुसन्धानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति का नाम अहंकार है। इन चारों का नाम मिलकर एक अन्तः करण होता है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और मन ये स्वयं प्रकाशक हैं। इसी कारण इन को पञ्चभूतों के सात्विक अंशों से उत्पन्न होना अनुमान किया जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। यही कोश "मैं कर्ता भोक्ता, सुखी और दुःखी हूं" इत्यादि अभिमान युक्त इहपरलोक गामी (इसलोक और परलोक में जाने वाला) व्यावहारिक जीव कहाता है।

मनोमय कोश

पञ्चकर्मेन्द्रियों से सहित मन मनोमय कोश होता है। वाक्, पाणि, चरण, पायु और उपस्थ ये पञ्चकर्मेन्द्रिय हैं। आकाशादि महाभूतों के राजस अंशों से वे उत्पन्न होते हैं। आकाश के रजोभाग से वाक् (वाणी) वायु के रजोभाग से हस्त, जल के रजो भाग से चरण, तेज के रजोभाग से पायु (मलेन्द्रिय) पृथिवी के रजोभाग से उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) उत्पन्न होते हैं।

प्राणमयकोश

प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पञ्च प्राण हैं। ऊपर को चलने वाला नासाग्रवर्त्ती वायु का नाम प्राण, नीचे को चलने वाला गुदास्थान निवासी वायु का नाम अपान। सर्वनाड़ियों में चलने वाला सम्पूर्ण शरीर में व्यापक वायु का नाम व्यान, ऊपर को चलने वाला कण्ठस्थानीय वायु का नाम उदान और भोजनादि

किए हुए अन्नको और पान किए हुए जलादिकको समीकरण करने वाला वायु का नाम समान है। परिपाक क्रिया द्वारा भोजन की हुई वस्तु का रुधिर, वीर्य्य, पुरीषादि करने का नाम समीकरण है। सांख्यमतावलम्बी विद्वान् कहते हैं कि नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ये और भी पांच वायु हैं। १–टंकार करने वाले वायु का नाम नाग। २–जिस से नेत्र के निमीलन आदि क्रिया हो उस का नाम कूर्म। ३–क्षुधाकर वायु का नाम कृकल। ४–जृम्भा कराने वाले वायु का नाम देवदत्त। ५–पोषण कारक वायु का नाम धनञ्जय। पूर्वोक्त पांच वायु में ही ये पांचों अन्तर्गत हैं ऐसा कोई आचार्य्य कहते हैं वे प्राणादि पञ्चप्राण सम्मिलित आकाशादिकों के राजस भाग से उत्पन्न होते हैं। यह प्राणादि पञ्चक कर्मेन्द्रिय सहित प्राणमय कोश होता है। गमन आगमन इत्यादि क्रिया प्राणादि पञ्चवायुयों का स्वभाव है इसी कारण राजस अंशों के कार्य्य ये पञ्चवायु मालूम होते हैं। उक्त कोशों में से विज्ञानमय कोश ज्ञान शक्तियों से युक्त है और कर्ता रूप है। मनोमय कोश इच्छा शक्तिमान् करणरूप है और प्राणमयकोश क्रिया शक्तिमान् कार्य्यरूप है। योग्यता से ऐसा विभाग किया गया है। ये तीनों मिलकर सूक्ष्म शरीर कहाता है।

यहां भी जैसे वृक्षों का समष्टि वन और जलों का समष्टि जलाशय। तद्वत् एक बुद्धि करने से समस्त सूक्ष्म शरीर एक समष्टि है और अनेक बुद्धि करने से वृक्षवत् और जलवत् व्यष्टि है। इसी सूक्ष्म शरीर का समष्टिरूप उपाधि से उपहित चैतन्य को सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और प्राण कहते हैं। इसी कारण यही चैतन्य वस्त्रमें स्थित सूत्र की नाईं सब में परिव्याप्तऔर ज्ञान इच्छा और क्रिया इन तीनों से युक्त अपञ्चीकृत पञ्चभूतों का अभिमानी होता है–इस सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ का यह समष्टि सूक्ष्म शरीर और विज्ञानमयादिकोशत्रय जाग्रद्वासनामय होने से स्वप्नस्थान है। इसी कारण स्थूलप्रपञ्चलयस्थान कहाता है।

तैजसचैतन्य

इस स्थूल शरीर के ,व्यष्टिरूप उपाधि से उपहित चैतन्य को तैजस कहते हैं। इसी कारण तेजोमय अन्तःकरण इस का उपाधि है। इसी तैजस का यहव्यष्टि स्थूल शरीर की अपेक्षा से सूक्ष्म होने के कारणसूक्ष्मशरीरहै।औरविज्ञानमयादि कोशत्रय जाग्रद्वासनामय होने से स्वप्नस्थान है। अतएव इसको स्थूल शरीर लयस्थान कहते हैं। ये सूत्रात्मा और तैजस चेतन्य तब सूक्ष्म मनोवृत्तियों से सूक्ष्मविषयों का अनुभव करते हैं।

जैसे घन और वृक्ष यह परस्पर भिन्न नहीं। जैसे घनावच्छिन्न आकाश से वृक्षावच्छिन्न आकाश कोई भिन्न नहीं। जैसे जलाशयका और जल का कोई भेद नहीं। जैसे जलगत प्रतिबिम्बित आकाश की और जलाशय के प्रतिबिम्बित आकाश की कोई विभिन्नता नहीं इसी प्रकार सूक्ष्मशरीर की समष्टि और व्यष्टि की तथा तदुपहित हिरण्य-गर्भ और तैजस की परस्पर विभिन्नता नहीं है।

इति सूक्ष्मशरीरोत्पत्तिः॥

स्थूलभूत

स्थूलभूत पञ्चीकृत होते हैं। पञ्चीकरण की रीति इस प्रकार है। आकाश को प्रथम सम दो भाग करो उन में से एक भाग को पुनः सम चार भाग करो। इसी प्रकार वायु, तेज, जल और पृथिवी को प्रथम सम दो २ भाग करो। पुनः एक २ भाग को चार २ भाग करो। इस प्रकार पांचों महाभूतों के अर्ध २ पांच भाग और आधे २ के चार २ भाग होने से वीस भाग हुए। प्रत्येक महाभूत के समार्ध भाग में इतर चारों के एक २ भाग मिलाने से पञ्चीकरण होता है जैसे आकाशके अपने अर्ध भागमें वायु का एक भाग। तेज का एक भाग। जल का एक भाग। पृथिवी का एक भाग मिलाने से पञ्ची-कृत आकाश कहलावेगा। इसी प्रकार वायु के अपने समार्ध भागमें इतर चारो भूतों के एक २ भाग मिलाने से पञ्चीकृत वायु कहावेगा इसी प्रकार अन्यान्य भूतो का पञ्ची करण जानिये।

पञ्चीकरण चित्र

अल्पज्ञ पुरुषों के लिये चित्र द्वारा पञ्चीकरण दिखलाते हैं। आ० से आकाश, वा० से वायु, अ० से अग्नि, ज० से जल, पृ० से पृथिवी शब्द जानना।

आ० वा० अ० ज० पृ०

प्रथम एक २ के दो-२ बराबर भाग करते हैं।

पुनः एक २ के अर्धभाग को चार २ भाग में करते हैं।

अपने २ अर्धांश को छोड़ कर इतर अर्धांशों में एक २ अंश की योजना।

आ० वा० अ० ज० पृ०

टि०श्लो० द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्पञ्च पञ्च ते।

गुणों की उत्पत्ति

पञ्चभूत पञ्चीकरण के समय आकाश में शब्द गुण। वायु में शब्द और स्पर्श। अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप। जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस। पृथिवी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। गुण विकसित होते हैं।

चतुर्दशलोक—

इन पञ्चीकृत महाभूतों से ऊपर के भूर्लोक, भुवर्लोक स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक और नीचे के अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल ये चौदह लोक होते हैं और इस ब्रह्माण्डगत चतुर्विध और अन्नपानादिक की उत्पत्ति होती है।

चतुर्विधस्थूल शरीर

जरायुज, अण्डज, स्वेदज, और उद्भिज्ज ये स्थूल शरीर के चार भेद हैं। जरायु (उदरस्थगर्भाशय) से उत्पन्न होने वाले मनुष्य पशु आदिक को जरायुज कहते हैं। अण्डे से उत्पन्न होने वाले पक्षी सर्पादिक को अण्डज कहते हैं। स्वेद (पसीना) से उत्पन्न होने वाले यूका मशक आदि को स्वेदज कहते हैं। पृथिवी को भेद कर उत्पन्न होने वाले लता, वृक्ष आदि को उद्भिज्ज कहते हैं।

यहां भी यह चतुर्विधस्थूल शरीर एक और अनेक के विचार से वनवत् और जलाशयवत् समष्टि है और वृक्षवत् और जलवत् व्यष्टि है। एतत्समष्टिउपहित चैतन्य वैश्वानर और विराट् कहलाता है। इस का यह समष्टिस्थूलशरीर अन्नविकार के कारण अन्नमयकोश कहलाता है और स्थूल भोग के आश्रय से जाग्रत् है। और एतद् व्यष्टिउपहित चैतन्य विश्व कहाता है। क्योंकि सूक्ष्म शरीराभिमान को त्याग स्थूल शरीर में यह रहता है। इसका भी यह व्यष्टिरूप स्थूलशरीर अन्नमयकोश है और स्थूल भोगके आश्रय से जाग्रत् कहलाता है। तब ये दोनों विश्व और वैश्वानर, दिक् वात, सूर्य्य,

प्रचेता और अश्वी क्रमशः देवता वाले श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन पांच ज्ञानेन्द्रियों से क्रमपूर्वक शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच विषयों का अनुभव करते हैं, और अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, यम और प्रजापति इन पांच देवताओं से क्रमपूर्वक नियन्त्रित वाणी, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पांच कर्मेन्द्रियों से वाक्य, ग्रहण, गमन विसर्ग और आनन्द को भोगते हैं इसी प्रकार चन्द्र, चतुर्मुख, शङ्कर और अच्युत इन से नियन्त्रित मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त रूप अन्तःकरण से क्रमपूर्वक संशय, निश्चय, अहंकार्य्य और चैत्त भोग को भोगतेहैं इस प्रकार ये दोनों स्थूल विषय के अनुभव करने वाले हैं। यहां भी इन स्थूल व्यष्टि और समष्टि के और तदुपहित विश्व और वैश्वानर के परस्पर वन-वृक्षवत् और तदवच्छिन्नाकाशवत् और जलाशय जलवत् और तद्-गत प्रतिबिम्बाकाशवत् अभेद हैं। इस प्रकारपञ्चीकृत पञ्चभूतों से स्थूल प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है।

मनुष्यादिशरीर की उत्पत्ति

ब्रह्माण्डान्तर्गत पृथिवी से औषधियां औषधियों से जौ, गेहूं आदि अन्न होते हैं अन्न से वीर्य्य, शोणित इत्यादि उस से स्थूल देह होते हैं इस प्रकार प्रपञ्चरूप वृक्ष की शाखा के उपर दो पक्षियों के समान जीव और ईश्वर बैठे हुए हैं उन में से जीव संसाररूप वृक्ष के सुख दुःख रूप दो फल भोगते हैं और ईश्वर फल को न भोगता हुआ साक्षिरूप से स्थित रहताहै। १–पांच सेर सोने के एक गोलेसे दो छटांग काट कर उस से यदि एक भूषण बनाते हैं तो उस गोले में दो छटांक कम होजातेहैं और वह भूषण ठीक दो छटांकका तैयार होताहै और सोने का जो रङ्ग है वही उस भूषणकाभी होताहै। किन्तु केवल स्वर्णकार की कारीगरी के कारण उसका आकार बदल जाता है।पीटना, आगपर तपाना और पानी में बुताना आदि क्रिया से सुवर्ण के तौल में कोई परिवर्तन नहीं दृष्ट होता। यहा सोना

कारण और भूषण कार्य्य है। २-अब कुछ मिट्टी लेकर उस में पानी मिला गोला बना चाक पर चढ़ा एक कच्चा घट तैयार करते हैं। उसको आग पर रख ताप दे अच्छा मज़बूत करलेते हैं। यहां प्रथम देखते हैं कि न पानी के बिना मिट्टी का गोला बनता और न आग के बिना उतना मज़बूत ही होताहै। और भी-आगपर तपानेसे घटके रूपमें भी बहुत परिवर्तन होताहै। प्रथम कच्चा घट कुछ श्याम रहता, अब पककर लालहोजाताहै। यद्यपि अब उसपरिपक्व घटमें जलांशऔर तापांश कुछ भी नहीं है तथापि ये दोनों घट के बनने में बड़ी सहायता करते हैं। यहां भी मिट्टी जहा से ली जातीहै वहां उतना तौल कम होजाताहै। और पानी और ताप देने परभी उस घटके तौल में न्यूनाधिक्य नहीं होता। क्योंकि पानी जल जाता और ताप उस से निकल जाताहै। ताप से बोझ बढ़ता भी नहीं। ३-अब तृतीय उदाहरण मकड़ी का जाल है। जैसे अलङ्कार और घट बनाने के लिये स्वर्णकार और कुम्भकार को किसी दूसरी जगह से सोना और मिट्टी लानी पड़ती है वैसे मकड़ी सून किसी दूसरी जगह से नहीं लाता। प्रत्युत अपने पेट से ही निकाल २ कर जाल बनाती जातीहै। एक दो दिन नहीं किन्तु अपने जीवन भर जाल बनाती रहतीहै। उसके पेटका खजाना खाली नहीं होता। इन तीनों उदाहरणों में एक यह स्मरणीय है कि इन भूषण, घट और जालों की वृद्धि नहीं होती। यदि सुरक्षितस्थान में वे रख दिये जाय तो चिरकाल तक उसी एक अवस्था में वे स्थिर रहेंगे। ४-अब चतुर्थ उदाहरण की ओर ध्यान दीजिये यह वट का वृक्ष है। प्रथम इसका बीज बहुत छोटा होताहै। उस छोटे बीज से इतना बड़ा प्रकाण्ड वृक्ष तैयार होजाने पर भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। बीज के तोल से अब लक्षों गुण अधिक तौल इस वृक्ष का है। यहा यह विचारना है कि कैसे यह इतना बढ़ता जाता है। जैसे कोई सोने के पत्र को पीट कर बहुत बढ़ा सकता है। वैसे यहां नहीं है। बीज के अंकुर के समय में ही आप देखेंगे कि वह बराबर ज्यों का त्यों बना रहता है उस में से किन परमाणुओं को लेकर

अंकुर होताहै यह कहनेकी बातनहीं। क्योंकि अनिर्वचनीयहै। ईश्वरीय शक्ति यहां ही देखी जातीहै। यहां मायाका कौशलहै। गेहूं,चना आदि के बीज को जिस प्रकार फोड़ अंकुर निकलता और उस से वृक्ष बनताहै यह आप लोग प्रतिदिन देखते हैं। आगे चलिये इस में सन्देह नहीं कि यह वट का अंकुर पृथिवी, जल, वायु और सूर्यसे से ताप आदि सामग्री लेकर स्वकीय धर्मके अनुकूल अपने को बढ़ाता चला जाताहै। इसमें पृथिवी आदिका अंश प्रत्यक्ष ही है तो;यहां पर यह नहीं कहा जा सकता कि "इस वृक्षका केवल कारण बीजमात्र" है।।नहीं। "पृथिवी जल आदिक" भी इस के कारणहैं। ५–अब इस से विलक्षण पञ्चम उदाहरण लीजिये। वह यह ऋतु परिवर्तन है। आप देखते हैं कि इस समय ग्रीष्म ऋतु है। आकाश धूलियों से आवृत है प्रचण्ड वायु चल रहा है। सूर्य्य के प्रखर किरणों से सकल प्राणी सन्तप्त और व्याकुल हैं। वनस्पति सब सूख गए। इतने में ही वर्षा आती मेघ की घटा पूर्व से पश्चिम दौड़ने लगती। घोर गर्जन से कान फटने लगतेहैं। विद्युत् का प्रकाश भी भयानक होता है। कहीं विद्युत् गिर कर बड़े २ वृक्षों को भी झुलसादेती है। कई प्राणी उस से मर भी जाते हैं वर्षा से भवन में रहना भी कठिन हो जाताहै। नदियां बढ़ कर गृहके समीपतक पहुंच जातीहैं। बिना नौका के चलना फिरना दुष्कर होजाता है। कितने ही ग्राम जल धारा में बह जातेहैं। तब शरद ऋतु पहुंचती है तब शीत ऋतु का आगमन होताहै विविध रङ्गोंके वस्त्रों से सुभूषित जहां तहां बालक वृन्द खेलते कूदते देख पडते हैं। पुनः वसन्त का बहार आताहै। पृथिवी पर इस महान् परिवर्तन का कारण क्या ? इसका कारण सर्वसाधारण को कुछ भी प्रतीत नहीं होता। इसका विज्ञान घट पटादिवत् प्रत्यक्ष नहीं। इस लिये ज्योतिष का भूगोल खगोल और अन्यान्य विज्ञानशास्त्र का अध्ययन करना पड़ताहै। यह ऋतु परिवर्तन प्रत्येक वर्ष होता रहताहै। इस महान् कार्य्य का कारण कौन यह जानना चाहिये। ६–इस से भी षष्ठ उदाहरण की आलोचना

कीजिये। आज पूर्णिमा की रात्रि कैसी सोहावनी-मनोहारिणी और प्रकाशमयी है। इसके विपरीत अमावास्या की रात्रि आती है। इसका क्या कारण ? सूर्य्य के समान प्रतिदिन चन्द्र भी एक ही रूप में क्यों नहीं आता जाता यह क्यों घटना और बढ़ता रहता है। इसके कारण का ज्ञान भी दुर्बोध ही है। ७-इस प्रकार अनेक सांसारिक वस्तुयें को देख २ मन में विवेकी पुरुषों को शङ्का होती है कि इस अद्भुत लीला का कारण क्या ये भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश पञ्चभूत सदा से इसी प्रकार के हैं या वृक्षादिवत् ये भी बनते बिगड़ते रहते हैं। ये कहां से आगए।

८-थोड़ी देर मनुष्य की ओर आइये। आप कदाचित् समझते होंगे कि माता पिता से उत्पत्ति होने से ही मनुष्य बन जाता है। नहीं। प्रथम माता का दूध बच्चे के लिये चाहिये। दूधके लिये अच्छे भोजन की आवश्यकता है भोजन के लिये अन्न। उस के लिये खेत। उसके लिये जल। इत्यादि कारण विचारते चले जायें। अब मानिये अन्न का भी भण्डार पूरा है तथापि वायु, जल और अग्नि का ताप न हो तो मनुष्य क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता। सूर्य्य न हो तो वह अन्धसा पड़ा रहेगा। वायु बिना वह न जी सकता और न शब्द ही सुन सकता है। इत्यादि समस्त कारण कलापको लेकर यदि आप निश्चय करने को बैठें तो मनुष्य शरीर के कारण का पता लगाना कितना काठिन्य आपड़ता है। जिस जलबिन्दु से यह शरीर बनता वह कितना थोड़ा था। अब यह कितना मोटा और लम्बा हो गया है। यह प्रत्यक्ष ही आप देखते हैं कि अन्न, जल, वायु और ताप आदि जड़वस्तुयों को यह शरीर अपने में लेता है। उस से इसमें अनेक विभाग बनते जाते हैं। प्रथम एक चेतन भाग दूसरा अचेतन। त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, अस्थि आदि चेतन हैं क्योंकि इन में आघात पहुचने पर क्लेश होता और केश और मूननख अचेतन हैं। क्योंकि शिरस्थकेश को शतशः टुकड़े करते जांय कुछ भी क्लेश का बोध न होगा। किन्तु एक पतली सूई भी शरीरमें चुभानेपर

पर्द होताहै। तीसरा विभाग इसमें जीवात्मा का है। जैसे दीपक में तेल न दिया जाय तो वह बुत जाता है। जब तक तेल रहेगा तब तक वह बलता रहेगा। शरीर में भी यही लीला देखते हैं। यदि इस में भोजन न दिया जाय तो मर जाता है। यदि यह निर्वात स्थानमें छो ड़ दिया जाय तो भी मर जायगा। यदि जलीय पदार्थ इसमें न ड़ाले जायं तो भी यह न रहेगा। इस शरीर के ऊपर का छाल या रक्त या अस्थि या प्राण निकाल लिये जायं तो भी यह नहीं रहेगा। इत्यादि विचारने से पता चलेगा कि यह शरीर कितने पदार्थों से बना हुआ है। इसका कोई एक कारण नहीं कहा जा सकता है।

अब यह प्रश्न होगा कि जिन पञ्चभूतों से यह शरीर बनता है वेकहां से आतेहैं वे संख्यामें कितने हैं। जहांसे वे आतेहैं वह कहांसे आया। अन्ततोगत्वा सब का कारण एक ही है या अनेक। इसी अन्तिम प्रश्न के विचार के लिये निखिल शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है पुनः कारण के प्रश्न में एक बात यह भी उपस्थित होती है कि जैसे घट के बनने में दो प्रकार के कारण देख पड़ते हैं। एक तो साक्षात् मिट्टी जिस से घट होता है। दूसरा बनाने वाला कुम्भकार। कुम्भकार को भी घट बनाने के लिये अनेक सामग्रियों की आवश्यकता होती है। इत्यादि विचार यहां किया जायगा।

न्याय, वैशेषिक और कारण

जैसे संस्कृत के १६ स्वरों और ३३ व्यञ्जन अक्षरों के योग से लाखों पद और ग्रन्थ बने हुए हैं। वैसे ही कणाद और गौतम के सिद्धान्त के अनुसार केवल पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, (जीवात्मा और परमात्मा) और मन इन नव द्रव्यों के मेल से इस आश्चर्य्य जगत् के अनन्त पदार्थ बनते और बिगड़ते हैं। इन नवों द्रव्यों में भी केवल प्रथम चार ही आरम्भकद्रव्य कहलाते हैं। अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारोंसे ही असंख्य वस्तु बनती और बिगड़ती हैं। अन्य आकाश आदि द्रव्यों से कोई वस्तु नहो बनती। वे निमित्त कारणमात्र होते हैं। पृथिव्यादि चारों

समवायिकारण और आकाशादि पांचों निमित्तकारण कहाते हैं। इन उक्त नवद्रव्यों के आश्रित २४ गुण और ५ कर्म सामान्य, विशेष समवाय और अभाव हैं। गुण ये हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। कर्म ये हैं–उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। पृथिव्यादि चार नित्य और अनित्य भेद से दो दो प्रकार के हैं। परमाणुरूप नित्य और कार्य्यरूप अनित्य हैं और आकाशादि पाच नित्य ही हैं॥

यहां इतना और जान लेना चाहिये कि न्याय और वैशेषिक के मत से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ कहाते हैं। इन में ६ द्रव्य, २४ गुण और ५ कर्म को प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन देखते और अनुभव करते हैं। किन्तु सा॰ मान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये चार प्रत्यक्ष और एक प्रकार से कल्पितवत् प्रतीत होते हैं। सामान्य नाम जाति का है यह प्रत्यक्ष सी हो है क्योंकि मनुष्यत्व जाति पशुत्वजाति इत्यादि जातियां प्र- त्यक्ष ही दीखती हैं। मनुष्य से पशु भिन्न हैं यह बोध जिस धर्म के कारण होता है वह विशेष कहाता है। यह भी एक प्रकार प्रत्यक्ष ही है। द्रव्य से अलग रूप, रस आदि गुण और उत्क्षेपण आदि कर्म नहीं देख पड़ते। अतः द्रव्य और गुण में जो सम्बन्ध है उसी का नाम समवाय है। अर्थात् मान लेवें कि नाना अवयवों से युक्त यह वृक्ष है। अतः वृक्ष की संज्ञा अवयवी होगी। तो अवयव और अव- यवी में सम्बन्ध का जो अनुभव सब लोग कर रहे हैं उसी का नाम समवाय है। अवयव और अवयवी। जाति और व्यक्ति। गुण और गुणी। क्रिया और क्रियावान्। और नित्यद्रव्य और विशेष इन दो दो में समवाय सम्बन्ध होता है, और यहां घट नहीं है। यहां जल नहीं है। वह आदमी मर गया, इत्यादि निषेधात्मक वाक्यों से जो एक प्रकार का बोध होता है वही अभाव है। इस रीति पर यदि आप

समालोचना करेंगे तो मालूम होगा कि कणाद और गौतम आदि मुनियों का विचार प्रत्यक्ष से ही अधिक सम्बन्ध रखता है।

हां, इतना अवश्य है कि जितना अन्वेषण इस वर्तमान काल में हुआ है उतना उस समय नहीं था। पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओंको नित्य मानना ठीक नही। क्योंकि इनके परमाणु भी मिश्रित देखे जाते हैं। तेज नाम अग्नि का है, यह अग्नि पृथक् द्रव्य नहीं है यह पदार्थों की एक शक्ति मात्र है। ताप का नाम अग्नि है। ताप में गुरुत्व नहीं है यह अनेक परीक्षाओं से सिद्ध हुआ है। द्रव्य में गुरुत्व होना आवश्यक है। वायु के परमाणु, में भी गुरुत्व है। आकाश, काल, और दिशा वास्तव में द्रव्य नहीं हैं। प्रतीति विषक मात्र हैं। मन भी कोई पृथक् द्रव्य नहीं। यह पृथिव्यादि भूतों का एक कार्य्य है। आत्मा एक नित्य वस्तु है। वर्तमानकालिक भौतिक शास्त्र के अध्ययन से इन पृथिव्यादि द्रव्यों को जानना उचित है।

सांख्य और कारण

कपिल जी के मत में दो ही १-प्रकृति २-आत्मा द्रव्य हैं। इन में भी आत्मा से कोई वस्तु नहीं बनती क्योंकि यह अपरिणामी और निर्विकार वस्तु है। सत्व, रज और तम इन तीन द्रव्यों से मिश्रित एक द्रव्य का नाम प्रकृति है। यह परिणामिणी है। इनहीं प्रकृति और आत्मा के संयोग और विभाग से यह समस्त जगत् बनता और बिगड़ता है जैसे दूध से दही और उससे घृत बनता है इसी प्रकार प्रकृति से महत्तत्व बनता है। महत्तत्व से अहङ्कार। अहङ्कार से चक्षु, श्रोत्र, श्रवण, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रिय। वाक्, हस्त, चरण, पायु (मलेन्द्रिय) उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) ये पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन ये एकादश इन्द्रिय और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पञ्चतन्मात्र ये सब मिलकर १६ वस्तु बनती हैं और शब्दादि पञ्चतन्मात्र से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये पञ्चमहाभूत बनते हैं। आत्मा से कुछ बनता बिगड़ता नहीं।

इस से यह सिद्ध होताहै कि सूर्य्य से लेकर पृथिवी तक, हाथी से लेकर चींटी तक जो कुछ बने हुए-हैं वे सब प्रकृति से बनते हैं। इन में आत्मा का सर्वत्र संयोग है। वेदान्त के सिद्धान्त से सांख्य का सिद्धान्त बहुत कुछ मिलता है। यहां भी देखते हैं जड़ प्रकृति से ये नाना चेतन शरीर बनते हैं एक ही प्रकृति के अनन्तर रूप हैं। कहीं सूर्य्यरूप में अग्नि का महासमुद्र। कहीं जलरूप में महासागर। कहीं पृथिवी, वायु, आदि जड़ महाभूत। कहीं मनुष्य, पशु आदि चेतन युक्त शरीर। इत्यादि मनुष्यादि शरीर में बुद्धि, मन, चित्त और अहङ्कार आदि भी जड़ ही हैं। आत्मा के संयोग से चेतन प्रतीत होते हैं। सांख्य मत में आत्मा विभु है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के साथ उसका संयोग है। तथापि कोई पदार्थ-मनुष्य, वृक्षादिक शरीर चेतनवत् और पृथिवी, पर्वत मृत शरीर आदि अचेतनवत् क्यों है। इस के ज्ञान के लिये सांख्य शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता होती है।

वेदान्त और कारण

वेदान्त शास्त्र इन सांख्याभिमत दो द्रव्यों को भी घटाकर केवल एक ही द्रव्य रखता है। जो शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप, निरवयव, निर्विकार, सदा एक रस रहता है। परमार्थदृष्टि से इस मत के अनुसार बाह्य जगत् की स्थिति नहीं है। न यह सृष्टि बनती, न बिगड़ती, न है, न होगी। जैसे यह जीव स्वप्नमें नाना सृष्टियां बना लेता है परन्तु स्वप्न की सृष्टि वास्तव में विद्यमान नहीं है तद्वत् उस परम देव में सृष्टि भासित होतीहै। वास्तव में सृष्टि नहीं है। तथापि व्यवहारिकी सत्ता को वेदान्त मानता है। व्यवहार में जो यह त्रिभुवन दीखता है। इस का कारण अज्ञान सहित ईश्वर है। अज्ञान तम, अव्यक्त, उपाधि, अविद्या, प्रकृति और माया शब्द एकार्थक हैं। इन सब का एक अर्थ है। अज्ञान को न वस्तु न अवस्तु कह सकते हैं किन्तु अनिर्वचनीय वस्तु है वास्तव में यही अज्ञान इस जगत् का उपादान कारण है। इसी का परिणाम यह समष्टि और व्यष्टि

जगत् है। और मायाविशिष्ट ईश्वर का यह जगत् विवर्तशब्द से भी पुकारा जाता है।

इति उत्पत्तिविवेकः समाप्तः।

अथ प्रलयविवेक

त्रैलोक्य का नाश प्रलय कहलाता है उस के चार भेद हैं १–नित्यप्रलय २–प्राकृतप्रलय ३–नैमित्तिक प्रलय और आत्यन्तिकप्रलय। सुषुप्ति का नाम नित्यप्रलयहै क्योंकि यह सब दिन हुआ करताहै इस लिये यह नित्य है और जागरण और स्वप्न की समस्त लीलाओं का इस में प्रलय हो जाता है। यद्यपि अन्तःकरण का नाश नहीं होता तथापि कुछ भी बोधका अंश उस में न रहने से प्रलय कहलाता है। इस लिये मृत और सुप्त में भेद है सुप्त पुरुष के शरीर में लिङ्ग शरीर संस्काररूप से अस्थिर रहता है किन्तु मृत पुरुष का लिङ्ग शरीर लोकान्तर में चला जाता है। यद्वा अन्तःकरण को दो शक्तियां हैं १–ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। ज्ञानशक्तिविशिष्ट अन्तःकरण का सुषुप्ति में विनाश होता है किन्तु क्रियाशक्तिविशिष्ट अन्तःकरणका विनाश नहीं। इसहेतु प्राणादिकों की स्थिति रहती है श्रुति कहती है।

यदा सुप्तःस्वप्नं न कञ्चनपश्यति। अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति। अथैनंवाक् सर्वैर्नामभिःसहाप्येति सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतोभवति।

जब सुप्त पुरुष किसी स्वप्न को नहीं देखता तब इस में प्राण एक होजाता है। तब सब नामों के साथ वाणी उस में लीन होती है। हे सौम्य! तब जीव सद्वाच्य ब्रह्म से सम्पन्न होता है। अर्थात् अपनी अवस्था में प्राप्त होता है।

प्राकृत प्रलय उसे कहते हैं जब कार्य्य ब्रह्म विनाश निमित्तिक सकल कार्य्य का नाश होता है। हिरण्यगर्भ आदिक सृष्टिकर्त्ता का

नाम कार्य्य ब्रह्म है क्योंकि वे उत्पन्न होकर निज २ सृष्टि रचते हैं जिस लिये हिरण्यगर्भादि उत्पन्न होते और सृष्टि भी करते हैं इस हेतु वे कार्य्य ब्रह्म कहलाते हैं। जब इन की बनाई हुई सृष्टियों का अविद्यारूप प्रकृति में प्रलय होता है तब वह प्राकृत प्रलय कहलाता है। जब ब्रह्माण्डाधिकाररूप प्रारब्ध कर्म्म की समाप्ति हो जाती है और उन्हें ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तब उन हिरण्यगर्भादिकों की विदेह कैवल्यात्मिका परा मुक्ति होती है। और उस काल में उस २ लोक वासियों को भी ब्रह्म साक्षात्कार होता और अपने कार्य्य ब्रह्म के साथ ही विदेहकैवल्य मुक्ति को पाते हैं। इस प्रकार स्वलोक वासियों के साथ कार्य्य ब्रह्म को मुक्त होने पर तदधिष्ठितब्रह्माण्ड, तदन्तरवर्त्ति निखिल लोक, तदन्तरवर्ती स्थावरादिक भौतिक और भूत इन सब का मायारूप प्रकृति में लय होता है इस लिये इस को प्राकृतलय कहते हैं।

नैमित्तिक प्रलय उस समय होता है जब कार्य्य ब्रह्म ब्रह्मा आदिक अपने दैनिक कार्य्य को समाप्त कर शयनार्थ रात्रि में प्राप्त होते हैं तब त्रैलोक्य मात्र का प्रलय होता है शयन निमित्तक यह प्रलय होता है इस लिये इसको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। ब्रह्मा का दिन चारों युगों का सहस्रपरिमित काल है " चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते " यह वचन इस में प्रमाण है। प्रलयकाल दिवसकाल परिमित होता है क्योंकि रात्रिकाल दिवसकाल का तुल्य ही माना गया है। प्राकृतप्रलय में यह श्लोक प्रमाण है।

द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पयन्ते प्रलयायते।
एष प्राकृत को राजन् प्रलयो यत्र लीयते।

ब्रह्मा के दिन व्यतीत होने पर सातों प्रकार की प्रकृतियां लीन होने लगती हैं। इस हेतु हे राजन् उसको प्राकृतलय कहते हैं। नैमित्तिक प्रलय में यह प्रमाण है:—

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृक्।
शेतेऽनन्तासने नित्यमात्मसात्कृत्य चाखिलम्।

यह नैमित्तिक प्रलय कहलाताहै जिस में सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा जगत् को अपने में लीन कर के सो जाता है।

आत्यन्तिक प्रलय वह है जो ब्रह्मसाक्षात्कार के पश्चात् सब जीवों का मोक्ष होता है। वह एक जीव पक्ष में सकल प्राणियों का एक साथ ही मोक्ष होता है और नाना जीव पक्ष में क्रमशः मुक्ति होती है। उन चारों प्रलयों में से तीन प्रलय कर्म के क्षय निमित्तक है। चतुर्थ प्रलय ज्ञानोदय निमित्तक होता है। इस प्रकार चतुर्विध प्रलय का निरूपण हुआ। आगे प्रलयक्रम निरूपण करूंगी॥

अथप्रलयक्रमः

क्रम यहहै पृथिवी का जल में, जल का तेज में, तेज का वायु में, वायु का आकाश में, आकाश का जीवाहंकार में, उसका हिरण्यगर्भाहंकार में और उसका अविद्या मे प्रलय होता है। विष्णुपुराण में कहा गया है:-

जगत्प्रतिष्ठादेवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥
वायुश्च लीयते व्योम्नि तच्चाव्यक्ते प्रलीयते।
अव्यक्ते पुरुषे ब्रह्मन् निष्कले संप्रलीयते॥

हे देवर्षिनारद! पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्यक्त में और अव्यक्त निष्कल पुरुष में लीन होता है।

इति प्रलयविवेकः समाप्तः

अथ प्रयोजन विवेकः

जिस अर्थ के उद्देश से मनुष्य की प्रवृत्ति होती है अथवा जिस

को जान लेने से लोग चाहताहो, उसे प्रयोजन कहतेहैं। वह द्विविध है एक मुख्य दूसरा गौड़। सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति मुख्य प्रयोजन है। इस से भिन्न गौड़ प्रयोजनहै। सुख भी दोप्रकार का है एक सातिशय दूसरा निरतिशय। सातिशय सुख वह है जो विषयों के संग से अन्तःकरण की वृत्ति द्वारा जो आनन्दलेश का आविर्भाव होता है। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" उसी आनन्द की एक मात्रा को लेकर अन्यान्य समस्त प्राणी जीते हैं।

निरतिशय सुख ब्रह्म ही है। आनन्दात्मक ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष है किसी अन्यलोक की प्राप्ति मोक्ष नहीं अथवा उस २ लोक के विषयों के भोग का भी नाम मोक्ष नहीं क्योंकि वह कर्मजन्य होने से अनित्य है। इस हेतु मुक्तपुरुष की पुनरावृत्ति होगी। यदि कहो कि वेदान्तपक्ष में भी आनन्द की प्राप्ति और अनर्थ की निवृत्ति कर्मजन्य ही हैं क्योंकि श्रवण, मनन, निदिध्यासनादियों से ये होती हैं। यदि कहो कि मोक्ष अनादिवस्तु है तो उसके साधन श्रवणादियों में प्रवृत्ति ही क्यों होनी चाहिये। वेदान्त पक्ष में यह दोष नहीं। क्योंकि मोक्ष ब्रह्मरूप ही है वह अनादि अनन्त और सिद्ध स्वरूप है। उस की सिद्धि ही क्या, तथापि भ्रमवश उसको सिद्धि के लिये श्रवणादिक में जीव प्रवृत्त होता है। और अनर्थ निवृत्ति भी अधिष्ठानभूत ब्रह्मस्वरूप ही है। अतः यह भी सिद्ध ही है। तब यदि कहो कि आनन्द प्राप्ति और अनर्थ निवृत्ति दोनों स्वयं अनादि और सिद्ध हैं और प्राप्त हैं तो उनके लिये चेष्टा क्यों? इस का उत्तर यह है कि लोक में भी प्राप्तप्राप्ति और परिहृतपरिहार का प्रयोजन देखते हैं। जैसे हस्तगत सुवर्णअंगूठी को भी भ्रान्त पुरुष खोजे तब, कोई आप्तपुरुष उसकी भ्रान्ति देख कर कहे कि अरेमूर्ख तेरी अङ्गुली में ही यह अंगूठी है। तू क्यों पागल होरहा है तब वह भ्रान्त पुरुष प्राप्त अंगूठी को ही मानो फिर पा रहा हो। यहां प्राप्त प्राप्ति है। वैसे ही अन्धकार में किसी के चरण में रज्जु

लपट जाय उसको वह सर्प समझ कर चिल्लाने लगे। तब लोग आकर दीपक दिखला कर कहें कि तेरी यह भ्रान्ति है यह रज्जु है सर्प नहीं। यहां परिहृत ही सांप का परिहार है अतः इसको परिहृत परिहार कहते हैं। इसी प्रकार प्राप्त ही आनन्द की प्राप्ति और परिहृत ही अनर्थ की निवृत्तिरूप मोक्ष प्रयोजन है।

वह मोक्ष ज्ञानैक साध्य हैं क्योंकि श्रुति कहती है-

तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

उसी को जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं है।

अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होता है यह लोक में प्रत्यक्ष है। वह ज्ञान जीव और ब्रह्म की एकता सम्बन्धी है क्योंकि श्रुति कहती है-

अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि तदात्मानमेवा वेदाऽहं ब्रह्मास्मि।

हे जनक तू अभय को प्राप्त है तब जनक ने अपने को ही जाना कि " मैं ब्रह्म हूं "। और भी-

तत्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्यसाधनम्।

नारद कहते हैं कि तत्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

वह ज्ञान प्रत्यक्षरूप होना चाहिये। क्योंकि परोक्ष ज्ञान से अपरोक्ष भ्रम का निवारण नही होता। यह लोक सिद्ध है। इस हेतु " अहम्ब्रह्मास्मि " इस वाक्य से साक्षात् ब्रह्म की प्रत्यक्षता हो और भिन्नता का सर्वथा विनाश हो तबही यह ज्ञान अपरोक्ष कहलावेगा। वह अपरोक्ष ज्ञान "तत्वमसि" इत्यादि वाक्यों से होता है ऐसा कोई आचार्य्य कहते हैं। मनन, निदिध्यासन से सुसंस्कृत अन्तःकरण द्वारा वह अपरोक्षज्ञान होता है ऐसा दूसरे आचार्य्य कहते हैं। पूर्वा

चार्यों का यह आशय है कि ज्ञान का जो अपरोक्ष्य है वह किसी करण विशेष से उत्पन्न नहीं होता। किन्तु प्रमेय के विशेष ज्ञान से होता है। इस हेतु प्रमाता (ज्ञाता) जो जीव उस से ब्रह्म भिन्न नहीं किन्तु जीवरूप ब्रह्म है इस लिये जीवगत शब्दजन्य ज्ञान भी अपरोक्ष है। यहां एक आख्यायिका बतलाते हैं।

दिवोदास का पुत्र राजा प्रतर्दन युद्ध से ओर पुरुषार्थ से इन्द्र के प्रियधाम पहुंचा और वहां कुछ दिन रहा। अन्त में इन्द्र ने कहा हे प्रतर्दन तुझे मैं वर देना चाहता हूं तू मुझ से वर मांग। इस पर प्रतर्दन ने कहा कि आप स्वयम् मनुष्य के लिये जो हिततमवर समझते हैं उसे मुझे दीजिये। तब इन्द्र उस से कहने लगे-

सहोवाच प्राणोऽस्मिन् प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्व।

हे प्रतर्दन! मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूं। उस मेरी आयु और अमृत समझ कर उपासना कर। पुनः-

अथ खलु प्राण एव प्रज्ञातमेवेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति।

प्रज्ञात्मा प्राण ही इस शरीर को पकड़ कर उठाता है। पुनः-

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्।

वाणी की जिज्ञासा न करे किन्तु वक्ता को जाने। पुनः अन्त में यह कहा गया है-

स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः।

वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा आनन्द अजर और अमृत है। इत्यादि कथा कौषीतकी ब्राह्मण में आई है। यहां पर यह विचार उपस्थित होता है कि यहां प्राण शब्द से वायुमात्रका, अथवा देवात्मावायुका, अथवा जीव का अथवा ब्रह्म का ग्रहण है। यद्यपि "अत एव प्राणः" इत्यादि स्थल मे प्राण शब्द ब्रह्मवाची है यह सिद्ध किया गया है।

और यहां भी "यह प्राण आनन्द, अजर और अमृत हैं" इस कथन से ब्रह्मवाचक प्राणशब्द सिद्ध होता है तब संशय क्यों। तथापि इस पर कहते हैं कि अनेक चिह्न देखनेसे यहां संशय होता है यहां केवल ब्रह्म चिह्न ही नहीं किन्तु अन्यान्य चिह्न भी हैं। "मुझ को ही जान" इस इन्द्रवाक्य से प्राण शब्द में देवता का चिह्न पाते हैं। पुनः "इस शरीर को पकड़ कर प्राण उठाता है" इस वाक्य से प्राण शब्द शरीरास्यन्तर्चारी वायुवाचक प्रतीत होता है। पुनः "वचन की जिज्ञासा मत कर किन्तु वक्ता को जान" यहां जीव चिह्न पाया जाता हैं। इत्यादि कारणवश संशय होता है। प्रसिद्धि का आश्रय लेकर वायु ही प्राण है यह प्राप्त होता है। इस पर कहा जाता है कि यहां प्राण शब्द से ब्रह्म का ग्रहण है दूसरों का नहीं। क्योंकि पूर्वाचार्य्य की पर्य्यालोचना से ब्रह्म परक वर्णन पाया जाता है। क्योंकि उपक्रम (आरम्भ) में इन्द्र ने कहा कि हे प्रतर्दन! तू वर मांग इस पर प्रतर्दन ने कहा कि आप ही मनुष्य के लिये जो हिततम वर समझते हैं उसे मुझे दीजिये, इत्यादि। यहां हिततम का उपदेश करते हुए मैं प्राण हूं मेरी उपासना कर यह कहते हैं। परमात्मज्ञान से बढ़ कर कोई हिततम उपदेश नहीं अतः यहां ब्रह्मवाचक ही प्राण शब्द है यह सिद्ध होता है। ब्रह्मज्ञान ही हिततम उपदेश है इस में यह श्रुति प्रमाण है-

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

उसी आत्मा को जान कर मृत्यु का लंघन करता है। मोक्ष के लिये दूसरा मार्ग नहीं इत्यादि और भी बहुत सी श्रुतियां हैं। पुनः-

स यो मां वेद नह वै तस्य केचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया॥

सो जो कोई मुझ को ही ब्रह्म रूप जानता है उस ब्रह्मज्ञानी का मोक्षरूप लोक किसी पातक से हिंसित नहीं होता न चोरी से, न बालहत्या से।

यह फल तब ही हो सकता है जब ब्रह्मज्ञान हो। अतः प्राणशब्द ब्रह्मवाचक है उस की उपासना से उपासकको कोई दोषनहीं होता। क्योंकि ब्रह्मज्ञान से सब कर्मों का क्षय होता है। यह श्रुतियों में प्रसिद्ध है। यथा—

क्षीयन्ते चास्यकर्म्माणि तस्मिन्दृष्टेपरावरे।

उस परमात्मा के दर्शन होने पर ब्रह्मज्ञानी के सब कर्म क्षीण हो जाते हैं।

पुनः-प्राण को प्रज्ञात्मा (ज्ञानस्वरूप) कहा है वह ब्रह्म पक्ष ही में घट सकता है। क्योंकि अचेतन वायु प्रज्ञात्मा नही हो सकता। उपसंहार (अन्त) में भी " आनन्दोऽजरोऽमृतः " इत्यादि कथन से आनन्दत्व, अजरत्व और अमृतत्व ईश्वर ही में घट सकते हैं अन्यत्र नहीं। पुनः वहां ही कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है—

स न साधुना कर्म्मणा भूयान् भवति नो एवाऽसाधुना कर्मणा कनीयानेष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवाऽसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते। एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः। इत्यादि—

वह साधु कर्म से महान् नहीं होता और न असाधु कर्म से छोटा ही होता। यही उससे साधु कर्म करवाता है। जिसको इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है। यही उस से असाधुकर्म करवाता है। जिसको इन लोकों से नीचे लेजाना चाहता। यह लोकाधिपति है यह लोकेश है।

इत्यादि वर्णन ब्रह्म में ही घट सकता है अन्यमुख्य प्राणादिक में नहीं। पुनः यहां शङ्का होती है कि जब प्राणशब्द ब्रह्मवाचक सिद्ध है

तब " मेरी उपासना कर " ऐसा इन्द्र क्यो कहता है । इस के उत्तर में वेदान्त सूत्र रचते हैं । यथा—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।

यहां पर भी यह कथा है कि वामदेव ऋषि ने भी कहा था कि मैं ही मनु और सूर्य्य इत्यादि हूं । इत्यादिस्थलों में शास्त्रदृष्टि से उपदेश होना है । इस का भी भाव यह है कि तत्वमस्यादिवाक्यों से " मैं ब्रह्म हू " ऐसाज्ञान जिसको होता है वह ब्रह्म और अपने में भेद न जानता हुआ मेरी उपासना कर ऐसा उपदेश दिया करता है।

इत्यादि वर्णन से सिद्ध है कि तत्वमस्यादि वाक्यों के द्वारा अपरोक्षज्ञान होता है ।

और अन्य आचार्य्यों का यह आशय है कि करण विशेष से ही ज्ञान प्रत्यक्ष होता है विषय विशेष से नहीं । क्योंकि एक ही सूक्ष्म वस्तु को कोई पटुकरण (निपुणअन्तःकरण) से प्रत्यक्ष कर लेता है किन्तु जिस की बुद्धि और इन्द्रियादिक दुर्बल हैं वह उसको नहीं देखता । इस लिये ज्ञान की प्रत्यक्षता में इन्द्रियों को ही प्रयोजकता है किन्तु शब्दजन्य ज्ञान का अपरोक्षत्व नहीं । ब्रह्म साक्षात्कार में मनन और निदिध्यासन से सुसंस्कृत मन ही करण है क्योंकि "मनसैवानुद्रष्टव्यः" मन से ही वह देखने योग्य है । ऐसा श्रुति कहती है । परन्तु—

यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्यमनसा सह ।

इत्यादि श्रुति से जहां मन से भी अगम्य परमात्मा को कहा है वहां असंस्कृत मन का ग्रहण है । यदि कहैं कि ब्रह्मसाक्षात्कार में मन ही कारण है तब उपनिषदादि श्रुतियों के अध्ययन से प्रयोजन ही क्या ? इस पर उत्तर यह है कि उपनिषदादि अध्ययन से ही मन सुसंस्कृत होता है और तब ही उस सुसंस्कृत मन से ब्रह्मज्ञान होता है अन्यथा नहीं ।

यह ज्ञान पापक्षय से होता है और पाप क्षय कर्म्मों के अनुष्ठान से

होता है इस प्रकार परम्परासे कर्मों का ज्ञानमें विनियोग है। अतः एव कहा गया है—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।

उस इस आत्मा को ब्राह्मणगण वेद के अध्ययन से, यज्ञ से, दान से, तप से और अनशन अर्थात् हितमितमेध्य भोजन से जानना चाहते हैं। इस प्रकार श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी ज्ञान साधन हैं। मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" यहां आत्मा का दर्शन कह कर उस के साधन की अपेक्षा में "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि कहते हैं। यहां श्रवण, मनन और निदिध्यासन का विधान है। यहां सम्पूर्ण वेदान्तों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य्य है। इस प्रकार धारणा को अनुकूलमानसिक क्रिया का नाम श्रवण है और मनन उस को कहते हैं जहां श्रुति से अवधारित अर्थ में अन्यान्य प्रमाणों से शङ्का उत्पन्न हो वहां उस को निराकरण के लिये अनुकूल तर्क द्वारा आत्मज्ञानजनक जो मानस व्यापार है वह मनन है और अनादि दुर्वासना से विषयों में आकृष्यमाण जो चित्त उस को विषयों से हटा कर आत्म विषय में स्थिर करने के लिये जो अनुकूल मानस व्यापार उसे निदिध्यासन कहते हैं। वह निदिध्यासन ब्रह्मसाक्षात्कार में साक्षात्कारण है और निदिध्यासन में मनन हेतु है क्योंकि अकृतमनन पुरुष का अर्थ दृढ़ता नहीं हो सकता। मनन में श्रवण हेतु है क्योंकि यदि श्रवण न हो तो तात्पर्य्य का निश्चय न हो सकता और शब्द ज्ञानके अभाव से मनन ही क्या हो सकता है। इस प्रकार इन तीनों को ज्ञानोत्पत्ति में कारण कोई २ आचार्य्य कहतेहैं। अन्य श्रवणको ही प्रधान मानते हैं। और श्रवणादिकों में मुमुक्षुओं का अधिकार है मुमुक्षुत्वके लिये नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रार्थफल भोगविराग, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा इन सब का विनियोग है।

सगुणोपासन भी चित्तैकाग्रता द्वारा निर्विशेष ब्रह्मसाक्षात्कार में हेतु होता है, जैसा कहा है:—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्त्तुमनीश्वराः ।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यंते सविशेषनिरूपणैः ॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात् ।
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधि कल्पनम् ॥

जो मन्द पुरुष निर्विशेषपरब्रह्म को साक्षात् करने में असमर्थ हैं उन्हें सगुणोपासन बतला कर दया दिखलानी चाहिये। जब सगुण ब्रह्म की उपासना से इन का मन वशीभूत होता है तो उस में सर्वोपाधि रहित वही ब्रह्म साक्षात् आविर्भूत होता है। सगुणोपासक जन अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक में जाते हैं वहां ही श्रवणादि द्वारा तत्वसाक्षात् करके अधिकारी कार्य्य ब्रह्म के साथ मोक्ष पाते हैं। किन्तु कर्म्म करने वाले धूमादि मार्ग से पितृलोक में आकर कर्मफल भोगते हैं, कर्म क्षीण होने पर पूर्वकृत, सुकृत, दुष्कृत के अनुसार ब्रह्मादि स्थावरान्त जातियों में उन की पुनरुत्पत्ति होती है श्रुति भी कहती है:—

रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते ।
कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्ते ।

रमणीय सदाचारी रमणीय योनि को पाते हैं कुत्सिताचारी कुत्सित योनि को पाते हैं। ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि, वैश्ययोनि इत्यादि रमणीय योनि है। कुक्कुरयोनि, चाण्डालयोनि, शूद्रयोनि इत्यादि कुत्सितयोनि है। निषिद्ध कर्म करने वाले रौरवादि नरकों में पापो का फल तीव्र दुःख को अनुभव कर शूकर से लेकर पक्षि पर्य्यन्त योनियों में और स्थावरों में उत्पन्न होते हैं।

जो निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्करने वाला है उसका लोकान्तर में गमन नही होता। क्योंकि "नतस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" उस के प्राण

ऊपर नहीं जाते वहीं ही लीन होते हैं। किन्तु प्रारब्ध कर्म का जब तक क्षय नहीं होता तब तक सुख दुःखका अनुभव कर पश्चात् मुक्त होता है। शङ्का होती है कि-

क्षीयन्ते चास्यकर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

उस परमात्मा के दर्शन होने पर इस ज्ञानी के सब कर्म क्षीण होजाते हैं। इस श्रुति से और-

ज्ञानाग्निः सर्वकर्म्माणि भस्मसात् कुरुतेतथा।

ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्मकर देता है इस स्मृति से सकल कर्मों का क्षय करने वाला ज्ञान कहा गया है तब ज्ञानी का प्रारब्ध कर्म रहजाता है यह कथन अनुपपन्न है। किन्तु श्रुति कहती है जब तक प्रारब्ध कर्मका क्षय नहीं होता तब तक मुक्ति नहीं होती श्रुति यह है-

तस्य तावदेवचिरं यावन्नविमोक्ष्येअथसंपत्स्ये।

जब तक प्रारब्ध कर्म से नहीं छुटता तब तक ही देर है प्रारब्ध कर्म से विमुक्त होने पर मोक्ष पाता है स्मृति भी कहती है-

अवश्य मेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

सञ्चितकर्म दो प्रकार के हैं। सुकृत और दुष्कृत। इसी सञ्चित कर्म का ज्ञान से नाश होता है प्रारब्ध का नहीं। इसी प्रकार तत्व- ज्ञान से मुक्ति होती है यह सिद्ध हुआ। यहां शङ्का होतीहै कि अवि- द्या एक है तब किसी एक जीव को ज्ञानोत्पत्ति होने पर अविद्या का सर्वत्र नाश होना चाहिये इस प्रकार एक की मुक्ति से सब को मोक्ष भी प्राप्त होना चाहिये। कोई वेदान्ती इसको इष्ट ही मानते हैं। दूसरे इस दोष के निवारणार्थ अविद्या की अनेकता मानते हैं। और इस में श्रुति का प्रमाण देते हैं।

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

इत्यादि तीसरे आचार्य्य कहते हैं कि अविद्या एक ही है किन्तु उस में ब्रह्म स्वरूप के आवरण-करने की नाना शक्तियां हैं तब जिस को ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है उसका ब्रह्मस्वरूपावरण शक्ति विशिष्ट अविद्या का नाश होता है अन्यान्य की वह अविद्या नष्ट नहीं होती इस हेतु एक की मुक्ति से सब की मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान से मोक्ष कहा गया है। वह मोक्ष अनर्थ निवृत्तिरूप और निरतिशय ब्रह्मानन्द प्राप्तिरूप है। इस प्रकार प्रयोजन दिखलाया गया है।

प्रियवदा-यद्यपि सकल पाकसामग्रियों के रहने पर ओदन होगा या न होगा ऐसी चिन्ता नहीं हो सकती। इसी प्रकार अच्छे अच्छे पदार्थोंको खाताहुआ पुरुष तृप्त होगा या न होगा। ऐसी विचारणा केवल मूर्खों की हो सकती है। तद्वत् साधनभूत विद्या की प्राप्ति से नित्यमुक्ति होगी अथवा अनित्य मुक्ति। यह परामर्ष भी तुच्छ है। अर्थात् श्रीमती के निकट मुझे यह शङ्का करनी है कि मुक्त पुरुष की पुनरुत्पत्ति होती है या नहीं। यद्यपि श्रीमतीजी से बहुशः सुन चुकी हूं कि मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। तथापि श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणों में मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म उक्त है इस लिये यह शङ्का हुई है।

१-अपान्तरतमा नाम के ऋषि वेद में अत्यन्त निपुण और तत्ववित् थे। वही पुराण ऋषि विष्णु के आदेश से कलि और द्वापर की सन्धि में कृष्ण द्वैपायन नाम से उत्पन्न हुए। यद्यपि वह वेदाचार्य्य ब्रह्मज्ञानी थे तथापि इनकी उत्पत्ति सुनती हूं। २-वसिष्ठ ऋषि ब्रह्मा के मानस पुत्र कहे जाते हैं। निमि राजा के शाप से उन के पूर्व देह का पतन होगया। पश्चात् ब्रह्मा के आदेश से मित्रवरुण द्वारा वसिष्ठ की पुनः उत्पत्ति हुई। ३-भृग्वादि ऋषि भी ब्रह्मा के मानस पुत्र थे उन की भी वरुण यज्ञ में पुनरुत्पत्ति सुनी जाती है। ४-ब्रह्मा के मानस पुत्र सनत्कुमार भी वर प्रदान से महादेव के पुत्रहुए जिनका नाम स्कन्द कियागया। इसी प्रकार ५-दक्ष और

नारद प्रभृति मुक्त ऋषियों की बहुतसी पुनः उत्पत्तियां उस उस निमित्त से गाई गई हैं। अतः निर्गुण ब्रह्म की उपासना से अथवा ब्रह्म साक्षात्कार से भी मुक्त पुरुषों की उत्पत्ति देख कर समझती हूं कि मुक्ति भी पाक्षिकी है। श्रुति के मन्त्र और अर्थवाद मे ऐसी ऐसी बातें पाई जाती हैं। कोई पूर्व देह के पतन के पश्चात् अन्य देह धारण कर लेते हैं। कोई योगैश्वर्य्य के कारण अनेक देह भी धारण कर लेते हैं और वे सब सकल वेदज्ञ कहे जाते हैं।

श्री रूपकुमारी-तेरे प्रश्न गम्भीर भाव से विचारने के योग्य हैं इस में सन्देह नही। बात यह है कि अपान्तरतमा प्रभृतियों की कथा वैसी ही है किन्तु वे सब एक एक अधिकार में नियुक्त किये जाते हैं अधिकार समाप्त होने पर वे मुक्त हो जाते हैं। यदि कहो कि क्या पुनः उन्हें अधिकार नही दिया जायगा? इस का उत्तर यह है कि पुन, इन को अधिकार नहीं दिया जाता है। इस विषय का विचार—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिणाम्।

वेदान्त ३। ३। ३२

इस सूत्र द्वारा कृष्णद्वैपायन ने किया है। इस के भाष्य में शङ्कराचार्य्य महाराज कहते हैं कि वे अपान्तर तमा प्रभृति लोक स्थिति के लिये वेद प्रचारादि अधिकारों में नियुक्त होते हैं। जबतक उनका कार्य्य समाप्त नही होता तब तक उसी कार्य्य पर रहते हैं। कार्य्य की समाप्ति के पश्चात् कैवल्य प्राप्त करते हैं। जैसे भगवान् सूर्य्य सहस्रयुग पर्य्यन्त जगत् का अधिकार करके अन्त में उदयास्त रहित कैवल्य का अनुभव करते हैं। इस में यह श्रुति प्रमाण है-

अथ तत ऊर्ध्वउदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एवमध्ये स्थाता। छा० उ० ३। ११। १

प्रारब्ध कर्म के क्षय के अनन्तर (ततः)- पश्चात् (ऊर्ध्वः) विलक्षण=केवल ब्रह्मस्वरूप होकर (उदेत्य न एव उदेताः) उदित

होकर पुनः उदित नही होता। (न अस्तं एता) अस्त को भी नहीं प्राप्त होता। किन्तु (एकलः एव) अद्वितीय वह आदित्य (मध्ये स्थाता) उदासीन आत्मस्वरूप में सदा रहा करता है। इसी प्रकार वर्तमान ब्रह्मवित् पुरुष आरब्ध कर्म्मों के भोग द्वारा क्षय होने पर कैवल्य का अनुभव करते हैं। अपान्तर तमा प्रभृति भी ईश्वर ही हैं। परमेश्वर से उन उन अधिकारों में नियुक्त होते हैं, मोक्ष हेतुक सम्यग्दर्शन रहने पर भी प्रारब्ध कर्म के क्षय न होने से अधिकार पर्य्यन्त रहते हैं अन्त में मुक्त हो जाते हैं। फल देने के लिये प्रवृत्त कर्माशयोको भोगते हुए अपनी इच्छा के अनुसार एक गृह से दूसरे गृहमें जैसे कोई जाय वैसे अन्य २ देहों में विचरण करते हुए अपने २ अधिकार की समाप्ति के लिये बहुत से शरोरों को एक ही वार निर्माण कर अथवा क्रम से उन में रहते हैं। उन सब को पूर्व जन्मकी विस्मृति नही होती इतना भेद है। कहा गया है कि ब्रह्मवादिनी सुलभा नाम की कोई स्त्री जनक के साथ विवाद करने को आई। उन से विवाद कर अपने देह को छोड़ जनक के देह में पैठ उन के साथ पुनः विवाद कर पश्चात् पुनः अपने देह में प्रविष्ट हुई। इस से सिद्ध है कि योगियों को जातिस्मरण सदा बना रहता है इस हेतु पुराण इतिहास आदि में नारदादिको की जो उत्पत्ति कथा सुनी जाती है वह अधिकार मात्र के लिये है। इस प्रकार मुक्ति अनित्य नहीं किन्तु नित्य है।

प्रियंवदा—मुक्ति के सम्बन्ध में पुनः मुझे शङ्का बनी हुई है क्या जो पुरुष मुक्त होजाते हैं और जिन के देह का भी पतन होजाता है वे उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म से पृथक् होकर रहते हैं या उसी में लीन होकर सब भूल जाते हैं। अब ही श्रीमती जी ने कहा है कि उन वसिष्ठादि ज्ञानी पुरुषों की स्मरण शक्ति कभी अन्यान्य देहों में भी लुप्त नही होती। वैसे ही ब्रह्म में लीन होकर वे समझते होंगे कि मैं वसिष्ठ हूं मैं नारद हूं। मैं सनत्कुमार हूं इत्यादि इस शङ्काकी निवृत्ति जैसे हो वैसा मुझे समझावें।

रूपकुमारी-इस का उत्तर सहज है तू ने वेदान्त का मनन नहीं किया इस लिये ऐसी शङ्का हुई है। तू इस प्रकार समझ जैसे बहुत जल पूरित घटों में सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। अब कारणवश, मानो, एक घट फूटता है। अब कह वह प्रतिबिम्ब कहां गया। निःसन्देह, वह सूर्य्य का प्रतिबिम्ब न कहीं गया और न उसका नाश ही हुआ। किन्तु उपाधि सहित में प्रतिबिम्ब पड़ता था उपाधि के नष्ट होने पर ज्यों का त्यों वह प्रतिबिम्ब बना रह गया। हां उपाधि-रूप घट के न रहने से वह प्रतिबिम्ब प्रतीत नहीं होता। तद्वत् अन्तः-करण में अथवा अविद्या में ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव कहलाता है। उस उपाधिभूत अन्तःकरण का अथवा अविद्या का नाश होने से वह प्रतिबिम्बस्वरूप जीवात्मा बिम्बस्वरूप ब्रह्म में स्थित हो गया। पूर्व भी वह ब्रह्मस्वरूप ही था अब भी ब्रह्मस्वरूप ही रहा। हे पुत्री! यह सब माया का विनाशमात्र है न कोई वसिष्ठ पृथक् है न उस से ब्रह्म भिन्न है। ये सब लीलाएं व्यवहारमात्र के लिये हैं। परमार्थ के लिये नहीं। तू वारम्वार विचार कि मैं क्या हूं। कहां से आई और पुनः कहां चली जाऊंगी।

ऐ प्रियवादिनी प्रियंवदा! तू विचार दृष्टि से इस का वारम्वार मनन कर कि सांसारिक थोड़े से प्रयोजन के लिये कितना उद्योग करना पड़ता है। गृहस्थ उदर पूरणार्थ अहोरात्र अन्नों को उत्पन्न करने में लगे रहते हैं। प्रथम गौ, बैल, भैंसी, भैंस, बकरा, बकरी, मेष, मेषी, घोड़ा, घोड़ी, हाथी, हथिनी, ऊंट, ऊंटिनी, कहां तक गिनाऊं शूकर कुक्कुर इत्यादि २ यथाशक्ति यथाप्रयोजन पशुओं को पालते हैं। खेतों को जोतते समीकरण करते क्षेत्रयोग्य खाद्य पदार्थों से खेतों को भरते बीज बोते हैं। और बढ़े हुए सस्यों की रक्षा के लिये अनेक उपाय करते रहते हैं। कभी जल सींचना पड़ता है कभी रात२ भर जाग कर खेत को दुष्ट जन्तुओं से बचाते हैं। यदि दुर्भाग्यवश अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि अथवा हिमपतन और शलभ मूषिका आदि उपद्रव आपहुंचे तो कितना कोलाहल होने लगता है महाभयङ्कर

दुर्भिक्ष से हजारों मनुष्य मरने लगते हैं ॥ इस प्रकार बहुत प्रयास करने से साधारणजन अपना पेट भर सकते हैं।

ऐ पुत्री ! इस पेटके लिये कैसे २ घोरतर दुष्कर्म में लोक प्रवृत्त होजातेहैं।बाल हत्या, स्त्रीहत्या, मनुष्य हत्या, डाका, चोरी, लूट और नाना प्रकार के छल कपट धूर्त्तता आडम्बर इत्यादि २ दुष्कर्म करते करवाते हैं। बहुत से धूर्त जटा बढ़ा भस्म लगा हाथ में माला ले ग्राम २ लोगों को धोखा देते फिरते हैं। कोई किसी प्रचलित पथ में अथवा प्रचलित आचार में प्रवेश कर भागवतादि ग्रन्थों को अथवा वेदादि शास्त्रों को लेकर जनताके समीप पहुंचते हैं। यद्यपि जनता न उनकी कथा सुनना चाहती न वेदोंसे यज्ञ करवानेमें रुचि रखतीहै न श्रद्धा न भक्ति न विश्वास तथापि। इस उदर की पूर्त्ति के लिये ऐसे श्रोताओं को भी अपनी कथा सुनाना चाहते हैं। यहां केवल उदर पूरण ही प्रयोजन है। इतना ही नहीं किन्तु और भी आगे देख जितने व्यावहारिक शुभ कर्म विहित हैं वे भी प्रायः क्षुधा निवृत्यर्थ ही हैं। अच्छे अध्यापक बनने के लिये ही कितना प्रयास अपेक्षितहै चार पांच वर्ष वयःक्रम के पश्चात् ही बालक अक्षरादि परिचय में लगाए जाते हैं। तब से निरन्तर बीस पचीस वर्ष यदि अध्ययन करे तो मध्यम कक्षा का वह अध्यापक हो सकता है। छत्तीस अथवा उस से भी अधिक चालिस पचास वर्ष अध्ययन करे तो व्यवहार में उत्तम अध्यापक की पदवी का अधिकारी होता है।

जब एक ऐसे क्षुद्र अधिकार के लिये इतना प्रयास आकांक्षित है तब निःशेष दुःख रहित अनन्त मोक्ष के लिये कितनी सामग्री कितना साधन कितनी चित्तैकाग्रता कितनी सावधनता इत्यादि २ साधन अपेक्षित हैं। उसे तू अनुमान कर सकती है।

प्रियंवदा—मातः ! मेरा यह नम्र निवेदन है कि जैसे इस व्यवहारिक जगत् में लोक प्रवृत्त होते हैं। वैसे ही परमार्थ वस्तुमें लोक क्यों नहीं प्रवृत्त होतेहैं। जब इस क्षणिक सुखके लिये इतना प्रयास करते हैं तब शाश्वतिक अनन्तर परमानन्द की प्राप्ति के लिये लोगों की प्रवृत्ति क्यों नही होती।

रूपकुमारी–इस में सन्देह नहीं कि परमार्थ में लोगों की प्रवृत्ति नहीं हैं। इस के लिये दश पदार्थों का बोध होना चाहिये। १–प्रथम स्मरणाभाव इसका कारण है जो दण्ड्यपुरुष कारागार (जेल) में कठोर दण्ड का अनुभव कर चुका है कोल्हू में बैल के समान जोता गया है। दौड़ कर न चलने पर बेतों से खूब पीटा गया है रात्रि में भूखा ही उस अन्धकार कोठड़ी में फेंक दिया गया है मूत्र और पुरीष के ऊपर बलात्कार सोना पड़ा है। इसी अपवित्रता में किञ्चित् अन्न पान देकर पुनः कोल्हू में जोता गया है अन्न पान भी इस लिये दिया गया है कि वह अपने दण्ड भोगने के लिये नाना दुःखों का अनुभव करे। जोर से चिल्लाय छटपटा छटपटा मरणप्राय हो पुनः २ बेंतों, लातों और मुक्का आदिकों की मार सहसके इस प्रकार दुःख अनुभवकर कारागारसे छूट पुनः अपने पूर्व काम पर आ उसी अपराधको न करे। इसी प्रकार कारागारमें नाना विधचित्र विचित्र यातनाएं कैदियों को भोगाई जाती हैं। अब तू समझ सकती है कि इस प्रकार यातना भोग चुकने वाला जेल से निकल पुनः दण्डनीय अपराधों में प्रवृत्त न होगा। यदि इसी प्रकार नाना योनियों में भोगे हुए सुखदुःखों का किञ्चित् भी स्मरण होता तो निःसन्देह नानायोनिरूप कारागार से निकल कर स्वच्छन्दचारी मानव देह को पाकर कदापि दुःकर्म में प्रवृत्त न होता। इस हेतु परमार्थ में प्रवृत्ति न होने का प्रथम कारण स्मरणाभाव है।

२–दूसरा कारण उपस्थित वस्तुओं का प्रतिपालन है। उपस्थित को छोड़ कर अनुपस्थित की चिन्ता कोई नहीं करता। गृहस्थ प्रथम अपनी और अपनी पत्नी की रक्षा की चिन्ता करता है। होने वाले पुत्र पौत्रादि की प्रथम ही चिन्ता नहीं करने लगता। जब दो व्यक्तियों के भरणपोषण के लिये पर्य्याप्त साधन एकत्रित कर लेता है अथवा अधिक करने में समर्थ होता है तब भावी सन्तानों के लिये भी धन संग्रह करने लगता है। असमर्थावस्था में प्रथम अपना ही भरणपोषण उपस्थित रहता और उसीके उपायमें लगा रहता है। जब गृहमें आग लग जाती है तब प्रथम उपस्थित अग्निबुताने की ही

सब चेष्टाएं होती हैं। अब पुनः घर कैसे बनेगा सामग्री कहां से आवेगी इत्यादि चिन्ता उसी समय नहीं करने लगता है। वैसे ही मनुष्यमात्र को सांसारिक आवश्यकताएं जितनी सूझ पड़ती हैं उनही के उपार्जनमें प्रथम आसक्त हो जातेहैं। सांसारिक कामनाए इतनी बढ़ी हुई हैं कि उनकी हो पूर्त्तियां नहीं होती। सृष्टि की प्रथमावस्था से मनुष्य के मनोरथ और अभीष्ट दिन२ बढ़ते ही गए। सुना जाता है कि सत्ययुग में लोग इतने कामुक और मनोरथासक्त नहीं थे त्रेता द्वापर और कलि में आवश्यकताए बढ़ती गई। यह सत्य हो वा असत्य हो किन्तु मनुष्य जाति नाना कामनाओं से युक्त है। इतर पशु पक्ष्यादि जातियां केवल शरीर निर्वाहार्थ ही प्रयास करती हुई देखी जाती हैं। क्षुधा पिपासा की निवृत्ति होने पर वे उक्त जातियां आनन्द से क्रीड़ा में लग जाते हैं। किन्तु इस से विरुद्ध मानव जाती में नाना अपरिमित मनोरथ उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। निर्धन केवल पेट भरना चाहतेहैं।पेट भरे हुए पुरुष धन संग्रह चाहते हैं।धन संग्रहियोंमेंएकरूपयेसे लेकर अर्व खर्व पा लेने पर भी सन्तुष्ट नही कोई होते। एक देशाधिपति देशद्वयाधिपति बनना चाहता। देशद्वयाधिपति देशत्रयाधिपति इसप्रकार उत्तरोत्तर निखिलपृथिवीश्वर होना चाहता है। इस प्रकार सांसारिक जञ्जाल से ही वह छुटकारा नहीं पाता। तब परमार्थ चिन्तन कैसे करे।

३-तीसरा कारण इस में शास्त्रों की विरुद्धोक्ति है। एक कोई कहते हैं कि-

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

मैं धर्म जानता हूं किन्तु उस में मेरी प्रवृत्ति नहीं। अधर्म भी जानता हूं किन्तु उस से निवृत्ति नहीं कोई; अदृश्यदेव मेरे हृदय में

स्थित है वह मुझ को जिस २ काम में लगाता है उस २ को मैं किया करता हूं गीता में भी कहा है–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।

सब भूतों के हृदय देश में ईश्वर स्थितहै वही यन्त्रारूढ़ घटवत् सकल प्राणियों को निज माया द्वारा घुमाता हुआ वर्त्तमान है जब ऐसी स्थिति है तो मैं स्वयं क्या कर सकता हूं । इतर आचार्य्य कहते हैं भगवन्नाम के कीर्त्तन मात्र से मोक्ष होता है । इस के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं । किन्तु दो एक मुहूर्त्त अथवा एकाध दण्ड कहीं बैठ कर एकाग्र चित्त हो भगन्नाम स्मरण कर लेना ही मोक्ष के लिये पर्य्याप्त है । इतर ब्रह्मचर्य्य द्वारा आचार्य्यकुल में अधिक काल वास, विविध यज्ञानुष्ठान, नित्य सन्ध्योपासनादि, अग्निहोत्र, अतिथ्यादिसेवा, नित्यानित्य वस्तुविवेक, वैराग्य, शमदमादि षट्सम्पत्तियां इत्यादि २ साधनों की अपेक्षा नहीं, किन्तु केवल अनन्य मन से रामादिनामों का उच्चारण करना ही परम साधन है । दूसरे कहते हैं कि सगुणब्रह्म ब्रह्मा, विष्णु महेश, राम, कृष्ण इत्यादि अवतार, जिस २ स्थान में जो २ लीला कर गए हैं उस २ स्थान में जाना और उन उन लीलाओं को परस्पर सुनना सुनवाना मुक्ति के लिये उत्तम साधन है । जब सहज उपायों से संसार दुःखकी निवृत्तिहो सकती है जन्ममरणप्रवाह रुक सकता है तो अतिशय अगम्य और कठिन साधन क्यों किये जांय ।

अपर आचार्य्य कहते हैं कि सामीप्य मुक्ति ही अपेक्षित है क्यों कि हम जीव भक्त और परमेश्वर सेव्य हैं । जैसे अन्तःकरण से भक्तजन गुरु, आचार्य्य माता, पिता सेव्यों की सेवा कर उनके रूप में होना नहीं चाहता वैसे ही भक्तजन भी मरण के पश्चात् अपने सेव्य प्रभुके निकट जाकर निवास करने की ही प्रार्थना करें । न कि अपने सेव्य के समान बनने की इच्छा रक्खें । इतर आचार्य्य कहते हैं

कि ईश्वर और जीव भिन्न दो पदार्थ हैं वे कभी मिलकर एक नहीं हो सकते। अन्य आचार्य्य कहतेहैं कि "तत्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य्य जैसा वेदान्ती समझते हैं वैसा नहीं है। इत्यादि आचार्य्यों की मतभिन्नता भी ब्रह्मज्ञान की बाधिका है।

४–चतुर्थकारण प्रत्यक्षाभाव है। जैसे घटपटादिकों को देखते और उनको अपने अनुकूल काम में लगाकर सुख भोगतेहैं। तद्वत् न ब्रह्म की और न इस जीव की ही प्रत्यक्षता होती है यह आत्मविषय केवल शब्दगम्य इतर प्रमाणोंसे अगम्य केवल विश्वास और श्रद्धा के योग्य है। प्रत्यक्षवस्तु में लोगोंकी प्रवृत्ति होतीहै केवल शब्दगम्य परोक्ष में नहीं।

५–प्रारब्धकर्म भी प्रवृत्ति का बाधक है अपने २ प्रारब्ध कर्म के अनुसार यह जीव फल भोग रहे हैं यह शास्त्र का अचल सिद्धान्त है तब जिसको प्रारब्ध कर्म्मानुसार हजारों जन्ममरण दुःख भोगने हैं उनकी प्रवृत्ति इस मोक्ष मार्गमें कैसे हो सकती है। ६–विषयवासनाओं का प्रबल आकर्षण इस वेदगम्य मार्ग का परम बाधक है। पुरुष के लिये स्त्री और स्त्री के लिये पुरुष अतिशय आकर्षण स्थान है। प्रायःनाटकों में इस के सहस्त्रशः उदाहरण लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त यह संसार भी अनुकूलावस्था में परस्पर बहुत सुखप्रद होता है। कर्ण के लिये रागके साधन कितने भजन कितने वीणा, सितार, मृदग, ढोलक हर्मुनिया आदि वाद्य बने हुए हैं। नेत्र के लिये नाना प्रकार के नृत्य, नाटक, खेल कूद पुत्र पौत्रादिक और प्राकृतघटना, शीतलसुगन्ध, मन्द मन्द वायु का चलना, श्याम घटाका आना, पर्वत, नदी, वन, समुद्र, प्रपात, बाग, ऋतुपरिवर्त्तन, इत्यादि २ कोटिशः पदार्थ मनुष्यों के चित्त को अपनी ओर खैंच कर विषयानन्दों में डबो देते हैं।

६–ईश्वरी माया की परम प्रबलता भी प्रवृत्तिबाधिका है। वह माया तुच्छा, अनिर्वचनीया और वास्तविकी रूप से तीन प्रकार की है। शास्त्रदृष्टि से अत्यन्त तुच्छ, मिथ्या और सनातनी है। युक्तिसे

बहुत बढ़गई है और नित्य बढ़ती ही जाती है। जिस भारतभूमिपर ऋषि वामदेव, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य, अंगिरा, कण्व, भरद्वाज, अत्रि, विश्वामित्र कक्षीवान कक्षीवती, अपाला, गार्गी, मैत्रेयी याज्ञवल्क्य जनक आदि शतशः हुए हैं। आज उसी भूमि पर नाना कारणों के अतिशय मूर्ख अज्ञानी, कामी, क्रोधी, लोभी, प्रमादी, आलसी लम्पट दुराचारी, अकिञ्चन दीन होते जाते हैं। अतः इस वेदान्त की ओर लोग आवें।

इति प्रयोजन विवेकः समाप्तः।

इति श्री रूपकुमारिकृते
वेदान्तपुष्पाञ्जलौ वेदान्तसार-
विवेकोऽपि समाप्तः।



प्रकीर्णविवेक

अथ उत्क्रान्तिविवेक

श्रीरूपकुमारी-ऐ राजपुत्रियों ! अब मैं अनेक विषय अतिसंक्षेप रूप से तुम सब को सुनाती हूं। समाहिता होकर इस वेदैकगम्य, आत्महितकर, और आत्मोद्धारक परम आवश्यक बातों को सुनो। क्या ब्रह्मज्ञानी, कर्मकाण्डी अज्ञानी और इतर प्राणि मर कर एक ही मार्ग से परलोक गमन करते हैं या इन के ऊर्द्ध्वगमन के भिन्न भिन्न पथ हैं। पुनः यह लोक में भी प्रवाद है कि किन्हीं मनुष्यों का शिर मरणकाल में फूट जाता उसीसे प्राण निकलता है। किसी का प्राण नेत्र से, किसी का मुख से और किसीका अधोभाग से प्राण निःसृत होता है। कोई यह भी कहते हैं कि उत्तरायण में मरण से सद्गति और दक्षिणायन में मृत्यु से असद्गति होती है। इत्यादि अनेक प्रवाद विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त यम के दूत पापियों को लेजाते हैं और विष्णु प्रभृतियों के दूत धर्मात्मा भक्तोंको लेजाते हैं। काशी, प्रयाग, गङ्गा आदि में मरण से पापियों की भी सद्गति होती है इत्यादि पौराणिक गाथा हैं। अतःइन प्रकीर्ण विषयों को श्रुतियों से शङ्कराचार्य्यादिकों के सिद्धान्त पथ द्वारा दिखलाती हूं।

१-देवयानमार्ग

" जो कोई ब्रह्मज्ञानी हैं और जो अरण्य में श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं। वे मरने के पश्चात् प्रथम अर्ची (अग्नि ज्वाला) में प्राप्त होते हैं। अर्ची से दिन में, आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष) में आपूर्यमाण पक्ष से उत्तरायण मासों में, उत्तरायणमासों से सम्वत्सर में, सम्वत्सर (वर्ष) से आदित्य (सूर्य्य) में, सूर्य्य से चन्द्रमा में, चन्द्रमा से विद्युत् में प्राप्त होते हैं। इस विद्युत् लोक में

अमानव पुरुष रहता है वह उन ज्ञानियों को ब्रह्म में मिलाता है। इसी का नाम देवयान पथ है" यह छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार वर्णन किया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार इस प्रकार है

"जो इस को इस प्रकार जानते हैं और जो ये अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं। वे अर्चो में प्राप्त होते हैं, अर्चो से दिन में, दिन से आपूर्यमाण पक्ष (शुक्लपक्ष) में, आपूर्यमाणपक्ष से उन छः मासो में जिन में आदित्य (सूर्य्य) उत्तर दिशा में आता है अर्थात् उत्तरायण में, उन मासों से देवलोक में, देवलोक से आदित्य में, आदित्य से वैद्युत लोक में वे प्राप्त होते हैं तब वैद्युत लोक से उनको मानस पुरुष आकर ब्रह्मलोकोंमें लेजाते हैं। वे वहां सर्वदा रहते हैं। उन की पुनरावृत्ति नहीं होती"।

२–पितृयाण

"अब जो ये ग्रामनिवासी ग्राम में इष्ट आपूर्त दानकी उपासना करते हैं वे धूम में प्राप्त होते हैं धूम से रात्रि में रात्रि से अपरपक्ष (कृष्णपक्ष) में अपरपक्ष से उन छः मासों में जिन में सूर्य्य दक्षिण की ओर आता है। उन मासों से सम्वत्सर में वे प्राप्त नही होते मासों से पितृलोक में पितृलोक से आकाश में, आकाश से चन्द्रमा में। यह सोम राजा है वह देवों का अन्न है उस को देव खाजाते हैं। यहां कर्म्मों का जब तक क्षय नही होता तब तक वहां निवास कर अनन्तर जिस मार्ग से आगमन होता है और जिस से गयेथे उसी मार्ग से पुनःलौटते हैं। जैसे वह आकाश में आते हैं आकाश से वायु में आते हैं वायु होकर धूम होता है धूम होकर अभ्र (एक प्रकार का मेघ) होता है अभ्र होकर मेघ होता है मेघ होकर बरसता है। तब वे अन्न, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और माष इत्यादि २ होते हैं इस हेतु निश्चय उन से निकलना दुष्कर है। क्योंकि जो २ अन्न खाता और जो रेत सिञ्चित करता है, वे बहुत हैं"। यह छान्दोग्य का मत है। बृहदारण्यक का मत इस प्रकार है—

" जो यज्ञ से, दान से, तप से, लोकों को जीतते हैं वे धूम में प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि में, रात्रि से अपक्षीयमाणपक्ष (कृष्णपक्ष) में, अपक्षीयमाणपक्ष से उन छः मासों में, जिन में आदित्य दक्षिण दिशा की ओर आता है, उन मासोंसे पितृलोक में, पितृलोक से चन्द्र में वे चन्द्रको पाकर अन्न होते हैं वहां देवगण 'जैसे हे सोमराजन्! तू बढ़ और घट' ऐसा कहकर सोम राजा को खाते हैं वैसे उन को खाजाते हैं। उनके जब वहां कर्मों का क्षय हो जाता है तब वे आकाश में आते हैं आकाश से वायुमें, वायुसे वृष्टिमें, वृष्टि से पृथिवी में प्राप्त होते हैं। वे पृथिवी में प्राप्त होकर अन्न होते हैं वे पुनः पुरुष रूप अग्नि में होमे जाते हैं तब स्त्रीरूप अग्नि में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे कर्म करने वाले घटीयन्त्रवत् सदा घूमते रहते हैं। और जो इन देवयान और पितृयान दोनों मार्गों को नहीं जानते हैं वे कीट, पतङ्ग, दंश मशक आदि होते हैं। "

३—जायस्वम्रियस्व पथ

" और जो इन दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग से भी नहीं जाते हैं वे बारम्बार आवृत्ति वाले (आवागमन वाले) क्षुद्र जन्तु होते हैं यह 'जायस्व और म्रियस्व' नामक तृतीय स्थान अर्थात् तृतीय मार्ग है इस कारण यह लोग पूर्ण नहीं होता अतः इस से लोग घृणा करें। "

अन्यान्यमत

बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है—

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते। यदिदमद्यते। तस्यैषघोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति।

बृ० उ० ५।६।१

जो यह वैश्वानर नाम का अग्नि है वह पुरुष के शरीर के अभ्यन्तर में विराजमान है जिस से यह अन्न पचता है जो अन्न खाया जाता है उस का यह घोष (शब्द) होता है जिस को कान बन्द करके सुनता है किन्तु जो मरने लगता है वह उस घोष को नहीं सुनता ।

तद्यथाऽनः सुसमाहित मुत्सर्जद्यायात् । एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति । यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥

बृ० उ० ४ । ३ । ३५

जिस में वह मुमूर्षुजन ऊर्ध्वश्वासी होता है उस समय यह जानना चाहिये कि जैसे विविध भार भाण्ड उलूखल मूसल शूर्प पिठरादि सामग्री सम्पन्न शकट सुयोग्य चालकाधिष्ठित हो कर्णक्लेश कर शब्द करता हुआ है इसी दृष्टान्त के सदृश यह लिङ्ग शरीर सहित जीवात्मा प्राज्ञ आत्मा से अधिष्ठित होकर दुःखार्त्त शब्द करता हुआ शरीरान्त में जाता है ।

तद्यथा—राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पयन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं हैवं विदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पयन्ते इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति । बृ० उ०

जैसे निज देश दर्शनार्थ आते हुए राजा को देख राजा के लिये सेना नायक, विचारक यानाध्यक्ष और नगरपालकगण अन्न, पान और स्नानादिकों का प्रबन्ध करते हैं और यह आता है, यह आता है इस की प्रतीक्षा करते हैं इसी प्रकार ब्रह्मवित् पुरुष के लिये सब प्राणी आदर सम्मान द्वारा उस की प्रतिष्ठा करते हैं यह ब्रह्म आता है, यह ब्रह्म आता है इस प्रकार अपनी उत्सुकता दिखलाते हैं ।

तद्यथा-तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति ॥

बृ० ४।४।३

जैसे तृणजलायुका जंब एक तृण के अन्त में आता है तब जब तक अन्य तृण का आश्रय नहीं ले लेता तब तक पूर्व तृण को नहीं त्याग करता। इसी दृष्टान्त के अनुसार यह आत्मा इस शरीर को त्याग अविद्या को छोड़ अन्य शरीर को स्थिर कर यहां से गमन करता है।

तद्यथा—पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुतएवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मंवाऽन्येषां वा भूतानाम् । बृ० उ० ४।४।४

जैसे सुवर्णकार सुवर्ण की मात्रा को लेकर नवीन २ सुन्दर २ वस्तु बनाया करता है वैसे यह आत्मा इस शरीरको त्याग अविद्या को छोड़ अन्य कल्याणतर रूप को धारण करता है। पित्र्य, वा गन्धर्व, वा देव वा प्राजापत्यवा ब्राह्म वा अन्य किनही प्राणीसम्बन्धी रूप को पाता है।

तस्यहैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा

मूर्ध्नोवाऽन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति स विज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥ बृ० उ० ४ । ४ । २

मरने के समय उस के हृदय का अग्रभाग कांपने लगता है उसी कम्प के साथ यह जीवात्मा नेत्र मार्ग से वा मूर्द्धा (शिर) मार्गसे वा शरीर के अन्यान्य देशों से निकल जाता है । निकलते हुए इस जीव के साथ मुख्य प्राण पीछे २ चलता है प्राण के पीछे अन्यान्य इन्द्रियगण चलते हैं यह भावी देह विषयक विज्ञान वाला होता है । विज्ञानवान उस आत्मा के साथ अन्यान्य कर्म अर्थात् विद्या और कर्म ये दोनों साथ २ जाते हैं और पूर्व प्रज्ञा भी साथ साथ ही जाती है ।

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्यनीलस्यपीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यःपिङ्गलएष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥१॥

इस हृदय से सम्बद्ध अनेक नाड़ियें इस शरीर में व्याप्त हैं उन में से कोई नाड़ी पिङ्गल रस से, कोई शुक्ल रस से, कोई नील रस से, कोई पीत रस से पूर्ण है किन्तु इन विशेष रङ्गों का कारण सूर्य ही है क्योंकि सूर्य्य ही पिङ्गल शुक्ल नील पीत और लोहित है ।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति । छा० । ८।६॥

हृदय की एकाधिक एकशत नाड़ियें हैं। उन में से एक नाडी मस्तक के अन्त तक व्याप्त है। इस नाड़ी मार्ग से जीव के उत्क्रमण होने से अमृत प्राप्त होता है और अन्य२ नाड़ी से आत्मा के निकलने पर सदा आवागमन बना रहता है।

कठोपनिषद् में भी यही पूर्वोक्त श्लोक है। प्रश्नोपनिषद् में इस प्रकार वर्णन आता है:-

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।

प्रश्न० ३।६।

हृदय में यह आत्मा है। उस हृदय से सम्बन्ध रखने वाली १०१ नाड़िएं हैं और एक एक में सौ सौ नाड़िएं हैं और इस प्रत्येक की ७२००० नाडीभेद है इन में व्यान विचरण करता है। इसका हिसाब इस प्रकार है (१०१ + १०० + ७२०००) + (१०१ + १०१) = ७२७२१०२०१॥ अर्थात् बहत्तर कोटि बहत्तर लाख दश हजार दो सौ एक।

पुनः प्रश्नोपनिषद् में वहां ही लिखा है कि:-

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पाप मुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

उन प्रधान १०१ नाडियों से मध्यस्थ ऊर्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाम की एक नाडी है। उसमें ऊर्ध्वगामी उदान विचरण करता है। वह पुण्य के द्वारा पुण्य लोक को, और पाप के द्वारा पाप लोक को और पुण्य पाप दोनों के द्वारा मनुष्य लोक को ले जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में पुनः इस प्रकार वर्णन आता है।

अथ यदा सुषुप्तो भवति तदा न कस्यचनवेद। हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदया-

त्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते । ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते । बृ० । २ । १ । १६ ॥

जब यह जीवात्मा सुषुप्त्यवस्था में प्राप्त होता है तब वह कुछ भी नहीं जानता। हिता नाम की ७२००० बहत्तर सहस्र नाडियां हृदय से लेकर सम्पूर्णशरीर में फैली हुई हैं। वे सब नाडियां पुरीतत स्थान तक गई हैं। वहां ही जाकर यह जीव सोता है यहां केवल ७२००० बहत्तर सहस्र नाडियों की चर्चा देखती हैं।

इस प्रकार उपनिषदों में ऋषियों ने नाडो के सम्बन्ध में विलक्षणता दिखलाई है। यद्यपि सुषुम्ना नाडी का वर्णन प्रधान उपनिषदों में नहीं आया है। तथापि इसका महत्व अन्यत्र बहुत गाया गया है।

ऊर्ध्वगति समीक्षा

यह जीव इस शरीर को छोड़ कहां जाता है इस पर थोड़ा विचार प्रमाणद्वारा किया गया है अब इस पर विशेष विचार करने की आवश्यकता है। किस मार्ग से ज्ञानी जाते हैं इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्नता प्रतीत होती है। क्योंकि—

अथैतैरेव रश्मिभि रूर्ध्व आक्रमते।

इन रश्मियों के द्वारा ही वह ऊर्ध्वगामी होता है एक स्थल में रश्मि के सम्बन्ध से ऊर्ध्वगमन कहा जाता है।

२–द्वितीय स्थल में कहा जाता है कि वह अर्चि में प्राप्त होता है उससे दिनमें इत्यादि। यहां पूर्व वर्णित प्रमाणों को स्मरण में रखना चाहिये।

३–तृतीयस्थान में इतना भेद करके वर्णन है कि "वह ज्ञानी देवयान पथ को प्राप्त कर अग्निलोक में जाता है। यथाः—

स एतं देवयानं पन्थान मापद्याग्निलोकमागच्छति।

४—चतुर्थस्थान में कहते हैं कि—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति सवायुमागच्छति ॥

जब यह जीवात्मा इस लोक से प्रस्थान करता है तब वायु-लोक में वह आता है।

५—पञ्चम स्थान में कहते हैं कि

सूर्यद्वारेण ते विरजा, प्रयान्ति ।

निष्पाप पुरुष सूर्यद्वार से जाते हैं।

यहां पर संशय होता है कि ये सृतियां (गतियां) भिन्न २ हैं अथवा अनेकविशेषणों से एक ही सृति का वर्णन है। प्रथम भासित तो यही होता है कि जिन २ ऋषियों को जैसी२ प्रतीत हुई वैसी ही सृति दिखलाई। इससे यह भी मालूम होता है कि परोक्षवस्तु में सब ऋषियों की एक सम्मति नहीं है और हो भी नहीं सकती। यदि एक मार्ग की ही स्थिरता कहें तो "एतैरेवरश्मिभिः" इन ही रश्मियों के द्वारा वह ऊर्ध्वगामी होता है यहां अवधारणार्थक एक शब्द है वह निरर्थक हो जायगा और भी अनेक कारण बतलाए जा सकते हैं जिनसे भिन्न २ मार्ग प्रतीत होते हैं। एक त्वरावचन है। वह यह है—

सयावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति ।

जब तक मन क्षिप्त करता है तब तक आदित्य लोक में जाताहै। इत्यादि—

इस का उत्तर यह है कि वास्तव में एक ही सृति (गति मार्ग) का वर्णन है वह अर्चिरादि मार्ग है जिसका वर्णन पूर्व में कर आई हूं क्योंकि पञ्चाग्निविद्याप्रकरण में कहा गया है "ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते" जो ये अरण्य में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं यहां अन्यान्य विद्या के अनुशीलन करने वाले भी अर्चिरादि

मार्ग से जाते हैं। इस लिये वास्तव में एक ही मार्ग है और जो भिन्न २ वर्णन प्रतीत होता है वह वास्तव में एक ही है क्योंकि गन्तव्य परमात्मा एक ही है इस लिये इस पृथिवी लोकरूप एक स्थान से गमन का मार्ग भी एक ही होना चाहिये। लोक में भी देखते हैं कि दूरस्थायी किसी तीर्थ में जाना होता है तो जो सब से उत्तम मार्ग रहता है उसी मार्ग से एकस्थान वासी चल पड़ते हैं और वहा सुखसे पहुंच भी जाते हैं। गन्तव्य परमात्मा में भेद नहीं यह सब शास्त्र कहते हैं जहां भेद प्रतीत होता है वहां अर्थ समन्वय करना चाहिये। श्रुति कहती है।

ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतोवसन्ति।

बृ० उ० ६-२-२५

तस्मिन् वसन्ति शाश्वती समा। वृ०५।१०।१।

साया ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयतितां व्युष्टिं व्यश्नुते। कौषी० १।४

तद्यएवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणानुविन्दति।

छा० ८।४।३

वे उन लोकों में दीर्घायुष हिरण्यगर्भ की तुल्य काल तक बसते हैं। उस में वे बहुत वर्ष बसते हैं। कार्य्य ब्रह्मका जो वहां जय और व्याप्ति है उसको वे पाते हैं इस ब्रह्म लोक को ब्रह्म चर्य्यसे पाते हैं।

इस प्रकार अनेकस्थानों में एक ही ब्रह्मलोक प्राप्तिरूप फल दिखलाया गया है इस हेतु एक गन्तव्य प्रदेश का एक स्थान से एक ही उत्तममार्ग होना चाहिये और जहां एव शब्दद्वारा जोर देकर कहा गयाहै कि रश्मिद्वारा ही वह गमन करता है वहां रात्रिमें मृत विद्वान् को अर्चिरादि मार्ग मिलता है या नहीं इस सन्देह की निवृत्ति के लिये रश्मि शब्द आया है वह अर्चिरादि का वाचक है। रश्मि नाम किरण का है अर्चि नाम ज्वाला का है ज्वाला और दिन

इत्यादि में किरण होते हैं। जहां त्वरावचन है वहां भी शीघ्रता दिखलाकर अर्चिरादि मार्ग ही का वर्णन है शीघ्र ही आदित्यलोक में प्राप्त हो जाता है यह दिखलाया है। और " अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन " जो इन दोनों मार्गों में से भ्रष्ट होते हैं वे महाकष्टपद तृतीय मार्ग में प्राप्त होते हैं इस वर्णन से पितृयाणव्यतिरिक्त अर्चिरादि देवयान मार्ग बतलाते हैं। अब प्राप्तव्य ब्रह्मलोक की एक उत्तम मार्ग से प्राप्ति की सम्भावना हो तो बहुमार्ग का उपदेश व्यर्थ होगा इस लिये जिस का वर्णन बहुत स्थानों में हो उसी के अनुसार अल्पस्थान में वर्णित मार्ग का समन्वय करना समुचित है इत्यादि वर्णन " अर्चिरादिना तत्प्रथितेः " वेदान्त० ४।३।१ इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य्य ने वर्णन किया है।

प्रियम्वदा-मातः! इस वर्णन से मेरी शङ्का निवृत्त तो न हुई किन्तु कुछ बढ़ही गई। क्योंकि उन मार्गों का अभिप्राय मुझे प्रतीत नहीं होता। कहा गया है कि अर्ची, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर, आदित्य और चन्द्रमा इत्यादिकों में क्रमशः वह ज्ञानी प्राप्तहोता है तब विद्युत् में जाता है तब वहां अमानव पुरुष उसको ब्रह्म के निकट ले जाता है। यह बात क्या है अर्ची नाम ज्वाला का है तो क्या मर कर जो वह जलाया जाता है उस अर्ची से अभिप्राय है। यदि ज्ञानी न जलाया जाय तो क्या वह अर्ची को न प्राप्त करेगा इस सन्देह को प्रथम दूर कीजिये।

रूपकुमारी-यहां अर्ची से केवल ज्वाला का अभिप्राय नहीं किन्तु यह सब एक २ लोक हैं अथवा श्रुति का वास्तव में यह भी आशय नही है श्रुति तीन मार्ग बतलाती है। १-देवयान २-पितृयाण ३-जायस्व म्रियस्व। इस का संक्षेप वर्णन ध्यान से सुन।

देवयान-इस मार्ग में तू देखती है कि अर्ची, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर, आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत् इतने शब्दों का पाठ है इन सब में प्रकाश ही प्रकाश है अन्धकार कहीं नहीं। इस से दिखलाते हैं कि ज्ञानी जन मृत्यु के पश्चात् प्रकाश को ही

प्राप्त करते जाते हैं अर्थात् उत्तरोत्तर परमप्रकाशस्वरूप ज्ञान को पाते जाते हैं उन के रास्ते में अन्धकार कहीं नहीं। यह ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है यह भी आशय इस से दिखलाया गया है जैसे एक अग्नि की ज्वाला छोटी होती है और उस से दिन बहुत बृहत्तर होता है। एक दिन की अपेक्षा शुक्लपक्ष बड़ा होता है क्योंकि इस में पन्द्रह दिन होते हैं। शुक्लपक्ष की अपेक्षा उत्तरायण बड़ा होता है क्योंकि इस में छमास होते हैं। उत्तरायण की अपेक्षा सम्वत्सर बड़ा होता है क्योंकि इस में बारह मास होते हैं। सम्वत्सर की अपेक्षा सूर्य्य महत्तर है क्योंकि उस से ही संवत्सर बनता है। सूर्य्य की अपेक्षा चन्द्रमा गुण में बड़ा है क्योंकि यह चन्द्र दिन और रात्रि दोनों समयों में दृश्य होता है और इसके अमृत को देवगण पीते हैं अमृत का स्थान केवल चन्द्रलोक है यह प्रसिद्ध है और यह अत्यन्त आह्लादजनक है। मासों का नाम भी चन्द्रमा के कारण से ही रक्खा गया है क्योंकि अश्विनी, भरणी, कृत्तिका इत्यादि नाम भी चन्द्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। तदनुसार ही आश्विन, कार्त्तिक, मार्ग, पौष इत्यादि नाम हैं। तिथि भी चन्द्रमा के दृश्यादृश्य रूपानुसार रक्खी गई है शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष भी चन्द्र के कारण ही माने गये हैं। अमावास्या और पूर्णिमा भी चन्द्र के कारण ही मानी गई हैं। इन ही मासों, पक्षों और तिथियों में सर्व वैदिक कर्म उक्त हैं। अमावास्या में पितृयज्ञ और पूर्णिमा में देवयज्ञ विहित है सम्वत्सर के दिनों की गणना भी चन्द्र के अनुसार ही की गई है क्योंकि वैदिक वर्ष ३६० दिनों का होता है। वह चन्द्रमान से ही हो सकता है और वर्ष की त्रुटि को पूर्ण करने के लिये इसी कारण तीन वर्ष के अभ्यन्तर एक अधिक मास माना जाता है। मैं कहां तक चन्द्र के गुणों की श्रेष्ठता दिखलाऊं जब समस्त वैदिक क्रियाएं चान्द्र तिथियों, पक्षों, मासों और वर्ष में की जाती हैं तो इस से बढ़कर इसकी प्रशंसा क्या हो सकती है। यद्यपि पिण्ड में और अन्यान्य गुण में सूर्य्य श्रेष्ठ है तथापि क्रियादि दृष्टि से चन्द्र की श्रेष्ठता है।

चन्द्र की अपेक्षा विद्युत् श्रेष्ठ है क्योंकि विद्युत की गति के समान सूर्य्य चन्द्रादि की गति नहीं और विद्युत् सर्ववस्तु में व्याप्त है और वास्तव में सब वस्तुओं की विद्युत् ही प्रधान शक्ति है परमाणु में भी पूर्णतया विद्युत् शक्ति देखी गई है अतः सब से विद्युत् की श्रेष्ठता है। जैसे अर्चिरादि भौतिक पदार्थों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता और व्यापकता प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है वैसे ही ब्रह्मवित् पुरुषों की उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि होती जाती है। यदि कोई यहां शङ्का करे कि ज्ञान प्राप्त होने से ही तो अर्चिरादि मार्ग से गमन कर ब्रह्मलोक में ज्ञानी जाता है तब उस की पुनः ज्ञानवृद्धि क्या ? इस का उत्तर यह है कि यहां कार्य्यब्रह्म हिरण्यगर्भ का ग्रहण है शुद्ध ब्रह्म का नहीं इस को वेदान्त में दिखलाया है जिस का आगे वर्णन किया जायगा क्योंकि ज्ञानी पुरुष यहां ही लीन होता है ऐसी श्रुति कहती है क्योंकि जब ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी है तो उसका एक नियत लोक नहीं हो सकता है। इस लिये ब्रह्मज्ञानी का उत्क्रमण नहीं होता किन्तु सत्य श्रद्धा की उपासना करने वाले कार्य्य ब्रह्मलोक को जाते हैं उनकी उत्तरोत्तर ज्ञानवृद्धि होती जाती है इस में सन्देह क्या। अथवा कार्य्य ब्रह्म न मान कर शुद्ध ब्रह्म ही माना जाय तोभी कोई क्षति नहीं। क्योंकि प्रारब्ध कर्मानुसार जीवन्मुक्त पुरुष को भी जब तक इस शरीर से व्यवहार करना पड़ता है तब तक कर्मानुसार क्षुधा पिपासादि सुखदुःख रहता ही है तज्जन्य ज्ञान की भी तारतम्यता प्रत्यक्ष ही है प्रारब्ध कर्म भी सकल जीवन्मुक्तों के समान नहीं। इस हेतु प्रत्येक जीवन्मुक्त समान कर्म करते ही नहीं देखे जाते। अतः उनका भी शरीरत्याग के पश्चात् उत्तरोत्तर अतिशीघ्र ज्ञानोदय होता जाता है। और अन्त में शीघ्र ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। अब पितृयाण की ओर ध्यान दें।

पितृयाण—इसका क्रम इस प्रकार है—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक, आकाश और चन्द्रलोक चन्द्रलोक में वह अन्न होता है देवता उस को खाजाते हैं अर्थात् सेवक के समान उस को अपने

काम में लाते हैं। इत्यादि। इस मार्ग में अन्धकार ही अन्धकार है। अभिप्राय यह है कि पितृयाण मार्ग से वही जाते हैं जो ज्ञान से कर्म नहीं करते वा जो ज्ञानकी ओर न जाकर केवल आडम्बरयुक्त कर्ममें आसक्त रहते हैं। क्योंकि १-इष्ट-विविध यज्ञ। आपूर्त=कूप, वापी तड़ाग, बान्ध और वृक्षादिरोपण। दान शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है। इन तीनों कर्मों में ज्ञानकी उतनी आवश्यकता नहीं प्रत्युत अतिमूर्ख धनी भी इन को कर सकता है किन्तु वेद में तथा लोक में भी ज्ञान की ही श्रेष्ठता देखते हैं अतः कर्मी पुरुष यद्यपि सुकृत लोक में पहुंचते हैं तथापि वे मुक्तिभागी नहीं होते।

प्रकाशाप्रकाश

वेद का तात्पर्य्य केवल प्रकाश और अप्रकाश,ज्योति और अन्धकार, शाश्वतिकसुख और क्षणिकसुख इत्यादि दिखलाना है। वास्तव में पार्थिव मार्ग के समान मार्ग का वर्णन करना नहीं है।

इति संक्षेपतः।

आतिवाहिक

छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि जब ज्ञानी विद्युत् लोक में प्राप्त होता है तब उस को एक अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में पहुंचाता है। इसीको बृहदारण्यकोपनिषद् में मानस पुरुष कहा है। पहुंचाने वाले का नाम आतिवाहक है। यद्यपि.-

आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात्।

इस वेदान्तसूत्र की टीका और भाष्य करने वाले इस को शरीर धारी एक पुरुष विशेष मानते हैं तथापि मेरी यह सम्मति नहीं। यद्युत आचार्य्य कहते हैं कि मृत्युके पश्चात् इस जीव के सर्व इन्द्रिय संकुचित होजाते हैं अतः उसको मार्गमें पहुंचाने वाला कोई चेतन होना चाहिये। इस हेतु वे अर्चिरादिकों में भी अधिष्ठातृ देवता की कल्पना करते हैं अर्थात् मृत्यु के पश्चात् उस जीव को एक अधिष्ठातृदेव अर्ची में लेजाता है अर्ची का अधिष्ठातृदेव उस को दिन में

छेजाता है, इसी प्रकार दिन का अधिष्ठातृदेव आगे उस को पहुंचा देता है। विद्युत् लोक में अमानव वा मानसिक पुरुष रहता है वह उस को ब्रह्मलोक में पहुंचाता है। इत्यादि।

किन्तु इस का भी यह आशय नहीं है। क्योंकि यदि श्रुति का यह आशय हो तब ब्रह्मलोक में पहुंचने पर भी वह सङ्कुचितावयव ही रहता है। तब इस को संभालने वाला कोई वहां दूसरा होना चाहिये अथवा किसी प्रकार का अन्य शरीर उस को धर लेना चाहिये परन्तु ऐसा वर्णन है नहीं अतः उस का भी कोई अन्य आशय है। वह यह है जब ज्ञानी पुरुष को विद्युत्समान सर्वव्यापक बोध उत्पन्न होजाता है अर्थात् जब वह सर्वमय होजाता है तब उस की मानसिक शक्ति झट उपास्यदेव से उसमें अभेदज्ञान उत्पन्न कर देती है। यही ब्रह्म के साथ मेल है। अथवा सर्वपार्थिव गुण नष्ट हो जाते हैं केवल चैतन्यमात्र रहजाता है अतः इस को अमानव पुरुष कहा है। मानव शरीर में सब पार्थिव गुण होते हैं।

कार्य्यब्रह्म—जो विद्वान् अर्चिरादिमार्ग से जाते हैं वे कार्य्यरूप अपरब्रह्म को प्राप्त होते हैं ऐसी शङ्का यहां होती है इस के उत्तर में बादरि आचार्य्य कहते हैं कि कार्य्यरूप अपरब्रह्म को वे प्राप्त होते हैं क्योंकि कार्य्यब्रह्म ही एकदेश में रहते और गति की भी सम्भावना वहां ही हो सकती है पुनः बादरि कहते हैं—

"तेतेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति"

वे उन ब्रह्म लोकों में दीर्घ आयु वाले हिरण्यगर्भ के दीर्घ सम्वत्सर पर्य्यन्त बसते हैं। इस श्रुति में बहुवचन, लोक शब्द आधार में सम्पन्न हैं अवस्था भेद से कार्य्य ब्रह्म के सम्बन्ध में ही बहुवचन की सम्भावना हो सकती है।

शङ्का—यदि कहा जाय कि यहां अनावृत्ति को श्रुति बतलाती है वह अनावृत्ति परब्रह्म की प्राप्ति से ही हो सकती है कार्य्य ब्रह्म की प्राप्ति से नहीं। इस शङ्का का समाधान वक्ष्यमाण सूत्र द्वारा किया गया है।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातःपरमभिधानात्।

वेदान्त ४।३।१०

जब कार्य्यब्रह्म लोक का प्रलय होजाता है तब कार्य्य ब्रह्म लोक में सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उस के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ परम पवित्र ब्रह्म का परमपद प्राप्त करते हैं। इस प्रकार क्रम मुक्ति में अनावृत्ति का तात्पर्य्य है। स्मृति भी उसी अर्थ को दिखलाती है। यथा-

ब्रह्मणा सहते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परम्पदम्॥

महाप्रलय सम्प्राप्त होने पर तब हिरण्यगर्भ के अन्त होजाने पर उस लोक के निवासी सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उस के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ ही परम पद को प्राप्त होते हैं।

अप्रतीकोपासना

सूर्य्य, चन्द्र, नाम, वाणी इत्यादि २ में जो ब्रह्म की उपासना उस को प्रतीकोपासना कहते हैं। और ब्रह्म की साक्षात् उपासना का नाम अप्रतीकोपासना है। यहां शङ्का होती है कि प्रतीकोपासना करने वाले ब्रह्म को प्राप्त नहीं होते। क्योंकि जो ब्रह्म की उपासना करते हैं वे ही ब्राह्मऐश्वर्य्य को पाते हैं क्योंकि-

"तंयथायंथोपासते तदेव भवति"

जैसी उपासना करता है वैसा ही वह होता है। अतः सर्व उपासना छोड़ केवल ब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये।

दक्षिणायन और उत्तरायण

बहुत स्थल में यह कहा गया है कि जो दक्षिणायन में मरते हैं वे ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि यह बात अतिप्रसिद्ध है कि भीष्मपितामह काल की प्रतीक्षा करते हुए उत्तरायण प्राप्त होने पर

अपनी इच्छा से प्राण त्याग ब्रह्म लोक को गए इत्यादि। ये सब विषय स्मार्त्त हैं श्रौत नहीं। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी के लिये किसी कालको नियम। नहीं ज्ञान की प्राप्ति होने पर वह दिन में मरे वा रात्रि में, काशी में मरे या मगध में कहीं भी उस की मृत्यु हो वह ब्रह्मरूप ही होता है।

नाड़ी विचार

बहुत स्थल में यह कहा गया है कि जिस का प्राण सुषुम्ना नाड़ी से वा मूर्धा स्थान से निकलता है वही ब्रह्म को प्राप्त होता है। ऐ पुत्रियो! ये सब केवल रोचक बातें हैं अथवा यों समझो कि ब्रह्मज्ञानी का प्राण सुषुम्ना नाड़ी से ही निकलता है। यदि कहा जाय कि जब तक मूर्धा न फूट जाय तब तक यह कैसे सिद्ध होगा कि सुषुम्ना नाड़ीद्वारा योगी का प्राण गया। शिर का फूटना यह कल्पित बात है किसी प्रसिद्ध उपनिषद् में इसकी चर्चा नहीं आई है किन्तु मूर्धा से प्राणनिकलने का वर्णन श्रुतियों में है। वह मूर्धा बिना फटने से भी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि प्राण अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है यह तो विचारो कि अत्यन्त सूक्ष्म ऐसे प्राणी इस पृथिवी पर विद्यमान हैं जिनको इस नयन से कदापि नहीं देख सकते। किन्तु अतिसूक्ष्मवस्तुप्रदर्शक यन्त्रद्वारा ही वे देखे जाते हैं। परन्तु उसमें भी जीवात्मा और प्राण विद्यमान हैं। इस शिर में तो जितने केश हैं उतने छिद्र हैं और खोपड़ी में भी शतशः छिद्र हैं तब उस से प्राण को निकलने में बाधा ही क्या होगा। ऐ पुत्रियो! ये सब वैदिक रहस्य हैं निस्सन्देह यदि हम लोग मुक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकेंगी तो निःसन्देह, नाना योनियों में अवश्य भ्रमण करना होगा। जब विवेकप्रद मानवदेह में स्थित जीव को इतने दुःख भोगने पड़ते हैं तब अविवेकी पशुप्रभृतियों के शरीरों में इसको कितनी अगण्य असह्य वेदनाएं भोगनी होती होंगी इसका अनुमान सहज में तू कर सकती है। इति॥

काश्यादि मरण

ऐ पुत्रियो ! तथा श्रोताओं ! प्रत्येक बोध विवादका क्षेत्र इस लिये बन गया है कि मनुष्य में बोध की समता नहीं है । और समाज, कुलाचार देशाचार और परम्पराप्राप्त आचारव्यवहार इत्यादि अनेक कारणवश बोध में तारतम्य होता गया है । इसके अतिरिक्त जिस वस्तु का अधिक प्रचार हो गया है उसी दिशा में मनुष्य चल पड़ते हैं । भेड़चाल की प्रधानता होगई है । और भी–इस परमार्थ वस्तु को लोग ध्यान देकर विचारते भी नहीं अतः बुद्धि की स्थिरता नहीं होती।विचारना चाहिये कि काशी, प्रयाग, गङ्गा,सागर, हिमालय और कुरुक्षेत्रआदि स्थानों में केवल मरणमात्र से मुक्ति हो तो समस्त वैदिक लौकिक क्रियाकलाप व्यर्थ हो जांय क्योंकि अन्त में सब कोई काशी चले जांय और वहां मरकर मुक्ति ले लें । पुनः बहुप्रयास साध्य जप तप और अग्निहोत्रादि कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या । और भी-धनिक पुरुषों की मुक्ति बहुत सहज हो जायगी क्योंकि धन बलसे अतिदूरस्थ अत्यन्तपापी, कुकर्मी लम्पट आदि पुरुष सुगमता से काशी पहुंचसकता है और बिना परिश्रम से मोक्षभागी हो सकता है । इस अवस्था में ज्ञान विवेक, सत्य, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य्य, वैराग्य, शमदम इत्यादि २ सद्गुणों का उपदेश व्यर्थ हो जायेंगे । केवल व्यर्थ ही नहीं किन्तु पातक, हत्या, असत्यता और लम्पटता आदि दुराचारों की वृद्धि होकर महोत्पात का ही विस्तार हो जायगा क्योंकि सब समझ लेंगे कि कितने ही दुराचार मैं करूं कितने ही पाप मैं क्यों न करूं अन्त में काशी प्रयाग जाकर सब महापातकों को धोकर साफ सुथरा बन जाऊंगा। अब आप सब इसको समझ सकती हैं कि काशी में केवल मरण से ही मुक्तिमानी जाय तो कितने अनर्थ प्राप्त होंगें ।

और भी–काशीनगर दिनर बढ़ता जाता है । कई एक लाख जन संख्या इस समय है । कुकर्मी, सुकर्मी, साधु, असाधु, सदाचारी और अत्यन्त दुराचारी इत्यादि २ सब प्रकार के मनुष्य इसमें

हैं । यहां मृत्यु से ही यदि अपवर्गलाभ हो तो, कहो, ईश्वर के राज्य में कितना अन्याय होगा । किन्तु आश्चर्य्य की बात यह है कि कितने ही सद्धेतु, कितनीही युक्तियां बतलाई जांय किन्तु लोग नही मानेंगे, न सुनेंगे प्रत्युत उस उपदेशक को मारने के लिये लाठी लेकर दौड़ेंगे ।

एवमस्तु-यदि यह पूछा जाय कि इन स्थानों का इतना माहात्म्य क्यों होगया । इस प्रश्न का उत्तर विद्वानोंके लिये इतना कठिन नहीं है । यह तो प्राकृत नियम है कि किसीका उदय और किसी का प्रलय होता ही रहता है । तथापि कारणविशेष से भी किसी वस्तु की प्रतिष्ठा और माहात्म्य होजाता है । १-काशी-इस नगर का माहात्म्य इस लिये बढ़गया कि यह अत्यन्त प्राचीन नगर है क्योंकि इस का वर्णन श्रुति में पाया जाता है । बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है कि यहां ब्रह्मवेत्ता राजा अजातशत्रु रहते थे जिनके निकट अनूचान (विद्वान्) दृप्तबालाकि जाकर अपनी विद्या की पूर्ण न्यूनता समझ लज्जित हो राजा के शिष्य बन बहुत दिनों तक ब्रह्मज्ञान की शिक्षा लेते रहे । इस से यह भी विदित होता है कि यह काशी पूर्व समयमें अभ्युदयशालिनी महती राजधानी थी और उस राजवंश में अच्छे अच्छे ज्ञानी नृपति हुआ करते थे । बुद्धमहाराज के समय में भी यह काशी सर्वगुण सम्पन्न थी । आज भी यहां सर्वत्र से अच्छे विद्वान् रहते हैं । एक प्रकार इस समय भी विद्यापीठ इस दीन हीन भारतवर्ष में काशी है । अतः इस की कीर्त्ति बढ़ती गई यहां तक कि "काशीमरणान्मुक्तिः" लोग कहने लग गए । इस समय इस देश में अविद्यादेवी का ही प्रधान राज्य है अतः कोई भी किसी की बात नही सुनता जो प्रथा चल गई वह चल गई । ऐ पुत्रियो ! तुम निश्चय जानो कि मुक्ति का एक ही साधन ज्ञान है अन्य नहीं क्योंकि श्रुति कहती है-

तमेवविदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

इसी प्रकार २-कुरुवंशियों की राजधानी कुरुक्षेत्र था। ३-सूर्यवंशी नृपतियों की विशाल राजधानी अयोध्या थी। जनक महाराज की नगरी जनकपुर थी यह अतिप्रसिद्ध है। ४-मथुरा में यदुवंशी भूपतिगण रहते थे यह प्रख्यात ही है। इन कारणों से उन स्थानों का माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

प्रयागादिस्थान

प्राकृत दृश्य मनुष्य की अज्ञानता ये दो कारण भी किसी २ स्थान के माहात्म्य के प्रवर्धक हैं। प्रयाग में गङ्गा और यमुना दोनों बृहती नदियां आकर मिली हैं दोनों की धाराएं दो प्रकारको मालूम होती हैं। एक श्वेतधारा दूसरी श्याम धारा। साधारण मन्द जन इस सङ्गम में कुछ विलक्षण दैवीशक्ति समझ इस का माहात्म्य बढ़ाने लगे किन्तु वे मनुष्य अपने आत्मा के माहात्म्य से वञ्चित रहे। यदि अपनी चेतनता और श्रेष्ठता और नदी की जड़ता और परतन्त्रता समझते तो स्वापेक्षा से इस जड़ वस्तु की इतनी कीर्त्ति न गाते। अतः श्रुति कहती है कि-

" आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः "

हरद्वार-गङ्गा कहां से निकलती है। इस का प्रवाह इतना विशाल और चौड़ा कैसे बन गया और यहां इतनी शीतलता कैसे रहती है इत्यादि का पूरा पता लगाने से मन्द बुद्धि जन हरद्वारस्थ गङ्गाप्रवाह पर अति मोहित होने लगे। अतः क्रमशः उन मन्द जनों ने उस की श्रेष्ठता धर्मभाव से बहुत बढ़ा दी। इसी प्रकार अन्यान्य कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, गङ्गासागर आदिकों का भी माहात्म्य उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

ऐ पुत्रियो! वास्तव में मनुष्य अपने बोद्धा आत्मा से सुपरिचित नहीं है। इस पृथिवी पर मनुष्य जाति सब से श्रेष्ठ बनाई गई है यह बोध लोगों में नहीं है अतः अपने अज्ञानवश यह जाति नाना क्लेशों को भोग रही है। गङ्गा, यमुना, समुद्र हिमालय वट, पीपल,

सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि बोध रहित पदार्थ हैं और मैं बोधगुण सम्पन्न जीवात्मा हूं इसको लोग नहीं समझते। हम मनुष्य गङ्गा आदि नदियों को स्वेच्छानुसार अपने काम में ला सकते हैं किन्तु गङ्गा आदि पदार्थ कदापि भी हमको अपने काम में नहीं ला सकते इस भेद को मन्दजन नहीं समझ सकते।

हिमालय-हिमालय पर्वत को भी लोग अच्छी तरह से नहीं समझ सके अतः अनेक अज्ञान की इस सम्बन्ध में उत्पत्ति हुई। यह पर्वत सदा हिमों से आवृत रहता है। अनेक महती नदियां इस से निकलती हैं। इसका उल्लंघन करना अतिशय कठिन है क्योंकि मनुष्य हिम में गल जाता है। इसके उत्तर भाग में कोई मनुष्य-जाति रहती है अथवा नहीं। इसका पूरापता सबको यहां नहीं था। इसकी लम्बाई और चौड़ाई का भी बोध मन्दजनों को नहीं था। इत्यादि कारण से यहां के अज्ञानी जन समझने लगे कि इस पर देवतागण निवास करते हैं। यहां गन्धर्व किन्नर अप्सरा इत्यादि अत्यन्त भोगशाली देवगण रहतेहैं अतः इस गिरिवर में जाकर मरने से अवश्य पापक्षय और पुण्योदय होगा। इतना ही नहीं किन्तु यहां के नाना भोग भोगते हुए इसी मार्ग से स्वर्ग भी जा पहुंचेंगे। इन बातों का कारण केवल अज्ञान है। किन्तु हे पुत्रियो! इन अज्ञाना-न्धकारोंका नाश कैसे हो। कितनी ही युक्तियां बतलाजाओ। मन्द-मति कदापि न मानेंगे। जिनके जन्मजन्मान्तर के पुण्यों के प्रबल सुसंस्कार हैं वे ही इन अविद्याओं को छोड़ इस परम पवित्र वैदिक सत्य ज्ञानमार्ग में आते हैं। वे अपने आत्मा को पवित्र कर अपने कुलपरिवार को भी शुद्ध करते हैं अतः इसी ज्ञानसरोवर में स्नान करो और इसीके तटपर मरकर मुक्तिभागिनी होओ। इति।

यमपुरी

वेदादिक शास्त्रों में यम का वर्णन बाहुल्येन आया है। यथाः—

१—यमस्य माता पर्युह्यमाना।
महो जाया विवस्वतो ननाश। ऋग्वेद।

(पर्युह्यमाना) सूर्य्य से नोय माना (यमस्य माता) यमकी माता और (सहः) महातेजस्वो (विवस्वतः) सूर्य्य को (जाया) भार्या (ननाश) कहीं नष्ट हो गई ।

यहां यम के मातापिता दोनोंका वर्णन आया है २—अगले मन्त्रों में यमके साथ पितरों का वास कहा है ।

यमो नोगातुं प्रथमो विवेद ।
नैषा गव्यूति रपभर्तवा उ ॥
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
एना जज्ञाना पथ्या अनुस्वाः ॥ ऋग्

(प्रथमः+यमः) प्रथम यम (नः) हम लोगों के (गातुम्) शुभाशुभनिमित्तक मार्ग और कर्मों को (विवेद) जानता है (एषा) इस (गव्यूतिः) मार्ग को कोई भी (न) नहीं (अपभर्तवै उ) उठा नहीं सकता । (यत्र) जिस यम के निकट (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व (पितरः) पितृगण (परेयुः) पहुंचे हुए हैं । (एना) इस मार्ग से जाते हुए (जज्ञानाः) प्राणी (स्वाः) निजनिज । (पथ्याः) पथ सम्बन्धी नाना दुःख सुखों को (अनु) क्रमशः भोगते जाते हैं ।

३—सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन । ऋग्

हे पितः तू (पितृभिः) पितरों के साथ (सं गच्छस्व)आ मिल । तथा (यमेन) यम के (सम्) साथ भी आमिल ।

४—यौते श्वानौ यम रक्षितारे ।
पथिरक्षी नृचक्षसौ ।
ताभ्या मेनं परिदेहि राजन् ।
स्वस्ति चास्मा अनमीवं च धेहि । ऋग्०

हे राजन् ! हे यम ! (ते) तेरे (यौ+श्वानौ) जो दो कुत्ते हैं ।

(ताभ्याम्) उनके समीप (एनम्) इस मृत पुरुष को रक्षार्थ (परि-देहि) रखदे । वे कुत्ते कैसे हैं ? (रक्षितारौ) रक्षा करने वाले पुनः (पथिरक्षी) मार्ग के रक्षक पुनः (नृचक्षसौ) मनुष्यों से प्रशंसनीय । और इस प्रेत पुरुष को (स्वस्ति) कल्याण दो और (अस्मै) इस को (अनमीवम्) नैरोग्य भी (धेहि) दो ।

यहां यम के दो श्वानों का भी वर्णन आता है । ५-पुनः वेदान्त सूत्र में भी इसकी चर्चा आती है:-

संयमने त्वनुभूयेतरेषा मारोहावरोहौ ।
तद्गतिदर्शनात् वेदान्तसू० ३ । १ । १३ ।

(संयमने) यमालय में जाकर (अनुभूय) सुकृत और दुष्कृत के अनुसार यमयातनाओं को भोगकरः (इतरेषाम्) इष्टादि यज्ञों को न करने वाले पुरुषों के (आरोहावरोहौ) ऊपर चढ़ना और उतरना होते हैं क्योंकि (तद्गतिदर्शनात्) श्रुतियों में यमलोक गमन पाया जाता है । कठोपनिषद् में इसका विस्तार से सम्पादन है । यथाः—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं ।
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ॥
अयं लोकोनास्ति पर इति मानी ।
पुनः पुनर्वश मापद्यते मे ॥

(वित्तमोहने) धन के मोह से (प्रमाद्यन्तम्) प्रमाद करते हुए (मूढम् बालम्) मूढ जन को और अत्यन्त अज्ञ को (साम्परायः) स्वर्ग फल (न प्रतिभाति) भासित नहीं होता । (अयम् लोकः) वे मूढ इसी लोक को मानते किन्तु (नास्ति+परः+इति+मानी) परलोक नहीं है ऐसे मानने वाले (पुनः पुनः) वारंवार (मे+वशम्) मेरे वश में (आपद्यते) आते रहते हैं । नाचिकेतोपाख्यानादिक अति प्रसिद्ध हैं ।

६–अपिच सप्त। वेदान्त सू०

इस वेदान्त सूत्र में सात नरकों की सिद्धि बतलाई गई है। श्री शङ्कराचार्य्य का भाष्य देखो।

समालोचना

हे पुत्रियो! वास्तव में यमलोक कौन वस्तु है क्या, जिस प्रकार यह पृथिवी लोक है। तद्वत् कोई लोक है अथवा इस वेदवचन का कुछ अन्य ही आशय है। यदि कहो कि इसमें शङ्का करनी ही व्यर्थ है क्योंकि जब ऋग्वेदादिशास्त्र तथा उपनिषदादिकों में भी यमपुरुष माना गया है और वेद साक्षात् प्रमाण हैं। तब उस में किञ्चित् भी सन्देह करना नास्तिकता है। वेद के निन्दक को ही नास्तिक कहते हैं निःसन्देह, वेद स्वतः प्रमाण हैं तथापि वैदिकार्थ विचार में कोई दोष नहीं। वेद स्वतः अपना अर्थ प्रकाश नहीं करते। विविधविद्वान् सब मन्त्रों का समान ही अर्थ नहीं करते और एक २ मन्त्र के अनेक अर्थ होते हैं इस विषय को यास्काचार्य्य और सायणाचार्य्य आदि भी बतलाते हैं। यदि इस पर कहाजाय कि वेद का एक अर्थ नियत न होने से तब वेद भी प्रमाण न होंगे। अपनी २ इच्छा के अनुसार मन्त्रों का अर्थ कर लिया करेंगे। तब वेद की प्रमाणता क्या रही। इस का उत्तर सहज है आचार्य्यों को जिह्वा कोई रोक नहीं सकता इसमें गति ही कौन है। तथापि जो प्रत्यक्ष अर्थ प्रकरण के अनुसार भासित होगा वही माना जायगा अन्यथा नहीं। लौकिक और वैदिक शब्द प्रायः समान ही हैं जैसे लोक में पृथिवी, जल, वायु, सिंह, व्याघ्र, शुक, सारस, मत्स्य घास, दूर्वा आदि शब्द हैं। वेद में भी वेही शब्द प्रयुक्त हुए हैं। क्रिया आदि की भी समानता है अतः बहुत स्थलों में अर्थ भेद कदापि नहीं होगा। जहां किसी रूपक द्वारा किसी विशेष अर्थ का प्रतिपादन हुआ है वहां अर्थ में भेद हो सकता है। जैसे सांख्यवाद निराकरण प्रकरण में अनेक श्रुतियों का अर्थ भेद दिखलाया गया है जैसे–

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमाना सरूपाः॥
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते।
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।

रज, सत्व, तम इन तीन गुणों से युक्त और अपने सदृश बहुत प्रजा को उत्पन्न करती हुई एक अजा है उस को एक अज सेवता हुआ सुखी दुःखी हो संसार में प्राप्त होता है और दूसरा अज उस को छोड़ देता है।

यहां रूपक द्वारा वर्णन किया गया है सांख्यवादी इस का आशय जैसा समझते हैं वेदान्ती वैसा नहीं समझते। तत्समान बहुत से मन्त्र दिखलाये जा सकते हैं।

यमशब्दार्थ

इस हेतु वेद में यम शब्द को लेकर रूपक में वर्णन पाया जाता है रूपक के इस में बहुत से चिह्न पाए जाते हैं। १–क्योंकि यम नाम मृत्यु का है इसी को अन्तक और काल कहते हैं। मृत्यु नाम मरण का, अन्त करने वाले का नाम अन्तक और समय का नाम काल है। २–यह यम सूर्य्य का पुत्र माना गया है इस हेतु इस को वैवस्वत कहते हैं। विवस्वान् जो सूर्य्य उस का जो पुत्र वह वैवस्वत। (विवस्वतोऽपत्यं वैवस्वतः) सूर्य एक अचेतन वस्तु है यह सर्व प्रमाणों से सिद्ध है। तब उस के पुत्र का तात्पर्य्य क्या। ३–पुनः यम के दो कुत्तों का वर्णन आता है उन का क्या तात्पर्य्य। इत्यादि अनेक समीक्षाओं से भासित होता है कि किसी रूपक द्वारा किसी विशेष वस्तु का वर्णन है। वह यह है–यम नाम सम्पूर्ण काल का है अर्थात् एक पल से लेकर वर्ष रूप जो अखण्डात्मक काल है उस का नाम यम है और वह सूर्य्य का पुत्र इस लिये है कि सूर्य्य के उदय अस्त के कारण यह वर्षात्मक समय होता है। जिस हेतु

प्राणियों की आयु का हिसाब पल से लेकर वर्षों से होता है और तदनुसार ही मरने पर कहा जाता है कि यह पुरुष सौ वर्ष की आयु भोग कर मरा है। यह बालक दश वर्ष की अवस्था में मृत्यु के मुख में आ गिरा। इन ही हेतुओं से यम को काल और अन्तक कहते हैं। क्योंकि इसी काल के अभ्यन्तर प्राणी उत्पन्न होता और मरता है। (अन्त करोतीत्यन्तकः) अब यम के दो कुत्तों का भी आशय समझना कठिन नहीं। यह दिन एक श्वान (कुत्ता) है और दूसरा रात्रिरूप श्वान है। अतएव वेद में इस प्रकार का वर्णन आया है-

अति, द्रव, सारमेयौ श्वानौ।
चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। ऋक्

हे आत्मे (साधुना+पथा) समीचीन मार्ग से (श्वानौ) यम के दोनों कुत्तों को (अतिद्रव) लांघ कर जा। वे दोनों कुत्ते कैसे हैं (सारमेयौ) सरमा के पुत्र और (चतुरक्षौ) चार नेत्र वाले पुनः (सबलौ) श्वेत और श्याम। पुनः-

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ
यमस्य दूतौ चरतो जनां अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्य्याय
पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्। ऋक् १०।१४।१२

(यमस्य दूतौ) यम के दूत दो कुत्ते (जनान्+अनु) मनुष्यों के पीछे २ (चरतः) चलते हैं। जो (उरूणसौ) देखने में सुन्दर हैं पुनः (असुतृपौ) प्राणियों के प्राणों से तृप्त होने वाले पुनः (उदुम्बलौ) बड़े बलवान्। (तौ) वे दोनों (सूर्य्याय+दृशये) सूर्य्य के देखने के लिये (अस्मभ्यं) हम लोगों को (भद्रं+असुम्) समीचीन प्राण (अद्य+इह) आज इस शुभ कर्म में (दाताम्) देवें।

इस का आशय यह है कि यम जो वर्षात्मक काल उसके दिन और रात्रि, मानो दो दूत हैं जो मनुष्यों के सब कर्म देख रहे हैं।

दिन में दो भाग होते हैं एक पूर्वाह्न और दूसरा अपराह्न पूर्वाह्न और अपराह्न इन दोनों में भी दो दो भाग हैं। इसी प्रकार रात्रि के भी विभाग हैं। अतएव चार प्रहरों का दिन और चार प्रहरों की रात्रि मानी गई है। ये ही चार प्रहर उस कुत्ते के चार नेत्र हैं अतः चतुरक्ष श्वान कहा जाता है वे असुतृप हैं। यह विस्पष्ट ही है क्योंकि प्रतिक्षण मनुष्यों की आयु घटती जाती है मानो यही कुत्ते का भोजन है। इत्यादि सरमा का पुत्र इस लिये यह कहलाता है कि सरमानाम प्रातः कालिक उषा का है। इसी को सरण्यु कहते हैं जो सूर्य्य की अलङ्कारद्वारा पत्नी मानी गई है। इत्यादि वर्णन से विस्पष्टतया आलङ्कारिक अर्थ प्रतीत होता है।

अन्यथा यम के दो ही दूत क्यों माने जायं। ये दिन और रात्रि दो भिन्न २ पदार्थ प्रतीत होते हैं यह प्रत्यक्ष है। पुनः एक श्वेत और दूसरा शवल। दिन ही श्वेत और रात्रि ही शवल (श्याम) है और ये चार नेत्र वाले ही क्यों ? आठयामात्मक अहोरात्र माना जाता है यह अति प्रसिद्ध है चार २ याम एक २ के चार २ नेत्र हैं। याम शब्द भी उसी अर्थ का द्योतक है क्योंकि यम सम्बन्धी वस्तु का नाम याम है।

सप्तनरक

वेदान्तसूत्र द्वारा सात नरक दिखलाए गए हैं वेद में नियत वाचक शब्द होते हैं। अनियत वाचक नहीं। तदनुसार ये सात नरक भी कोई नियत होने चाहियें। वे ये हैं दो नयन दो कान दो नासिकाएं और मुखान्तर्वर्त्तिनी रसना ये ही सात बिगड़ जाने पर नरक होते हैं। नरक शब्द का अर्थ नीच लेजाने वाला है " नरकम्=नीचैः गमनम् " अथवा जहां रमणीय स्थान न हो उस को नरक कहते हैं (नरमणकम्=नरकम्)।

चित्रगुप्त

पुराणादिकों में यम का लेखक चित्रगुप्त माना गया है। यह

चित्रगुप्त प्राणियों का अन्तःकरण है। प्राणी जो कुछ शुभाशुभ करते हैं उस का चित्र गुप्त रीति से इसी अन्तःकरण के ऊपर खचित होजाता है। इसीका नाम संस्कार है और इसी कारण पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण भी होता है। पुत्रियो! क्या तुम इसी लोक में स्वर्ग और नरक दोनों नहीं देखती हो और जिस २ रूप में दोनों भासित होते हैं उसी रूप में सर्वत्र स्वर्ग और नरक हैं। क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् पाञ्चभौतिक ही माना गया है इस कारण सर्वत्र किञ्चित् तरतम्यसे समान ही सृष्टि है यह तुम निश्चय जानो। शूकर, श्वान, क्षुद्र सरीसृप, बिच्छू, सर्प, घोंघा, केंकड़ा और मेंडक आदि प्राणियों के ऊपर ध्यानदो। कभी जल बिन कोटि २ प्राणी एक दो दिनो में मर जाते हैं। कभी गङ्गा,यमुना आदि नदियों की बाढ़ आने पर अगण्य अर्व खर्व जन्तु दो चार दिवसों में छटपटाकर मर जाते हैं। हिमपात से अगण्य क्षुद्र प्राणी नाना क्लेश सह मरने लगते हैं शीत ऋतु में गृह मक्षिकाएं और खटमल इत्यादि जन्तुओं का एक प्रकार सर्व निपात होजाता है। मैं इस को अधिक बढ़ाना उचित नहीं समझती। तुम सब अपने चारों तरफ़ ध्यान से देखो। मैं देखती हूं और समझती हूं कि इस भूमि पर यम यातकों के शतशः स्थान खुले हुए हैं। सुहृदय नर इस दुःख को देख २ रो देते हैं। दुर्भिक्ष पीड़ित प्लेग दग्ध और अन्यान्य बहुविध भयङ्कर रोगों से सन्तप्यमान और रोरूयमाण जनों की ही दुर्दशा यहां देखें। ऐ पुत्रियों! वास्तव में इस पृथिवी पर भी नरक और स्वर्ग विद्यमान हैं किन्तु आंख के अन्धे पुरुष उन्हें नहीं देखते। वैसे ही स्वर्ग और नरक अन्यान्य लोकों में भी स्थापित हैं। जिन२ लोकोंमें प्राणिसृष्टि है वहां वहां सर्वत्र दण्डालय बने हुए हैं।

यदि कहो कि तब परलोक का वेदविहित वर्णन व्यर्थ हो जाता है। नहीं मैं कब कहती हूं कि परलोक नहीं हैं। अयि पुत्रियों! मैं यह कहती हूं कि परलोक हैं। इस पृथिवी के समान वा इससे भी उत्तमोत्तम लोक इस सृष्टि में अनन्त २ हैं। मैं यह कह रही हूं कि

यदि पुनर्जन्म न हो तब भले ही अनन्त लोक बने रहें उन से जीवों की हानि या लाभ ही क्या हो सकता है। इस शरीर को छोड़ना और दूसरे शरीर में जाना यही परलोक में गमन है। इस पृथिवीके ऊपर हो अथवा अन्यलोक में जाकर शरीर धारण करना पड़ता है। शरीर धारण करना आवश्यक है। विना शरीर से सुख दुःख का भोग नहीं हो सकता। वह लिङ्ग शरीर अथवा स्थूलशरीर हो। मुक्ति में ही यह जीव निःशरीर होता है। विशेषकर मैं यह कहती हूँ कि सर्वत्र पञ्चभूतों से जगत् बना हुआ है। मूल कारण अविद्या अथवा माया ही है। तब विषमा सृष्टि केवल कर्मजन्य हो सकती है। यह यहां भी विद्यमान है। अन्यत्र भी ऐसी ही होगी यह सुगम अनुमान हो सकता है। क्योंकि कारण की सर्वत्र समानता है।

हे पुत्रियों ! निश्चय, तुम यह जानो कि अविद्यावश से भी यह मानव देव अतिशय उच्च है। यदि इस के द्वारा आत्म परिचय न हुआ तो महान् अधःपात अवश्यम्भावी है। पुनः २ मैं कहती हूं कि सर्वभाव से तुम अपने को ईश्वर के निकट समर्पित कर दो। देखो इतने से ही तुम में कितना बल आजाता है। आगे ईश्वर के अविश्वासी जन ही इधर उधर मारे २ फिरते हैं दिखलाती हूं ध्यान से सुनोः—

ईश्वर में अविश्वास

क्या हम ईश्वर में पूर्ण विश्वासी हैं ? नहीं यदि ईश्वर के भक्त और पूर्णविश्वासी हम मानव होते तो ध्रुव जानो, कि हम लोगों की ऐसी दुर्दशा न होती। जब समस्त वेद तथा अन्यान्य धर्मग्रन्थ बड़ी उत्कण्ठा से और सत्यता पूर्वक दृढ़ता के साथ उपदेश दे रहे हैं कि वह परमात्मा हम लोगों का जन्मदाता परमपिता है। हम उस के प्रिय पुत्र हैं वह प्रेम और दया का पारावारीण है। सब कर्मों का फल दाता ही नहीं किन्तु जिस २ अन्यान्यदेवरूप में यह भ्रान्त मानवगण पूजता उपासना करता और प्रेम भक्ति से तीर्थादिक रटन करता है उस २ देवादि द्वारा परमात्मा ही फल देने

वाला है। जब सब प्रमाणों से यह निश्चित और ध्रुव सिद्धान्त है तब उस दयालु की उपासना और शरण छोड़ इतस्ततः भ्रमण करना केवल मूढता है। निश्चय तुम जानो, जिन्हें अपने परमपिता भगवान् में विश्वास नहीं वेही कभी जगन्नाथ, रामेश्वर, मथुरा, प्रयाग, काशी, वृन्दावन, कभी गङ्गा, गोदावरी, नर्मदा और कृष्णा, कभी सूर्य्य, चन्द्र, इन्द्र, वरुण कभी नीचातिनीच भूत, प्रेत, डाकिनी, शाकिनी इत्यादि २ की ओर दौड़ते हैं। पापी जन मरने के समय अपने पापों का स्मरण कर काशी प्रयाग से उद्धार समझ वहां किसी प्रकार जाकर मरना चाहते हैं किन्तु वे मूढ़ सर्वान्तर्य्यामी परमपिता को अपने हृदय में ही नहीं देखते हैं। वे छली, कपटी, महापातकी मूढ जन मृत्यु समय भी अपने को ईश्वर में समर्पित नहीं करते। उस समय भी लोकैषणा को लक्ष्य करके गङ्गा और काशी जाना चाहते हैं एवमस्तु। अब इस को आगे न बढा कर तुमको हिततम उपदेश यह देती हूं कि सर्वभाव से अपने आत्मा का समर्पण उस परमात्मा में कर देओ। अब आगे पञ्चाग्नि विद्या का संक्षेप वर्णन बतलाती हूं ध्यान से श्रवण करो।

अथ पञ्चाग्निविद्या-विवेक

एक समय अरुण गोत्रोत्पन्न श्वेतकेतु नामा कोई कुमार पञ्चाल देश के अधिपति प्रवाहण नामा नृपति की समिति (सभा) में आ पहुंचा। राजा प्रवाहण ने वक्ष्यमाण पांच प्रश्न उस से पूछे वे ये प्रश्न हैं:-

१-हे कुमार यहां से प्रजाएं ऊपर को जहां जाती हैं उसे क्या तू जानता है?

कुमार-राजन् नहीं।

प्रवाहण-२-ये प्रजाएं पुनः जैसे लौट आती हैं क्या तू जानताहै?

कुमार-नहीं।

प्रवाहण-३-देवयान और पितृयाण मार्गों का वियोग स्थान जानता है।

कुमार-हे भगवन् मैं नहीं जानता।

प्रवाहण-४-जिस कारण यह लोक नहीं भर जाता है उस को तू जानता है।

कुमार-हे भगवन् मैं नहीं जानता।

प्रवाहण-५-जिस कारण पांचवी आहुति में जल पुरुषवाची होता है इसे तू जानता है।

कुमार-भगवन् नही जानता।

तब राजा ने कहा कि विदित होता है कि तेरे पिता ने तुझ को अच्छी शिक्षा नहीं दी है। एवमस्तु। तू कुछ काल यहां ही निवास कर मैं यथाशक्ति तुझे शिक्षा दूंगा किन्तु वह श्वेतकेतु लज्जित होकर अपने पिता के निकट जा बोला कि पिता जी आप ने मुझको क्या सिखलाया। प्रवाहण राजा ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे थे उन मे से एक प्रश्न का भी समाधान मैं न कर सका। प्रश्न ये थे। श्वेतकेतु के पिता उन पांचों प्रश्नों को सुन कर पुत्र से कहने लगे कि मैं स्वयं इनको नहीं जानता। यह कह कर पुत्र को साथ ले प्रवाहण के निकट जा पहुचे। राजा भी उनका अच्छी तरह स्वागत कर बोले कि हे ब्राह्मण गौतम आप मनुष्य सम्बन्धी जो धन चाहते हों वह मुझ से मांग लें मैं उसे देने के लिये उपस्थित हूं। इस वचन को सुन गौतम ने राजा से कहा कि आप ने जो प्रश्न मेरे कुमार से पूछे थे उनका ही समाधान आप से सीखनेके लिये आया हूं। आप की कृपा से मुझे मानुष धन प्राप्तहै। इस पर राजा ने कहा कि यह विद्या अभी तक क्षत्रियों में ही थी आज से आप के द्वारा ब्राह्मण में भी पहुंचेगी। किन्तु मैं क्षत्रिय और आप ब्राह्मण तब आप मेरे शिष्य कैसे होंगे। गौतम ने कहा कि राजन्! विद्या जहां कहीं से मिले अवश्य सीखलेनी चाहिये मैं अन्तःकारण से आप का शिष्य होता हूं मुझे शिक्षा दीजिये।

प्रथम आहुति

हे गौतम! वह लोक-एक अग्नि है। उसका सूर्य्य समिधा है।

रश्मि (किरण) धूम है। दिन ज्वाला, चन्द्रमा अंगार, नक्षत्रविस्फुलिङ्ग (चिनगारियां) हैं। इस अग्नि में देवगण श्रद्धा की आहुति देते हैं उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होता है।

द्वितीय आहुति

हे गौतम! पर्जन्य (मेघ) द्वितीय अग्नि है। उसका वायु ही समिधा, अभ्र (एक प्रकार का मेघ) धूम, विद्युत् ज्वाला, वज्र अंगार, मेघ शब्द विस्फुलिङ्ग हैं। इस द्वितीय अग्नि में सोमराजा की आहुति देवगण देते हैं उस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है।

तृतीय आहुति

हे गौतम! यह पृथिवी तृतीय अग्नि है। उस का सम्वत्सर ही समिधा, आकाश धूम, रात्रि ज्वाला, दिशाएं अंगार, और अवान्तर दिशाएं विस्फुलिङ्ग हैं। इस अग्नि में देवगण वर्षा की आहुति देते हैं। उस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है।

चतुर्थ आहुति

हे गौतम! यह पुरुष चतुर्थ अग्नि है। उस की वाणी ही समिधा, प्राण धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अंगार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। इस अग्नि में देवगण अन्न की आहुति देते हैं। उस आहुति से रेत (वीर्य) उत्पन्न होता है।

पञ्चम आहुति

हे गौतम! यह स्त्री पञ्चम अग्नि है। इस अग्नि मे देवगण रेत की आहुति देते हैं। उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है। हे गौतम! इस प्रकार पांचवी आहुति में जल पुरुषवाची होता है वह गर्भ नौ वा दश मास उल्बावृत हो पेट में रह बालकरूप से उत्पन्न होता है पुनः अपनी आयुभर सुख दुःख भोग मर जाता है। उसको बन्धु बान्धव अग्निमें जला देते हैं। इस प्रकार मानव जीवन का एक चक्र समाप्त हो जाताहै।

देवयान

जो कोई श्रद्धा और तप की उपासना करते हैं वे अर्चि में, प्राप्त होते हैं इत्यादि देवयान का वर्णन पूर्व में कर आई हूं।

पितृयाण

जो कोई ग्राम में इष्ट (अग्निष्टोम आदि यज्ञ) आपूर्त (वापी, कूप, तड़ाक इत्यादि) और दान की उपासना करते हैं वे धूम में प्राप्त होते हैं वे दक्षिणायन छः मासों में प्राप्त होकर संवत्सर में प्राप्त नहीं होते यही भेद देवयान और पितृयान में है जहां से सर्वथा भिन्न २ मार्ग होते हैं। इत्यादि वर्णन पूर्व में हो चुका है।

अवरोह

अवरोह नाम नीचे उतरने का है। जो पितृयाण मार्ग से चन्द्रलोक में जाते हैं वे सुकृत दुष्कृत वहां भोग कर उसी मार्ग से पुनः लौटते हैं। प्रथम आकाश में प्राप्त होते, उससे वायु होते, वायु होकर धूम होते, धूम होकर अभ्र, अभ्र होकर मेघ, मेघ होकर बरसते हैं तत्पश्चात् यव औषधि वनस्पति तिल, माश इत्यादि २ योनियों में प्राप्त होते हैं। हे गौतम! उनसे उन जीवों को निकलना अत्यन्त कठिन होता है।

कर्मफलभोग

उस के आगे उपनिषद्में राजा कहतेहैं कि जो कोई इस संसार मे आकर अच्छे शुभकर्म करते हैं वे ब्राह्मण योनि में अथवा क्षत्रिय योनि में अथवा वैश्य योनि में संप्राप्त होतेहैं और जो कोई कुत्सित चौर्य्यादि कुकर्म करते हैं वे श्वान योनि में, शूकर योनि में और चाण्डाल योनि इत्यादि योनियों में संप्राप्त होते हैं।

तृतीयपथ

तृतीय पथ का नाम " जायस्वम्रियस्व " है। जायस्व=जन्मले। म्रियस्व=मरजा। जो कोई न तो देवयान से और न पितृयाण से ऊर्ध्वगमन करते हैं वे इसी तृतीय मार्ग में घूमते रहते हैं इस हेतु

यह लोक जीवों से भरता नहीं। हे गौतम ! इस प्रकार जानकर सदा इस जन्ममरण प्रवाह से घृणा रखनी चाहिये।

समीक्षा

राजा के पांचों प्रश्नों का आशय यह है। १-यहां से प्रजा कहां जाती है इस प्रश्न के तीन उत्तर हुए। कुछ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म लोक को जाते हैं। द्वितीय कर्मपरायण जन चन्द्र लोक को जाते हैं। तृतीय सर्वथा जन्म मरण प्रवाह में डूबते और उगते रहते हैं। २-द्वितीय राजा का प्रश्न यह है कि वहां से पुनः कैसे प्रजा लौट आती है। इस का उत्तर यह दिया गया है कि चन्द्रलोक से आकाशमें, आकाश से वायु में इत्यादि। ३-तृतीय प्रश्न यह है कि देवयान और पितृयाण का भेद कहां होता है इस का उत्तर यह है कि देवयान का पथ अर्चि से आरम्भ होता है और पितृयाण का धूम से पुनः देवयान गामी सम्वत्सर में जाते हैं किन्तु पितृयाणगामी उस में नहीं ४-चतुर्थ प्रश्न यह है कि यह लोक क्यों नहीं भर जाता। इस का उत्तर यह है कि मर कर सब ही प्राणी अथवा सब ही मनुष्य ब्रह्म लोक में ही अथवा चन्द्र लोक में ही नहीं पहुंचते किन्तु बहुत से जीव मरते ही तत्काल ही अन्य योनियों में प्राप्त हो जन्म लेते और मरते रहते हैं। इसहेतु यह लोक नहीं भरता है। ५-पञ्चम प्रश्न यह है कि पांचवी आहुतिमें जीव वाचक जल कैसे मनुष्य बन जाता है इस का उत्तर यह है कि आदित्य लोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री ये पांच अग्नि हैं। स्त्रीरूप अग्निमें जो आहुति दी जाती है उस से जल पुरुष वाची होजाता है।

इस पञ्चाग्नि विद्या के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न और उत्तर हैं उन को श्रीशङ्कराचार्य्यकृत भाष्यके आशय अनुसार पीछे बतलाऊंगा। किन्तुयहां यह विचार उपस्थित होताहै कि वेदान्त शास्त्रमें इसकी कौनसी ऐसी आवश्यकता थी जिस के लिये एक ब्राह्मण विद्वान् को भी क्षत्रिय का शिष्य होना पड़ा।

पुनर्जन्म

यह विद्या इस लिये वेदान्त में अपेक्षित हुई कि पुनर्जन्म के लोक पूर्ण विश्वासी हों। पुनर्जन्म अनेक तरह से सन्दिग्ध हो रहा है बहुत से नास्तिक इस शरीर से भिन्न आत्मा को नहीं मानते। आस्तिकों में भी मत बाहुल्य है। इस जीव को भी विभु मानने वाले बहुत से आचार्य्य हैं। जब आत्मा विभु है तब इस का परलोकादि में गमन क्या, और वेदान्त में भी बहुत से सिद्धान्त पाये जाते हैं जिन से जन्म की ही सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि विभु आत्मा का जन्म और मरण कैसे हो सकता है। जो सर्व व्यापी आत्मा है वह अत्यन्त क्षुद्र, गर्भ में कैसे समा सकता है। और भी-जब एक ही आत्मा है तो मरण अथवा जीवन सर्वथा असम्भव है। क्योंकि अनेकता रहने ही पर जन्म मरण हो सकता है। और भी-कित ही श्रुतियों का तात्पर्य्य यह है कि यह जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। अविद्यांशमें जो परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव है अथवा जैसे सूर्य्य का प्रतिबिम्ब अथवा आभास घटों में पड़े वैसे ही ब्रह्मका आभास अन्तःकरणों में पड़ता है वही जीव कहलाता है। इन दृष्टान्तों से भी पुनर्जन्म की सिद्धि नहीं होती क्योंकि घट के फूटने से घटस्थ बिम्ब किसी अन्य रूपको धारण कर कहीं अन्यत्र नहीं जाता न इस प्रतिबिम्ब की कोई भिन्न सत्ता ही होती है। जैसे पुरुष से भिन्न छाया की भिन्न सत्ता नहीं, दर्पण में मुखादि की जो छाया पड़ती है उस की सत्ता मुखसे पृथक् नहीं अतः घट फूटने पर सूर्य्यप्रतिबिम्ब ज्यों का त्यों बना रहता है। तद्वत् ब्रह्म प्रतिबिम्ब जो जीव वह अन्तःकरण के छिन्न भिन्न होने पर ज्यों का त्यों बना रहे कैसे कहीं जाय।

इत्यादि कारणों से पुनर्जन्म मे लोगों को सन्देह न हो। अतः मातृभूता परमकल्याणकारिणी श्रुति पुनर्जन्म पञ्चाग्निवर्णनद्वारा दिखलाती है। आत्मविवेक प्रकरण पुनर्जन्मादि का प्रतिपादन कर आई हूं। अतः पिष्टपेषण करना उचित नहीं। यदि पुनर्जन्म न माना

जाय तो आत्मा का अस्तित्व भी मानना व्यर्थ है। ईश्वर का शासन भी निष्प्रयोजन समझा जायगा। तब सर्वथा धर्म्मसम्प्रदाय का ही उच्छेद हो जायगा। परमन्यायी परमात्मा इस विषमा सृष्टि को क्यों बनाता है। यदि सब जीव तुल्य ही हैं और पूर्वके उपार्जित उन में कोई कर्म नहीं तो किसी जीव को नीच योनि में और किसी को उत्तम योनि में ईश्वर क्यों भेजे। पुनः किसीके लिये नरक और किसी के लिये स्वर्ग क्यों बनावे। इत्यादि बहुशः हेतु और युक्तियां आत्मविवेक प्रकरण में दिखलाई गई हैं।

अब मृत्यु के पश्चात् इस जीवात्मा के साथ कौन २ पदार्थ जाते हैं इस का वर्णन वेदान्त के तृतीय अध्याय के आरम्भ से ही किया गया है लिङ्ग शरीर इस के साथ रहता है पूर्व प्रज्ञा और प्राणादिक भी साथ रहते हैं। देह के बीज जो भूत सूक्ष्म इत्यादि भी इस के साथ २ जाते हैं। हे पुत्रियो! इस विद्या के प्रदर्शन से श्रुति का तात्पर्य्य शरीर से घृणा करने का है। अतः जिन २ उपायों से आत्मोद्धार हो वह कर्त्तव्य है।

इति पञ्चाग्नि विद्याविवेकः समाप्तः

अथ आनन्दमयकोषविवेकः

भृगु ऋषि अपने पिता वरुण के निकट जा बोले कि भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये। इस के उत्तर में वरुण ने कहा—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।

जिस से ये भूत उपजते हैं उपज कर जिस से जीते हैं और जिस में प्रविष्ट होते हैं उस की जिज्ञासा कर वह ब्रह्म है। इस के पश्चात् पिता के आदेशानुसार तप कर के भृगु ने प्रथम अन्न को, तब प्राण को, तब मन को, तब विज्ञान को, तब आनन्द को ब्रह्म

जाना इस प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों को जान कर तत्पश्चात् पूर्णब्रह्म को जान वह भृगु आत्मदर्शी हुए। इस हेतु इस का विवेक थोड़ा सा पञ्चदशी के अनुसार बतलाती हूं।

अन्नमयकोष

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्द्धते ।
देहसोऽन्नमयोनात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः॥

मातृ पितृ से भुक्त अन्न द्वारा उत्पन्न जो वीर्य्य और रज उस से यह शरीर होता है और पुनः अन्न, फल,मूल, कन्द आदि के भोजन से इस शरीर की वृद्धि होती है। इसीका नाम अन्नमयकोष है। यह कोष आत्मा नहीं । क्योंकि यदि यह स्थूल देह आत्मा हो तो अकृताभ्यागम कृत प्रणाशरूप दोष होगा । भाव यह है कि यह देह प्रत्यक्षरूप से उत्पन्न होता और पुनः नष्ट होजाताहै। इस में अतिपामर जनको भी सन्देह नहीं है। तब इस देह को पाकर नाना क्लेश लोग क्यों सहैं अथवा सहाये जांय । क्योंकि इसके पूर्व कोई कर्म न था जिस के अनुसार इस प्राण समूह को सुखदुःख मिले। अतः अकृत कर्म्मों का आगमन होने से अकृताभ्यागमदोष होगा। और इस शरीर द्वारा जो शुभाशुभ कर्म किये जायंगे, वे देह के साथ ही नष्ट होजांयगे। उनका सुखदुःखरूप फल कुछ भी आगामी जन्म में न होगा। तब लोग शुभाशुभ कर्म में ही प्रवृत्त क्यों हों। धर्म्मव्यवस्था ही क्यों की जाय ईश्वर भी विषमासृष्टि करके अन्यायी होगा। इत्यादि दोष उपस्थित होंगे। यदि यह शरीर ही आत्मा मान लिया जाय इसी का नाम कृतप्रणाश है किये हुए कर्म्मों का जो नाश वहकृतप्रणाश है।

प्राणमयकोष

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्त्तकः ।
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात्॥

जो वायु पैर से लेकर मस्तक पर्य्यन्त सम्पूर्ण देह में व्याप्त है और जो इन्द्रियों को बल देता हुआ उन्हे काम में भी लगाता है वह प्राणमयकोष है। इसी प्राण को बहुत आचार्य्य आत्मा मानते हैं। वे कहतेहैं कि शरीर में जब तक यह प्राण गमनागमन करता रहता है तब तक ही यह जीता रहता है। इसके निकल जाने पर नाडियों में गति नही पाई जाती। अतः यह प्राण ही जीवात्मा है दूसरा नही। और भी-अणु कीट से लेकर गजादि शरीर तक जितने देह हैं इन सब में यदि एक पृथक् २ जीव माना जाय तो सब देहों में एक ही प्रकार का बोध होना चाहिये जैसे एक विद्वान् कुटी में निवास करे अथवा राजकीय प्रासाद में अथवा किसी बन में रहे सर्वत्र इस का बोध समान ही होगा। इस दृष्टान्त के अनुसार गृहरूप किसी शरीर में सम्प्राप्त हो बोध तुल्य होना चाहिये। किन्तु बोध की तुल्यता है नहीं। अतः सब में जीवात्मा नहीं। किन्तु प्राण ही सब शरीर में व्यापक है। यदि इस पर कोई कहें कि जैसे इन्द्रिय मनुष्य देह में हैं वैसे पटु और निपुण इन्द्रियगण अन्यान्य देहों में नही है। अतः बोध का तारतम्य हो सकता है किन्तु यह कथन अतितुच्छ है। व्याघ्रादि के इन्द्रियों की प्रबलता मनुष्य की अपेक्षा से प्रत्यक्ष हैं। चींटी-में घ्राणशक्ति कितनी है इस को सब कोई जानते हैं। विहगादियों में भी इन्द्रियों की प्रबलता प्रत्यक्ष है। गृध्र अनेक कोश दूरस्थ वस्तु को देख लेता है। काक की चेष्टा प्रसिद्ध है बहुत से विहग आहारार्थ समय २ पर उस २ देश में पहुंच जाते हैं जहां उस २ समय में आहार पूर्णतया प्राप्त होता है। इस प्रकार थोड़ा बहुत तारतम्य अवश्य है किन्तु उस से भिन्नता सिद्ध नही होती। अतः सब प्राणियों में तुल्य बोध की प्राप्ति होती है। और प्राण जड़ वस्तु है उसका विकाश सर्वत्र तुल्य नही। इस हेतु प्राण को जीवात्मा मान लेने से कोई दोष नहीं होता इत्यादि प्राण वादियों का सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त का खण्डन सर्व आस्तिक ग्रन्थों में विद्यमान है। अकृताभ्यागमकृत प्रणाशरूप दोष इस में भी तुल्य ही है। यदि

कहा जाय कि अज्ञानकृत यह संसार है-परिस्थिति के अनुसार जहां तहां जीव-उत्पन्न होकर-अपना २-पोषण पालन कर के मर जाते हैं। इस में पूर्व जन्मार्जित पुण्य पाप हेतु नहीं। इस लिये अकृताभ्यागमकृतप्रणाश का भी बखेड़ा व्यर्थ है। इस पर कहा जा सकता है कि तब यह सृष्टि ही कैसे हुई। यदि सम्पूर्ण सृष्टि जड़मयी है और इसका चालक कोई चेतन नहीं तब इस जड़मयी सृष्टि की स्वयं प्रवृत्ति और निवृत्ति कैसे हो सकती है। इत्यादि विचार नास्तिक कारणवाद खण्डन में देखो।

मनोमयकोष-

अहन्ताम्ममतां देहे गेहादौ च करोति यः।
कामाद्यवस्थया भ्रान्तो नासावात्मा मनोमयः॥

जो देह में अहंभाव और गृहादि में ममता करता है उसे मनोमयकोष कहते हैं। बहुत से आचार्य्य इसी को आत्मा समझते हैं। किन्तु यह आत्मा नहीं क्योंकि इस में नाना विकार देखते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि अनेक विकार इस में पाए जाते हैं। मन की चञ्चलता का वर्णन महा २ कवि भी नहीं कर सकते। अविवश मनही महादुःख का कारण होता और वशीभूत मन ही परमानन्द का हेतु होता है॥

"मन एव मनुष्याणां कारणम्बन्धमोक्षयोः"

मन को वश्य और अवश्य करने से ही मनुष्यों में मनुष्यसे लेकर देव राक्षस पिशाच असुर आदि संज्ञाएं होती हैं। हे पुत्रियों! इस मदोन्मत्त मनोगज को वश करके सुखी बनो।

विज्ञानमयकोष-

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा।
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमय शब्दभाक्॥

जो चिदाभासयुक्त बुद्धि सुषुप्तिकाल में लीन हो जातीहै। और जागरण काल में नखसे लेकर शिखा पर्य्यन्त व्याप्त होजाती है। उसी का नाम विज्ञानमय कोष है। यह भी आत्मा नहीं यद्यपि मनोमय और विज्ञानमय कोषों में उतना अन्तर प्रतीत नहीं होता। तथापि विचार दृष्टि से इन दोनों में बहुत भेद है। मन एक प्रकार से उभयात्मक इन्द्रिय है और ज्ञान शक्ति का नाम विज्ञान है।

आनन्दमयकोष–

काचिदन्तर्मुखावृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
पुण्यभोगे भोगशान्तौ निद्रारूपेण लीयते॥
कादाचित्कत्वतोऽनात्मास्यादानन्दमयोऽप्ययम्
बिम्बभूतो य आनन्द आत्मासौ सर्वदा स्थितेः॥

पुण्यकर्म के फलों के अनुभव काल में कोई बुद्धि वृत्ति अन्तर्मुख होकर आत्मस्वरूप आनन्द के प्रतिबिम्ब को प्राप्त करती है और वही पुण्य कर्म के फलों के भोग की शान्ति होने पर निद्रारूप से लीन होजाती है उसी वृत्ति का नाम आनन्दमयकोष है। यह आनन्दमयकोष भी आत्मा नहीं। क्योंकि यह आनन्द भी कादाचित्क है। तब इस प्रकार देह से लेकर आनन्दपर्य्यन्त यदि आत्मा नहीं तो आत्मा कौन, इस पर कहा जाताहै कि इस सब से भिन्न बिम्बभूत परम प्रिय जो देहावच्छिन्न आत्मा वही आनन्दमयहै। परमात्मा ही आनन्दमय है क्योंकि जिसकी एक मात्रा लेकर यह समस्त जगत् आनन्द भोग रहा है वही आनन्दमय है। वह यही आत्मा है अतः यह आनन्दमय है।

यदि कहा जाय कि देह प्रभृतियों का अनुभव सब करते हैं। इन से भिन्न कोई पुरुष है ऐसा साक्षात् अनुभव किसी को नहीं होता तब आत्मास्तित्व कैसे विदित हो। इस का उत्तर सहज है यह तो ठीक है कि देहादि का अनुभव होता है किन्तु इन देहादिकों का

अनुभव करने वाला कौन पुरुष है । यह मैं पूछती हूं । प्रत्युत, जो सब का अनुभव करता है वही तो आत्मा है । इस अनुभवयिता की सत्ता को कौन दूर कर सकता है । वह जब स्वयम् अनुभव-स्वरूप है तब वह अनुभाव्य कैसे बनेगा । स्वयम् प्रकाशस्वरूप आत्मा है जिस से सब जानते हैं उस को किस साधन से जानें । जिस की ज्योति से यह भास्कर भी ज्योतिष्मान् होता है जिस के भय से मृत्यु भी कम्पायमान होता है जो सब रूप में तत् तत् रूप हो रहा है उस को कैसे जानें । यह विदित अविदित दोनों से पृथक् है। ऐ पुत्रियो ! आत्मा को समाधि द्वारा जानो अथवा वह अपने से ही जाना जाता है ।

प्रियंवदा–मातः यहां यह एक शङ्का होती है कि इसी मानवदेह में ये अन्नमयादि पञ्चकोश हैं अथवा इतर जीवों में भी । तथा जरायुज में ही हैं अथवा अण्डज, ऊष्मज और उद्भिज्ज प्रभृति योनियों में भी ये पञ्चकोश हैं ।

रूपकुमारी–प्रियंवदा ! अभी तक तुझे पञ्चकोश का वास्तव में विवेक नहीं हुआ है । यह सब जीवों में पञ्चकोश हैं यह निश्चयरूप से तू जान । अयि ! मैं वारंवार कहती आई हूं कि पांचभौतिक देह सब जीवों का है । ये पांचों कोश भी पांचभौतिक हैं । इस से भिन्न आनन्दमय आत्मा है । वह आत्मा भी सब में तुल्यरूप से स्थित है । मानवदेह की विशेषता इतनी है कि इस में विवेक की अधिकता है । यह परस्पर कथोपकथन से मनोभाव समझता है अतः इस देहद्वारा व्यावहारिक इतनी उन्नति हुई है और होरही है अन्य शरीरस्थ जीव एक प्रकार कारागार में बद्ध है । केवल कर्म भोग भोग रहा है । नूतन २ कर्म नहीं करता । यद्यपि पुराणादिकों में पशु पक्षी प्रभृतियों में भी क्वचित् ज्ञानोदय की कथा आती है, तथापि इस को शापवश जानना, वास्तव में मनुष्येतर जीवों में विवेक नहीं है । अब इस पर ध्यान दे । पशु पक्षी भी खाते पीते और उसी से उनका देह बढ़ताहै अतःअन्नमयकोष वहां भी है। प्राणमयकोष भी प्रत्यक्ष ही है

मन और बुद्धि भी मय में थोड़ी बहुत विद्यमान है। अतः मनोमय और विज्ञानमयकोष भी उन में स्थित हैं। अति क्षुद्रतम जन्तु भी यत्किञ्चित् आनन्द का अनुभव करते ही हैं अतः उन में आनन्दमय कोश का भी सद्भाव है। उद्भिज्ज वृक्षादिकों के सम्बन्ध में श्रुति कहती है कि–

जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति। छा० उ०।

जीवात्मा से व्याप्त यह वृक्ष भी रसों को पीता हुआ आनन्द पूर्वक स्थित है। इस प्रमाण से उद्भिज्ज योनियों में भी पञ्चकोशों की विद्यमानता सिद्ध है। हे पुत्रियों! आश्चर्य्यमय यह संसार है जिस ओर तुम जाओगी उसी ओर इस की अद्भुतता पाओगी। यदि तुम्हारी दृष्टि अज्ञानता की ओर जाती है तो इस जगत् में अज्ञान का ही राज्य विदित होगा। यदि तुम ज्ञान की गवेषणा में तत्पर हो तो सर्वत्र ज्ञान का ही शासन देखोगी। क्योंकि चींटी भी ज्ञान पूर्वक ही अपने बिल से निवासार्थ मिट्टी निकाल बाहर फेंक रही है। मकड़ी दूसरे जीवों को फंसाने के लिये तथा अपने निवास हेतु जाल ज्ञान पूर्वक ही बनाती है। अब यदि तुम आनन्द की अन्वेषणा करने वाली हो तो देखो किस आमोद प्रमोद से ये क्षुद्र मत्स्य बड़े वेग से दौड़ते हुए जल में क्रीडा कर रहे हैं। ये दोनों विहङ्गमिथुन परस्पर विलास में कितना आनन्द लूट रहे हैं। क्या शूकर और कूकर आनन्द भोग नहीं करते। इनका भोग विलास प्रख्यात है। इसीप्रकार दुःखों का महासागर तरङ्गायमान है। ज्वर, प्लेग, हैजा और अन्यान्य शतशः रोग दुर्भिक्ष दीनता परस्पर हिंसा द्वेष आदि दुःख कितने हैं उनको कौन गिन सकता है। सर्वत्र तारतम्य है अतः मानव देह पाकर इस आत्मा का साक्षात् करो। यही आदेश यही उपनिषद् है।

इति पञ्चकोषविवेकः समाप्तः

अथभूमाविवेक

एक समय नारद ऋषि सनत्कुमार के निकट जाकर निवेदन करने लगे कि भगवन्! मुझे विद्या पढ़ाइये। सनत्कुमार ने उन से कहा कि जितना आप जानते हैं उतना सुना दीजिये उस से आगे मैं कहूंगा। नारद कहने लगे कि हे भगवन्! मैं-

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ, आथर्वणवेद, पञ्चम इतिहास पुराण, वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पदेवजनविद्या, इतनी विद्याओं को मैं जानता हूं। हे भगवन् तथापि मैं मन्त्रवित् ही हूं आत्मवित् नहीं। आप के समान विद्वानोंसे सुना है कि आत्मवित् पुरुष शोक का उल्लंघन करजाते हैं किन्तु हे भगवन्! मैं सर्वदा शोकग्रस्त रहता हूं। मुझ को उस शोक से पार उतारें। यह निवेदन है।

सनत्कुमार कहते हैं कि आपने जो कुछ अध्ययन किया है वह नाम मात्र है ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि नाम ही हैं नाम की उपासना करो। सो जो कोई नामरूप ब्रह्म की उपासना करता है वह नाम की गति पर्य्यन्त विचरण करता है। उस से आगे नहीं बढ़ता।

नारद पूछते हैं कि हे भगवन्! नाम से भी जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझे दीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! नाम से बड़ी वाणी है क्योंकि वाणी ही ऋग्वेद को जनाती। यजुर्वेद इत्यादि सकल विद्याओं को वाणी जनाती है। द्युलोक पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव मनुष्य पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, व्याघ्र से लेकर कीट, पतंग, पिपीलिका इत्यादि जन्तु, धर्म्म, अधर्म्म, सत्य, अनृत, साधु, असाधु, हृदयज्ञ, अहृदयज्ञ इन सकल वस्तुओं को वाणी जनाती है। यदि वाणी न होती तो धर्म, अधर्म, सत्य, अनृत, साधु, असाधु, हृदयज्ञ और अहृदयज्ञ इत्यादिकों का बोध न होता। सब को वाणी ही जनाती है। इस लिये वाणी की उपासना करो। सो जो कोई वाणीरूप ब्रह्म

की उपासना करता है वह वाणी की गतिपर्य्यन्त काम चारी होता है।

नारद-भगवन्! वाणी से जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझे कीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! वाणी से बड़ा मन है जैसे दो आमलकों को अथवा किन्ही दो वस्तुयों को मुट्ठी अनुभव करतीहै इसी प्रकार वाणी और नाम को मन अनुभव करता है। जब मनुष्य मन से मनन करता है कि मैं मन्त्रों को पढूं तब वह पढता है। कर्मों को करूं तब वह कर्म करता है। पुत्रों और पशुयों को चाहूं तब वह चाहताहै। इस लोक को और उस लोक को मैं चाहूं तब उनको चाहता है। हे नारद! मन ही आत्मा, मन ही लोक मन ही ब्रह्म है। मन की उपासना करो सो जो कोई मनोरूप ब्रह्म की उपासना करता है वह मन की गति पर्य्यन्त काम चारी होता है।

नारद-भगवन्! मन से जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझे दीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! मन से बड़ा संकल्प है क्योंकि जब संकल्पकरता है तब उस के पश्चात् मनन होता है। मनन के पश्चात् वाणी नामों में लगाई जाती है। नाम में सब मन्त्र प्रयुक्त होते हैं और मन्त्रों में कर्म प्रयुक्त होते हैं। द्यु लोक से लेकर पृथिवी तक, ईश्वर से लेकर पिपीलिका तक सब में संकल्प विद्यमान है। सो जो कोई संकल्पात्मक ब्रह्म की उपासना करता है वह संकल्प की गतिपर्य्यन्त स्वेच्छाचारी होता है। हे नारद! आप भी संकल्प ब्रह्म की उपासना करो।

नारद:-हे भगवन्! संकल्प से जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझ को दीजिये।

सनत्कुमार-हे नारद! संकल्प से भी बड़ा चित्त है क्योंकि जब मनुष्य चेतता है तब वह संकल्प करता है। तब मनन करताहै। तब वाणी को काममें लाताहै। तब उस वाणीको नाममें लगाता है। नाम में मन्त्र एक हो जाते हैं। मन्त्रों में कर्म इकट्ठे होते हैं। इस

कारण पूर्वोक्त सब ही चित्ताश्रित और चित्तात्मक हैं । अर्थात् वे सब ही चित्त मे प्रतिष्ठित हैं । इस हेतु लोक में भी देखा जाता है कि यद्यपि वह पुरुष बहुवित् तथा बहुसम्पत्तिशाली हो तथापि उस का यदि चित्त स्वस्थ नहीं है अर्थात् चित्त में कोई विक्षेप अथवा उन्माद है तब लोग उसे देखकर कहते हैं कि यदि यह विद्वान् होता तो यह ऐसा न करता इसका चित्त विक्षिप्त होगया है । इसके विपरीत यदि कोई अल्पवित् हो किन्तु चित्तवान् हो तो उसकी लोग शुश्रूषा करते हैं । क्योंकि चित्त ही इसका एकाश्रय है । चित्त आत्मा है, चित्त प्रतिष्ठा है । हे नारद चित्त की उपासना करो । सो जो कोई चित्तब्रह्म की उपासना करता है वह ध्रुवों में ध्रुव, प्रतिष्ठितों में प्रतिष्ठित, अव्यथमनों में अव्यथमना होता है और जहां तक चित्त की गति है वहां तक वह स्वेच्छाचारी होता है ।

नारद–हे भगवन् ! चित्त से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ को देवें ।

सनत्कुमारः–हे नारद ! चित्तसे भी बडा ध्यान है । यह पृथिवी मानो, ध्यान कर रही है, अन्तरिक्ष, द्युलोक,जल इत्यादि भी, मानो, ध्यान कर रहे हैं । पर्वत, मानो ध्यानावस्थित हैं । इस कारण हे नारद ! जब कोई मनुष्यों में महत्व को पाते हैं वह माहात्म्य ध्यान का ही एक अंश है और अल्प कलह करने वाले, पिशुन और निन्दक आदि हैं वे ध्यानांश से विहीन हैं इस हेतु हे नारद ! ध्यान की उपासना करो । सो जो कोई ध्यान ब्रह्म की उपासना करता है वह " ध्यान की जहां तक गति है " वहां तक कामचार होता है ।

नारद–हे भगवन् ! ध्यान से भी जो बड़ा है उस का उपदेश मुझे दीजिये ।

सनत्कुमार–हे नारद ! ध्यान से बड़ा विज्ञान है । क्योंकि विज्ञान से ऋग्वेद जानता है । यजुर्वेद, सामवेद आथर्वण इत्यादि निखिल विद्याओं को विज्ञान से ही जानता है । केवल विद्याओं को ही नहीं किन्तु पृथिवी, जल,तेज, वायु, आकाश, देव, मनुष्य, पशु,

पक्षी, तृण, पर्वत, नदी, कीट, पतङ्ग आदि जितने पदार्थ हैं वे सब विज्ञान से ही जाने जाते हैं। अतः नारद ! विज्ञान की उपासना कीजिये। जो कोई विज्ञानब्रह्म की उपासना करता है वह विज्ञानवान् होता है और विज्ञान की गति पर्य्यन्त कामचार होता है।

नारद–हे भगवन् ! विज्ञान से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमारः–हे नारद ! विज्ञान से भी बड़ा बल है। क्योंकि सैंकड़ों विज्ञानवान् पुरुषों को एक ही बलवान् कंपा देता है वह जब बलवान् होता है तब उठ कर चलने वाला होता है। उठने हारा चलता है। चलनेहारा विद्वान्के निकट जा बैठता है वही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञाता होता है बल से ही पृथिवी स्थित है। बल से अन्तरिक्ष, बल से द्यौ, बल से पर्वत, बल से देव, बल से मनुष्य, बल से पशु विहङ्ग, बल से, तृण वनस्पति, बल से, श्वापद और कीट पतङ्ग आदि सब ही लोक स्थित हैं। नारद ! आप बल की उपासना कीजिये। जो बल ब्रह्म की उपासना करता है वह बल की गति पर्य्यन्त स्वेच्छाविहारी होता है।

नारद–भगवन् ! बल से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ को दीजिये।

सनत्कुमार–हे नारद ! बल से बड़ा अन्न है, क्योंकि यदि कोई दश अहोरात्र भोजन न करे यदि वह जीता रह गया तो वह, अश्रोता, अद्रष्टा, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्त्ता और अविज्ञाता हो जाता है यदि पुनः क्रमशः अन्न खाकर बल बढ़ा लेता है तो वही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा कर्त्ता और विज्ञाता पूर्ववत् हो जाता है। अत. नारद ! अन्न को उपासना कीजिये जो कोई अन्न की उपासना करता है। वह अन्न की गति तक स्वेच्छाचारी होता है।

नारद–भगवन् अन्न से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार–हे नारद ! अन्न से बड़ा जल है। क्योंकि जब सुवृष्टि नहीं होती तब अन्न अवश्य थोड़ा होगा। यह अनुमान कर सब के प्राण सूखने लगते हैं। अन्नाभावसे लोग रोगी होने लगते हैं, और जब सुवृष्टि होती है तब अन्न बहुत होगा यह अनुमान कर सब के प्राण आनन्दी होते हैं। अन्न खाकर सब ही जीव बड़े प्रसन्न हृष्टपुष्ट और विहारी होते हैं। जलसे ही यह पृथिवी शोभा पातीहै अन्तरिक्ष भी जलमय मेघों से मनोहर बनता है। जल पाकर ही सब जीव अपनी सत्ता स्थिर रखते हैं। जल जीवन है, जलवर्धकहै, जल सबका प्राणरूपहै। अतः नारद ! आप जल की उपासना करें। जो कोई जल रूप ब्रह्म की उपासना करता है वह सब काम को पाता है। तृप्तिमान् होता और जल की गति तक इस का स्वेच्छा विहार होता है।

नारद–भगवन् ! जल से भी जो बड़ा हो उसका उपदेश मुझसे कीजिये।

सनत्कुमार–नारद ! जल से भी बड़ा तेज है जब यह तेज वायु को लेकर आकाश में फैलता है तब लोग कहते हैं कि इस समय अधिक उष्णता बढ़ती जाती है सूर्य्य तप रहा है वर्षा बहुत होगी। इस को तेज ही पहले दिखला जल उत्पन्न करता है। वही तेज ऊर्ध्वगामिनी, अधोगामिनी, तिर्य्यक् गामिनी विद्युत् के साथ महाघोरनाद को पैदा करता है जो कुछ विद्युत् रूप से द्योतित होता गरजता और बरसताहै यह सब तेज का ही विलासहै। नारद! तेज की उपासना कीजिये। जो कोई तेजोब्रह्म को उपासताहै वह तेजस्वी होकर तेजस्वी भास्वान् और तमो रहित लोकों को पाता है। और तेज की गति तक उसका काम चार होता है।

नारद–भगवन् ! तेज से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार–नारद ! तेज से बड़ा आकाश है क्योंकि तेजःकार-णीभूत सूर्य्य, चन्द्र, विद्युत् और नक्षत्र आदिक स्थित हैं आकाश से

ही पुकारता, आकाश से सुनता. आकाश से प्रत्युत्तर देता, आकाश में ही पृथिव्यादिक लोक भी स्थित हैं। आकाश में ही उत्पन्न होते और उसी में लीन होते हैं, नारद ! आप आकाश की उपासना करें। जो कोई आकाश ब्रह्म की उपासना करता है वह आकाशवान्, प्रकाशवान् बाधा रहित और अनन्तलोक को पाता है और आकाश की गति पर्य्यन्त वह स्वेच्छाचारी होता है।

नारद-भगवन् ! जो आकाश से भी बड़ा हो उस का उपदेश मुझ को कीजिये।

सनत्कुमार-नारद ! आकाश से भी बड़ा स्मर (स्मृति, स्मरण) है क्योंकि स्मरणशक्ति विहीन पुरुष न किसीको सुन सकते न मनन न विज्ञान ही कर सकते हैं। स्मरणशक्ति वाले ही श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञाता होते हैं। स्मरण से ही पुत्रों और पशुओं को जानते हैं, नारद ! आप स्मरण की उपासना कीजिये। जो कोई स्मरण की उपासना करता है वह स्मरण की गति तक कामचारी होता है।

नारद-भगवन् ! स्मरण से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार-नारद ! स्मरण से भी बड़ा आशा है क्योंकि आशा से युक्त पुरुष मन्त्र पढता, कर्म करता, पुत्र, पशु, इहलोक, परलोक इत्यादि सकल अभीष्ट वस्तुओं की इच्छा आशा वश पुरुष ही करता है। अतः नारद ! आप आशा की उपासना करें जो कोई आशा ब्रह्म की उपासना करता है उस के सब काम समृद्ध होते हैं उस की आशा अमोघ होती और वह आशा की गतिपर्य्यन्त स्वेच्छाचारी होता है।

नारद-भगवन् ! आशा से भी जो बड़ा हो उस का उपदेश मुझ से कीजिये।

सनत्कुमार-नारद ! आशा से भी बड़ा प्राण है क्योंकि जैसे नाभि में अर्पित शकट (गाड़ी) के सब अरे (अरगज) होते हैं

वैसे ही इस प्राण में सब समर्पित हैं। प्राण से प्राण जाता, प्राण प्राण को देता, प्राण ही पिता, प्राण माता, प्राण भ्राता, प्राण स्वसा, प्राण आचार्य्य, प्राण ब्राह्मण है। यदि कोई पिता, माता, भ्राता, स्वसा, आचार्य्य अथवा ब्राह्मण को धिक्कारता है तो उस को लोक कहते हैं कि तू पितृहा (पितृघाती) मातृहा, भ्रातृहा, स्वसृहा, आचार्य्यहा और ब्राह्मणहा है। किन्तु जब पिता, माता इत्यादिकों के प्राण निकल जाते हैं तब उन को शूल से अथवा किसी अन्यान्य तीक्ष्ण आयुधों से भोंके, काटे अथवा आग में जला दे तो कोई भी उस को पितृघाती, मातृघाती इत्यादि नहीं कहता। क्योंकि वास्तव में प्राण ही माता, पिता इत्यादि होते हैं। जो कोई इसको देखता, विचारता और इस प्रकार जानता है वह अतिवादी होता है अर्थात् तत्त्ववित् होता है। यदि ताने से उसको कोई कहे कि तू अतिवादी है तो वह स्वीकार करे कि "मैं अतिवादी हूं" इस को न छिपावे। वही अतिवादी है जो सत्य के साथ भाषण करता है।

नारद-भगवन्! मैं सत्य के साथ भाषण करूंगा।

सन०-सत्य की जिज्ञासा करें।

नारद-भगवन्! मैं सत्य की जिज्ञासा करता हूं।

सन०-जब अच्छी तरह जानता है तब सत्य बोलता है। बिना जाने हुए सत्य नहीं बोल सकता। अतः विज्ञानही विजिज्ञासितव्य (जानने योग्य) है।

नारद-मैं विज्ञान की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०-जब मननकरता तब विज्ञाता होता बिना मननसे विज्ञाता नहीं होता। अतः मनन विजिज्ञासितव्य है।

नारद-भगवन्! मैं मनन को विजिज्ञासा करता हूं।

सन०-जब श्रद्धा करता तब वह मननकर्त्ता होता अश्रद्धालु मन्ता नहीं होता। अतः श्रद्धा विजिज्ञासितव्य है।

नारद-मैं श्रद्धा की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०-जब निष्ठाकरता तब श्रद्धालु होता बिना निष्ठासे श्रद्धालु नहीं होता। अतः निष्ठा विजिज्ञासितव्य है।

नारद–मैं निष्ठा की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०–जब कर्म करता तब निष्ठावान् होता विना कर्म से निष्ठावान् नहीं होता अतः कर्म विजिज्ञासितव्य है।

नारद–मैं कर्म की जिज्ञासा करता हूं।

सन०–जब सुख का लाभ करता तब कर्म करता सुख के लाभ विना कर्म नहीं करता। अतः सुख विजिज्ञासितव्य है।

ना०–भगवन्! मैं सुख की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०–जो भूमा है वह सुख है अल्प में सुख नहीं भूमा ही सुख है। भूमा ही विजिज्ञासितव्य है।

ना०–भगवन् मैं भूमा की विजिज्ञासा करता हूं।

सन०–जहां अन्य नहीं देखता, अन्य नहीं सुनता, अन्य नहीं जानता वह भूमा है। जहां अन्य देखता, अन्य सुनता, अन्यजानताहै वह अल्प है। निश्चय, जो भूमा है वही अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य है।

ना०–भगवन्! वह भूमा किस में प्रतिष्ठित है?

सन०–अपने महिमा में अथवा महिमामें नहीं क्योंकि गो, अश्व, हस्ती, हिरण्य, दास, भार्य्या और क्षेत्र इत्यादि यहां महिमा कहे जाता हैं, इस प्रकार के महिमा में वह प्रतिष्ठित नहीं है किन्तु वह अपने में प्रतिष्ठित है।

परोक्षदर्शन–

वह नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दक्षिण, उत्तर, विद्यमान है। वही यह सब है।

अहंकारादेश–

मैं नीचे, मैं ऊपर, मैं पीछे, मैं आगे, मैं दक्षिण, मैं उत्तरमें हूं। मैं ही यह सब हूं।

आत्मादेश–

आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा पीछे, आत्मा आगे, आत्मा दक्षिण, आत्मा उत्तर में है। आत्मा ही यह सब है।

विद्याफल

जो कोई इसविद्याको इस प्रकार देखता हुआ, मननकरता हुआ और जानता हुआ आत्मरति, आत्मक्रीड़, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है वह स्वराट् होता है अर्थात् अपनी इच्छानुसार सर्वत्र विराजमान होता है। उस का सब लोकों में स्वेच्छानुसार गमन होता है उसका दूसरा राजा नहीं होता। और जो इस से विपरीत बोद्धा हैं उन के दूसरे राजा होते हैं, उन के लोक क्षयशील होते हैं सब लोक में उन का स्वेच्छा गमन नहीं होता।

इस प्रकार मन्ता, द्रष्टा और विज्ञाता पुरुष के आत्मा से प्राण, आशा, स्मरण, आकाश, तेज, जल, आविर्भावतिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्तसंकल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र और सब कर्म होते हैं। आत्मा से ही सब होता है-यहां एक श्लोक है-

न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्।
सर्वंह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः॥

वह द्रष्टा न मृत्यु, न रोग, न दुःख को देखता है। वह द्रष्टा सब देखता और सर्वत्र सब पाता है।

वह एक, तीन, पांच, सात और नौ प्रकार होता है वह एकादशवां कहा गया है। शत, दश, एक, सहस्र और विंशति होता है।

आहार शुद्धि में सत्वशुद्धि, सत्वशुद्धि में ध्रुवा स्मृति, स्मृतिलाभ में सर्व ग्रन्थों का मोचन होता है।

इस प्रकार निष्पाप नारद को भगवान् सनत्कुमार तम के पार ले गये॥

इतिश्रीरूपकुमारिकृते वेदान्तपुष्पाञ्जलौ
प्रकीर्णविवेकः
समाप्तः



अथ चित्स्वरूप विवेकः

१-भूमा-नाम-विवेक-

प्रियंवदा-श्रीमती भगवती जी ! सनत्कुमार और नारद का सम्वाद सुन कर अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त हुई । मैं बहुत दिनों से स्वयम् विचार रही थी कि ये समस्त विद्याएं कैसे उत्पन्न हुईं । क्या ईश्वर अवतीर्ण होकर संस्कृत भाषामें भारतजनों के उद्धार के लिये सब शास्त्र बनागए अथवा यहां के अस्मत् सदृश मनुष्यों ने ही इन को अपने आत्मा से निकाल बाहर किया है । अब यह सन्देह दूर हो गया । इसी आत्मा से ये ऋग्वेदादि समस्त शास्त्र विनिःसृत हुए हैं किन्तु अहो भूतआत्मा से ये निकले हैं केवल रागद्वेष परिपूर्ण जीव से नहीं क्योंकि अभी श्रीभगवती के मुखारविन्द से सुनचुकी हूं कि-

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानऽस्यैवं विजानत आत्मनो मन्त्राः । आत्मतः सर्वाणि इत्यादि ।

जो कोई इस प्रकार देखता, मनन करता और अच्छे प्रकार जानता उस के आत्मा से सब मन्त्र, और सब ही निःसृत हुए हैं ।।

किन्तु मातः ! एक सन्देह यह है कि नारद जी ऋग्वेदादि सब शास्त्र पढ़गए थे तथापि मन्त्रवित् ही थे आत्मवित् नहीं हुए थे और शोकान्वित थे । इस से यह अनुमान होता है कि ऋग्वेदादि शास्त्रों का अध्ययन व्यर्थ है । केवल महापुरुषों के निकट जाय और उन से उपदेश ग्रहण करे इस सन्देह की निवृत्ति कीजिये ।

रूपकुमारी-प्रिय पुत्री ! तेरा सन्देह उचित ही है । केवल पठन पाठन से कुछ भी नहीं होता किन्तु जब तक एकान्त में बैठ कर

मनन और निदिध्यासन न करे तब तक वह केवल शुकवत् पाठक है। गर्दभवत् भारवाही है। आज सहस्रशः वैयाकरण, नैयायिक, ज्योतिषी, वेदान्ती और पौराणिक देख पड़ते हैं किन्तु वे सर्वथा आत्म विमुख हैं। वे अपने को न पहचान वट, तुलसी, गङ्गा, गोदावरी, सूर्य्य चन्द्र की ओर दौड़ते हैं। कभी देह को चन्दनादिकों से रङ्ग कर और इस शरीर को जला माला मुद्रा ले लोगों को ठगने में लगे हुए हैं। अतः केवल पढ़ने से क्या होता है। स्वयम् वेदभगवान् कहते हैं कि–

" किमृचाकरिष्यति यस्तन्नवेद० "

वह ऋग्वेद से क्या करेगा जो उस को नहीं जानता। पुनः–

" न तं विदाथ य इमाजजान० "

उक्थासश्चरन्ति। इत्यादि

ऐ मनुष्यों तुम उसको नही जानते जिस ने इस सबको बनाया है। वेद पढ़कर भी तुम्हारे अन्तःकरण से अज्ञान नही गया। लोगों से कहते हो कि हम वेद जानते हैं। हम मन्त्र जानते हैं। इस प्रकार तुम वावदूक बन गए हो कि उस परमदेव को नही जानते। हे पुत्री! इस प्रकार स्वयम् वेदभगवान् ही केवल मन्त्रवित् पुरुषों का तिरस्कार बतलाते हैं। निःसन्देह तू प्रथम अपरा और परा विद्याओं का भेद जान जिससे तेरा सन्देह सर्वथा दूर हो जायगा। वह यह है–

अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् के आरम्भ में यह प्रसङ्ग आया है कि सर्व विद्याओं की प्रतिष्ठा जो ब्रह्म विद्या है उसका उपदेश ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व से किया। उस विद्या को अथर्व ने अङ्गी नाम अपने पुत्र को दिया। उस ने भरद्वाज से कहा। भरद्वाज ने अङ्गिरा से कहा। एक समय महाविद्वान् शौनक अङ्गिरा के निकट विधिवत् शिष्य बन कर निवेदन करने लगे कि भगवन्! किस एक के विज्ञान से यह सब विज्ञात होता है। मुझ को इस विषय का भगवान् उपदेश

करें। क्योंकि मेरे इतने अध्ययन से भी यह विषय विदित नहीं हुआ तत्पश्चात् अङ्गिरा ने शौनक से यह उपदेश दिया—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति । परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते ।

हे शौनक! दो विद्याएं जाननी चाहियें ऐसा ब्रह्मवित् कहते हैं १—पराविद्या दूसरी अपराविद्या। अपराविद्याएं ये हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद,शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष और पराविद्या वह है जिस से वह अक्षर (परमात्मा) प्राप्त होता है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूत योनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥

जो अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अहस्त और अचरण है। जो नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म और अव्यय है। उसी को धीरगण संसार का कारण समझते हैं।

पुत्री! तू अब समझगई होगी कि ऋग्वेदादि भी केवल अपरा विद्या है पराविद्या नहीं। तब पराविद्या कौन सी है उस का क्या नाम है इस प्रकार यदि कोई जिज्ञासा करे तो उसके उत्तर में यह कहा जायगा कि वह विद्या यह है कि ऋग्वेदादि शास्त्रों के पढ़ने के पश्चात् मनन और निदिध्यासन करने से जो आत्मविद्या इस अपने ही हृदय से निकलती है वही परा विद्या है दूसरी नहीं। इस का नाम सर्व विद्या प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या है। नारद अथवा

शौनक इत्यादि वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कर गये थे किन्तु मनन और निदिध्यासन उन में नहीं थे इस हेतु वे आत्मवित् भी न हुए।

प्रियंवदा–मातः! अन्त में सनत्कुमार ने नारद से कहा कि सुख ही जिज्ञासितव्य है। इस पर पुनः सनत्कुमार ने कहा कि भूमा सुख है इस के पश्चात् अन्य जिज्ञासा नहीं की गई। और उस भूमा की बहुत सी प्रशंसा भी गाई गई है। यह समझ में नहीं आया कि यह भूमा कौन है। प्राण का नाम भूमा है, या परमात्मा का। क्योंकि भूमा शब्द का अर्थ बहुत्व है–" बहोर्लोपो भू च बहोः " इस पाणिनि सूत्र के अनुसार इमन् प्रत्यय के परे बहु शब्द के स्थान में भू आदेश और इमन् प्रत्यय के इकार का लोप होकर, भूमन् शब्द बनता है। जैसे लघिमन् से लघिमा, गरिमन् से गरिमा, महिमन् से महिमा इत्यादि शब्द कहे जाते हैं तद्वत् भूमन् से भूमा कहा जाता है। शब्दार्थ इसका बहुत्व है। और "प्राणो वा आशाया भूयान्" आशा से बड़ा प्राण है इस हेतु बहुत्व भी इसमें संघटित होता है। अतएव भूमा शब्द का अर्थ प्राण प्रतीत होता है। पुनः

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु।

आप के समान विद्वानों से मैंने सुना है कि आत्मवित्पुरुष शोक को पार कर जाते हैं किन्तु मैं शोच रहा हूं मुझे भगवान् शोक से पार उतारें। इस प्रकरण से भूमा शब्दका अर्थ परमात्मा प्रतीत होता है तब किस का ग्रहण और किस का त्याग किया जाय यह संशय होता है। तथापि प्राण ही भूमा है प्रकरण से विदित होता है क्योंकि प्रकरण में पूछा गया है कि नाम से बड़ा कौन। नाम से बड़ी वाणी, वाणी से बड़ा मन, मनसे बड़ा सङ्कल्प, सङ्कल्प से बड़ा चित्त इत्यादि स्थलों में उत्तरोत्तर बड़ा शब्द का प्रयोग किया गया है इस प्रकार प्राण तक प्रश्न और प्रतिवचन का प्रवाह चला है।

किन्तु प्राण से भी बड़ा कौन ऐसा प्रश्न न पूछा गया। किन्तु नाम से लेकर आशा पर्य्यन्त कह कर सब से बड़ा प्राण को कहा है। और प्राणदर्शी को अतिवादी भी कहा गया है। नाम से लेकर आशा तक को छोड़ प्राण को ही जो श्रेष्ठ कहे उस को अतिवादी कहते हैं और इसी अतिवादी के उद्देश से सत्यवचन, ध्यान, मनन, श्रद्धा आदि धर्म का उपदेश करके भूमा का उपदेश किया गया है। इस हेतु और प्रकरणस्थ बहुत सी ऐसी बातें हैं जिस से प्राण का नाम ही भूमा प्रतीत होता है। इस शङ्का का निवारण श्रीमती करें।

श्रीरूपकुमारी–ऐसी शङ्का पूर्व समय में भी लोक किया करते थे। अतः वेदव्यास–

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात्।

धर्मोपपत्तेश्च।

इन दो वेदान्तसूत्रों से सिद्ध करते हैं कि भूमा नाम परमात्मा का ही है। क्योंकि संप्रसाद के पश्चात् उस भूमा का उपदेश किया गया है। संप्रसाद नाम सुषुप्त स्थान का है "सम्यक् प्रसीदत्यस्मिन्निति संप्रसादः" जिस अवस्था में जीवात्मा सम्यक् प्रसन्न हो उस को सम्प्रसाद कहते हैं। और बृहदारण्यकोपनिषद् में स्वप्न और जागरित शब्द के साथ संप्रसाद शब्द के पाठ से भी यह सुषुप्त स्थान वाची सिद्ध होता है। उस संप्रसादावस्था में प्राण जागता रहता है इस हेतु प्राण का भी नाम संप्रसाद है। इस प्राण के पश्चात् भूमा का उपदेश किया गया है यदि प्राण ही भूमा होता तो प्राण के पश्चात् भूमा का उपदेश करना व्यर्थ होगा। क्योंकि नाम से बड़ा नाम है यह कहना सर्वथा असङ्गत है और नाम से बड़ा नाम ही है इस को दिखलाने के लिये प्रकरण का आरम्भ नहीं हुआ है। किन्तु अर्थान्तर दिखलाने के लिये उत्तरोत्तर प्रकरण आरब्ध है। तद्वत् प्राण से ऊर्ध्व उपदिश्यमान भूमा भी प्राण से भिन्न वस्तु है यह सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि "हे भगवन्!

प्राण से भी कोई बड़ा है" ऐसा प्रश्न न नारद ने किया और न सनत्कुमार ने प्राण से भी बड़ा भूमा है ऐसा उत्तर दिया है। तब प्राण के पश्चात् भूमा का उपदेश दिया गया यह कैसे माना जाय। और प्राणवित् को ही अतिवादी कहा है इस हेतु शङ्का तदवस्थित ही रह जाती है। इस पर संक्षेप से भामती का जो विचार है वह दिखलाते हैं–

एषतु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति।

जो सत्य के साथ अति भाषण करता है वह अतिवादी है। इस से परमात्मा ही भूमा सिद्ध होता है। क्योंकि सत्य शब्द परमार्थ में रूढ़ है श्रुति परमार्थ का उपदेश देती है। परमार्थ परमात्मा ही है उस से भिन्न सकल विकार अनृत है। और "एषतुवा अतिवदति यःसत्येनातिवदति" इस वाक्य से ब्रह्म को कहने वाला अतिवादी कहाता है। तब कथञ्चित् प्राणवित् में अतिवादित्व सिद्ध भी है। तो भी प्राण का परमार्थत्व न होने से सत्य परमात्मा का ही भूमन् शब्द से ग्रहण है इस में सन्देह नहीं। इस प्रकार परमात्मा के जिज्ञासु अनात्मवित् नारद के प्रश्न पर "मैं इस को परमात्मा दिखलाऊंगा" यह मन रख सनत्कुमार ने सोपानारोहणन्याय से, स्थूल से आरम्भ कर उससे बड़ा यह, उससे बड़ा यह इत्यादि दिखलाते हुए अन्त में परम सूक्ष्म परमात्मा का उपदेश भूमन् शब्द से किया है। अतः भूमा परमात्मवाची है। पुनः भूमा में जो धर्म कहे गए हैं वे केवल परमात्मा ही में घट सकते हैं किन्तु अन्यत्र नहीं। जैसे–

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।

जहां दूसरा नहीं देखता, दूसरा नहीं सुनता, दूसरा नहीं जानता वह भूमा है। इस से दर्शनादिव्यवहाराभाव भूमा में दिखलाया गया है। यह धर्म केवल परमात्मा ही में घटता है और "एषाऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा मुपजीवन्ति" इस

आनन्दमय परमात्माके आनन्दकी एक मात्रासे सकल प्राणी जीवित हो रहे हैं। यह परमात्मा के विषय में कहा गया है और-

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्" ॥

यहां सुख स्वरूप भूमा को कहा है। अतः यह धर्म भी ब्रह्म में घटता है इस प्रकार प्रकरणानुसार सत्यत्व, स्वमहिमप्रतिष्ठितत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व इत्यादि धर्म जो भूमा मे कहे गये हैं वे केवल परमात्मा में ही घटते हैं। अतः भूमा नाम परमात्मा का है यह सिद्ध हुआ।

यदि कहो कि परमात्मा का नाम भूमा क्यों रक्खा गया क्योंकि भूमा शब्द का अर्थ बहुत्व है। यदि बहुत्व का अर्थ 'बहु' लेलिया जाय तो परमात्मा एक है बहु नहीं। अतः यह नाम असङ्गत प्रतीत होता है। इस का उत्तर संक्षेप से यह है कि यद्यपि परमार्थरूप से परमात्मा एक ही है किन्तु व्यवहाररूप से सूर्य्य से लेकर कीट पर्य्यन्त परमात्मा के कितने रूप हैं इस की गणना ब्रह्मा भी नहीं कर सकता। इस लिये परमात्मा ही "बहु' है इस में सन्देह क्या। जब सर्वश्रुति प्रतिपादित यह सिद्धान्त है कि उसी परमात्मा से आकाशादिक सब उत्पन्न हुवे हैं तब वह वास्तव में भूमा है जैसे एक बीज से सहस्रों शाखाए पत्र, पुष्प, फल इत्यादि होते हैं तद्वत् उस एक परमात्मा से यह सकल नाना शाखा सयुक्त जगत् है। अतः वह भूमा है श्रुति कहती है।

"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"

उसने देखा कि मैं बहुत होजाऊं। यहां परमात्मा का ही बहुत्व सिद्ध है।

हे पुत्री! इस से यह आत्मोपदेश दिया गया है कि परमात्मा से भिन्न अन्यवस्तु को मत समझ। जो कुछ व्यवहार मे बहुत्व

देखते हैं यह परमात्मा ही का रूप है जो कोई इस तत्व को नहीं समझते वही दुःख में वारवार निमग्न होते हैं। भूमा शब्दका दूसरा अर्थ महान् है, सब से बड़ा है जैसे अल्प जल में रहकर मत्स्य सुखी नहीं होता। जब गंभीर गङ्गादि नदियों से होता हुआ महासमुद्र में प्राप्त होता है तब वह सर्वथा सुख पाता है। जैसे पञ्जर निबद्ध विहङ्ग सुखी नहीं होता किन्तु महान् आकाश में जाकर परम सुखी होता है। जैसे अल्प धन से सुख न पाकर बहुत धन से लोग सुखी होते हैं, नहुम् हे पुत्री! इन सब वस्तुओं में उतना सुख नहीं क्योंकि परमात्मा की अपेक्षा यह आकाशादिक जगत् अत्यन्त अल्प है। अतएव इस अल्प संसार को त्याग अति महान् परमात्मा की ओर लोग आवें। अतः भूमा नाम परमात्मा का है।

इति भूमानामविवेकः समाप्तः

अथवैश्वानरनाम विवेकः

एक समय प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल आस के महाशाल महाश्रोत्रिय ये सब मिल कर विचार करने लगे कि आत्मा कौन है, ब्रह्म कौन है। वे परस्पर निर्णय करने मे असमर्थ हो उद्दालक के निकट गए उद्दालक भी इस विषय में अपने को असमर्थ पा उन पूर्वोक्त पांचों के साथ केकयदेशाधिपति अश्वपति राजा के निकट जा उन से बोले कि आप वैश्वानर आत्मा का अध्ययन करते हैं। हम लोगों से भी उस आत्मा का उपदेश कीजिये तत्पश्चात् राजा ने एक एक से वक्ष्यमाण क्रम से प्रश्न पूछा।

राजा-हे औपमन्यव! प्राचीनशाल आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

प्राची०-हे राजन्! मैं द्युलोक की उपासना करता हूं।

राजा-वह आत्मा का मूर्धा (मस्तक) है। यदि आप मेरे निकट न आते तो आप का मूर्द्धा गिर जाता। यह द्युलोक सुतेजा आत्मा वैश्वानर है। हे सत्ययज्ञ आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

सत्ययज्ञ-हे राजन्! मैं आदित्य की उपासना करता हूं।

राजा-यह विश्वरूप (सब रूप वाला) आत्मा वैश्वानर है यह आत्मा का चक्षुमात्र है। यदि आप मेरे निकट न आते तो अन्ध हो जाते। हे इन्द्रद्युम्न ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

इन्द्रद्युम्न-मैं वायु की उपासना करता हूं।

राजा-यह पृथक्वर्त्मा (पृथक् २ मार्ग वाला) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का प्राण है यदि आप मेरे निकट न आते तो आप का प्राण निकल जाता। हे जन आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

जन-राजन् ! मैं आकाश की उपासना करता हूं।

राजा-यह बहुल (सर्वगत) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का मध्यभाग है। यदि आप मेरे निकट न आते तो आपका मध्यभाग विशीर्ण होजाता। हे बुडिल ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

बुडिल-राजन् ! मैं जल की उपासना करता हूं।

राजा-यह रै (धनप्रद) वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का वस्ति (मूत्रस्थान) है यदि आप मेरे निकट न आते तो आप का वस्ति छिन्न भिन्न होजाता। हे उद्दालक ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं।

उद्दालक-राजन् ! मैं पृथिवी की उपासना करता हूं।

राजा-यह प्रतिष्ठा वैश्वानर आत्मा है। यह आत्मा का चरण है यदि आप मेरे निकट न आते तो आपका चरण म्लान होजाता। हे विद्वानों ! आप सब इस वैश्वानर आत्मा को पृथक् २ रूप में उपासना करते हैं। तथापि आप सब कल्याण भागी हैं। किन्तु यह उचित नहीं। इसको आप इस प्रकार जानें।

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते। स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति।

जो इस आत्मा को प्रादेशमात्र = अत्यन्तसूक्ष्म और अभिविमान सम्पूर्ण जगत् को प्रत्यक्षरूप से देखने वाला समझ कर उपासना करता है वह सब द्युलोक प्रभृतिलोकों में सब स्थावरजङ्गमभूतों में सब देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और जीवआत्माओं में फल पाता है। पुनः—

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राण पृथग् वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादा-वुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्य्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥

इस वैश्वानर का द्युलोक सुतेजा मूर्धा है, आदित्य विश्वरूप चक्षु है, वायुपृथग्वर्त्मात्मा प्राण है, आकाश सर्वगत मध्यभाग है। जल रै बस्ति है, पृथिवी चरण है, उरु वेदि, लोम, कुश, हृदय, गार्हपत्य, मन, अन्वाहार्य्यपचन और मुख आहवनीय अग्नि है। इत्यादि उपदेश श्रवण कर उद्दालक आदि सब तृप्त हो अपने २ गृह लौट गये और उस दिन से " ब्रह्म कौन वस्तु है " इस तत्व को समझ परमानन्दित हुए।

श्रीरूप०—ऐ पुत्रियो ! तुम इस तत्वको समझ गई होंगी वैश्वानर यह परमात्मा का नाम है। दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् विश्वानर कहलाता है इस में अभेदरूप से व्याप्त जो परमात्मा उसको वैश्वानर कहते हैं। अब सम्वाद का आशय संक्षेप से समझो। सब से प्रथम औपमन्यव प्राचीनशाल ने अपना उपासना स्थान द्युलोक बतलाया। यह द्युलोक सब से ऊर्ध्वस्थान माना गया है। जिस से परे कोई अन्यलोक न हो उसी की संज्ञा वेदान्त में "द्यौ" है। मानो, इस के नीचे आदित्य है, आदित्य के नीचे वायु है, वायु के नीचे आकाश है, आकाश के नीचे जल है, जल के नीचे यह पृथिवी है।

जिस के नीचे दूसरा लोक न हो उसका नाम " पृथिवी है "। यद्यपि यह संसार अनन्त और अनादि है तथापि वेदान्त दृष्टि से अनादि और सान्त है क्योंकि इसका कारण माया अनादि और सान्त है। वास्तव में यह है भो वैसा ही। तब प्रत्यक्षदृष्टि से और वर्णन की सुगमता के लिये सब से ऊर्ध्व द्युलोक और सबसे अधः-स्थित पृथिवीलोक मान लिया गया है। और रूप के द्वारा उस परमात्मा का द्युलोक मूर्धा और पृथिवी चरण माना गयाहै। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् मानो ब्रह्म है इसको समष्टिरूप से ब्रह्म मान कर जो उपासना करताहै वह आत्मतत्त्ववित्है। पृथक् २ उपासना करने वाले आत्मवित् नहीं। ऐ पुत्रियों! इसी का नाम विराट् रूप है इस की उपासना करो।

प्रियवदा—मातः वेदान्ती वैसे शब्द क्यों प्रयुक्त करते हैं जो अने-कार्थक हों। वैश्वानर शब्द जठराग्नि में रूढ़ है भूताग्नि को भी वैश्वानर कहते हैं और अभिमानी देवता भी वैश्वानर वर्णित हैं। परमात्मा का नाम वैश्वानर कोई नहीं जानता। इस हेतु यहां यदि वैश्वानर शब्द से जठराग्नि ही समझ लें तो कोई क्षति है।

श्रीरूप०—श्रुति ब्रह्म का उपदेश करती है इस लिये प्रकरण के अनुसार अर्थ की संगति हो तो ब्रह्म अर्थ मान लेना उचित है। प्रक-रण में यह आया है कि " ब्रह्म कौन है " इस के ज्ञान के लिये छः प्राचीनशाल आदि राजा अश्वपति के निकट आए और उसी ब्रह्म के सम्बन्ध में उन्होंने प्रश्न भी पूछा। तब यदि ब्रह्म छोड़ कर अन्यविषय का राजा उपदेश देते तो आम्र। पूछने वाले को यदि कोई कदली बतलावे तद्वत् राजा का उत्तर होता। अत ब्रह्मसम्बन्ध के प्रश्न का उत्तर ब्रह्म ही होना चा-हिये। यहां राजा को विस्पष्ट रूप से यह दिखलाना है कि जो वि-श्वरूप ब्रह्म है वह तू है तुझ से वह भिन्न नहीं। जब यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है तब उस में स्थित प्रत्येक जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। अत-एव आप सब विद्वान् व्यष्टिरूप से ब्रह्म ही हैं तब ब्रह्म कौन है इस

भ्रम में क्यों आप लोग पड़े हुए हैं। और देहादिक को बाध कर इस में स्थित जो प्रादेशमात्र जीव है वह ब्रह्म है इस को समझें यद्यपि यह सम्पूर्ण विश्व (जगत्) ब्रह्मरूप है तथापि इस शरीर में जीव रूप से स्थित जो सर्वान्तर्यामी है वह भी तो आप का आत्मा ब्रह्म है। तब इससे अन्यत्र आत्मा का अन्वेषण करना शुद्ध न है इस भाव को दिखलाने के लिये ही श्रुति में आत्मा के विशेषण प्रादेशमात्र और अभिविमान ये दो शब्द आए हैं। वैश्वानर-शब्द का प्रयोग इस लिये ब्रह्मार्थ में किया गया कि रूपक द्वारा ब्रह्म का उपदेश विस्पष्ट हो। जैसे नर के मूर्धा से लेकर चरण तक अवयव होते हैं तद्वत् मानो, उस ब्रह्म के भी मस्तक से लेकर चरण तक अवयव हैं। कौन वस्तु, कौन अवयव है इस अपेक्षा से श्रुति दिखलाई गई है। स्मृति यह है–

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोका-त्मने नमः।

जिस परमात्मा का अग्नि मुख; द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि पृथिवी चरण, सूर्य्यचक्षु, दिशा श्रोत्र है, उस सर्वलोकात्मक परमा-त्मा को नमस्कार हो। हे पुत्रियों! इस विश्व को ब्रह्मरूप में समझ चिन्तन करो।

इति वैश्वानरविवेकः समाप्तः

अथ आकाशनामविवेकः

श्री रूपकुमारी–यदि परमात्मा के अनेक नाम हैं, और उन नामों की व्याख्या भी थोड़ी बहुत ग्रन्थों में पाई जाती है। विष्णुसहस्र नाम अति प्रसिद्ध है तथापि वेदान्त सूत्रों में जिन नामों पर विशेष शङ्का समाधान किये गए हैं और जिन नामों का वर्णन अथवा जिन नामों से किसी विषय का सिद्धान्त किया गया है। ऐसे दश पांच,

नामों की व्याख्या दिखलाई जाती है। भूमा और वैश्वानर इन दो शब्दों से दो विषयों का सिद्धान्त-स्थापित किया गया है। अतः उन का वर्णन संक्षेप से किया गया। अब आकाश शब्द का सम्बन्ध किस प्रकार उपनिषदों में आया है और किस प्रकार यह ब्रह्मवाचक सिद्ध होता है इसका अतिसंक्षेप वर्णन यहां करती हूं।

इसका प्रसङ्ग छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार आया है कि उद्गीथ विद्या में शालावत्य, दाल्भ्य और जैवलि ये तीनों परम कुशल हुए। एक समय उद्गीथ विद्या में वार्त्तालाप तीनों करने लगे। शालावत्यने दाल्भ्यसे पूछा कि सामवेद की गति कौनसी है।

दाल्भ्य–साम की गति स्वर है।

शाला–स्वर की गति कौन है?

दाल्भ्य–स्वर की गति प्राण है।

शाला–प्राण की गति कौन है?

दाल्भ्य–प्राण की गति अन्न है।

शाला–अन्न की गति कौन है?

दाल्भ्य–जल।

शाला-जल की गति कौन है?

दाल्भ्य–वह लोक है।

शाला–उस लोक की गति कौन है?

दाल्भ्य–उस लोक से मेरा तात्पर्य्य स्वर्ग है, स्वर्ग से पर साम को नहीं ले जाते।

इस पर शालावत्य ने दाल्भ्य से कहा कि आप का सामवेद अप्रतिष्ठित है। यदि कोई आप से कहे कि आप का शिर इस अज्ञान के कारण गिर जायगा तो अवश्य आप का शिर गिर जायगा। इस पर दाल्भ्य ने शालावत्य से निवेदन किया कि आप से मैं यह विद्या जानना चाहता हूं।

शालावत्य–उस लोक की गति यह लोक है।

दाल्भ्य–इस लोक की गति कौन है?

शाला–हे दाल्भ्य ! यह लोक सब की प्रतिष्ठा है। इस लिये इस लोक से कहीं अन्यत्र सामवेद को नहीं लेजाते। शालावत्य का यह प्रतिवचन सुन जैवलि ने कहा। हे शालावत्य ! आप का भी साम अन्तवान् (विनश्वर) है। तब शालावत्य ने जैवलि से निवेदन किया कि भगवन् ! आप ही कृपा कर इस लोक की गति बतलावें मैं आप से यह सीखना चाहता हूं। इस पर जैवलि ने यह उत्तर दिया।–

आकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ।

इस लोक की गति आकाश है। क्योंकि ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं आकाश ही इन सभों से बड़ा और आकाश ही परायण है।

इस प्रकार शालावत्य दाल्भ्य और जैवलि तीनों एकत्रित हो ब्रह्मविद्या में सम्वाद कर इस सिद्धान्त तक पहुंचे कि परम्परया सामवेद की गति आकाश है जिस आकाश से यह सकल जगत् उत्पन्न और जिसमें लीन होताहै। इतना कहकर यह सम्वाद समाप्त हो जाताहै। इस लिये यह आकाश शब्द ब्रह्मवाचकहै इस में सन्देह नहीं। क्योंकि ब्रह्म के जो उत्पत्ति, विनाश, पालन करने धर्म हैं वे इस आकाश में पाए जाते हैं। अतः आकाश का वाच्य परमात्मा है इस में सन्देह नहीं रह जाता। अतएव वेदव्यास—

आकाशस्तल्लिंगात् ।

इस सूत्र से इस प्रकरण में आकाशशब्द ब्रह्मवाचक है यह दिखलाते हैं। इस सूत्र के ऊपर शङ्कर भाष्य बहुत ही रोचक विचार कर जो निश्चय करता है उसका आशय दिखलाती हूं।

शिष्य–यहां आकाशशब्द से क्या परमात्मा का ग्रहण है अथवा भूताकाश का।

शङ्कर–यह संशय क्यों होता है।

शिष्य–दोनों अर्थों में आकाश शब्द का प्रयोग देखता हूं भूताकाश में आकाश शब्द अति प्रसिद्ध है पञ्चभूतों में एक आकाश की गणना होती है। कहीं २ ब्रह्म में भी प्रयुक्त आकाश शब्द देखता हूं। जहां वाक्य शेष से अथवा असाधारणगुणों के श्रवण से यह शब्द ब्रह्मवाचक न हो अन्यवाचक नहीं हो सकता किन्तु ब्रह्मवाचक ही हो सकता है। यथा—

यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। तै० २।७। आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म। छा० ८।१४।१

यदि आकाश आनन्द न होता तो निश्चय आकाश ही नाम-रूप का उत्पत्ति, स्थिति हेतु है वे नाम और रूप जिस से भिन्न कल्पित हुए हैं वह ब्रह्म है। इत्यादि स्थलों में आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म ही होगा अन्य नहीं इस हेतु संशय है।

शङ्कर- तो क्या युक्त है यहां आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म वा महाभूत लेना चाहिये।

शिष्य–महाभूत ही लेना चाहिये क्योंकि प्रसिद्धतर प्रयोग से आकाशशब्द का अर्थ महाभूत है यही बुद्धि में आती है। और भी यह आकाश शब्द दोनों अर्थों मे साधारण नहीं हो सकता। क्योंकि तब वैदिक शब्दों में भी अनेकार्थता का दोष आवेगा। वैदिक शब्द अनेकार्थकनही होते। यदि वैदिक शब्द भी अनेकार्थक हों तो लोग सदा सन्देह में पड़े रहेंगे और परमात्माके कोष में शब्दों की कमी नहीं। अतः लोगों के उद्धारार्थ परमात्मा सदा एकार्थक शब्द ही प्रयोग करता है बह्वर्थक नहीं। इस हेतु ब्रह्म में गौण आकाश शब्द होगा। क्योंकि विभुत्वादि बहुत धर्मों के कारण ब्रह्म आकाश का-

सदृश कहा जाता है। जब मुख्य संभव हो तब गौणार्थ का ग्रहण करना उचित नहीं। यहां मुख्य आकाश का ग्रहण सम्भव है। यदि भूताकाश ग्रहण से "वाक्य शेष उचित रीति से सङ्कुटित न होगा" ऐसा कहा जाय तो यहां न होगा क्योंकि वाक्यशेष में यही कहा गया है कि "आकाश से ही यह सब भूत उत्पन्न होते हैं" यह भूताकाश में भी घट जाता है क्योंकि तैत्तिरीय श्रुति में कहा गया है कि इस आत्मा से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि इत्यादि। इस प्रकार वायु प्रभृति का उत्पत्ति कारण आकाश है यह प्रत्यक्षहै और वायु आदि की अपेक्षा से आकाश बड़ा है और सब का आश्रय है यह भी प्रत्यक्ष ही है। अतः आकाश शब्द का प्रसिद्ध मुख्य अर्थ महाभूत है।

शङ्कराचार्य्य-आकाश शब्द से इस प्रकरण में ब्रह्म का युक्त है क्योंकि ब्रह्म का चिह्न पाया जाता है "सब भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं" यह ब्रह्म का ही चिह्न है क्योंकि परब्रह्म से भूतों की उत्पत्ति वेदान्त में मानी गई है यही मर्य्यादा है।

शिष्य-वायु आदि का कारण भूताकाश भी तो कहा गया है।

शङ्कर-ठीक, कहा गया है तथापि मूल कारण ब्रह्म के न ग्रहण करने से आकाश से ही यहां अवधारण करना और सर्व शब्द का भूत विशेषण में आना ये दोनो अनुकूल नहीं हो सकते। अर्थात् संस्कृत का एव शब्द अवधारणार्थक है और सर्व शब्द भूत के विशेषण में आया है। उन सब भूतों में आकाश की भी गणना हो जाती है। अतः अवधारणार्थक एव शब्द और विशेषण सर्व शब्द दोनों मिल कर आकाश शब्द की यहां ब्रह्मवाचकता सिद्ध करतेहैं। पुनः "आकाशमें वे लीन होते हैं" यह ब्रह्म लिङ्ग है। पुनः "आकाश ही इन से ज्यायान् (ज्येष्ठ श्रेष्ठ) है आकाश परायण है"। यहां ज्येष्ठत्व और परायणत्व दोनो ब्रह्म के लिङ्ग हैं। पुनः अनापेक्षिक ज्येष्ठत्व परमात्मा में ही कहा गया है। यथा-

ज्यायान् पृथिव्याज्ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवोज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ।

छा० ३ । १४ । ३

पृथिवी से वह ज्यायान् (श्रेष्ठ) है, अन्तरिक्ष से ज्यायान् है, द्यौ से ज्यायान् है। इन लोकों से ज्यायान् है । पुनः परायणत्व आदि धर्म भी परमात्मा में बहुशः दिखलाए गए हैं । इत्यादि अनेक कारणों से आकाश शब्द का अर्थ ब्रह्म है इस में सन्देह नही । पुनः आकाशवाची अन्यान्य शब्दों का भी प्रयोग ब्रह्म में पाया जाता है । यथा—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः । ऋग्वेद

ऋग्वेदके जिस अविनश्वर परम परमात्मा में सब देव प्रतिष्ठित हैं । और भी—

सैषा भार्गवी वारुणीविद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठा तै० ३ । ६ ।

ओं कं ब्रह्म खं ब्रह्म । छा० ४ । १० । ५

खं पुराणम् । बृ० ५ । १ ।

इत्यादि प्रमाणों में व्योमन् और ख शब्द जो आकाश वाची हैं यहां ब्रह्मवाचक हैं ।

रूपकुमारी—पुत्रियो ! मैं अनुमान से समझतीहूं कि इन श्रुत्यर्थों का तात्पर्य्य तुम सब अच्छी तरह से समझती होंगी । ब्रह्मके स्वरूप का परिचय भी इन शब्दों से होता जाता होगा । अच्छा, अब तुम सब अपनी २ आंखें बन्द कर अनुमान तो करो कि कौनसी वस्तु आकाश है । थोडी देर तक अपने मन में यह समझ लो कि यहां न पृथिवी, और न पृथिवी, परके कोई पदार्थ न ऊपर के मेघ, न सूर्य्य

चन्द्रादिक कुछ पदार्थ हैं, तब कोई वस्तु रह जायगी या नहीं। जो पदार्थ रह जायगा उस का आकार कीदृश होगा यह अनुमान तो करो। ध्रुव, जो वस्तु सब के विनाश होने के पश्चात् रहेगा उस के स्वरूप का निर्धारण करना कठिन है। सब वस्तुओं की विद्यमानता रहने से ही हमें आकाश का बोध होता है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण इत्यादि व्यवहार भी वस्तुओं की विद्यमानता से ही होता है। मैं कहां तक इस सूक्ष्म वस्तु का वर्णन करूं जो इस भूताकाश का निरुपाधिकरूप है वही सच्चिदानन्द का रूप है। इतना ही नहीं किन्तु इस से भी बड़ा, सूक्ष्म और अज्ञेय परमात्मा का रूप है। अतः सूक्ष्म विचार से ही यह जाना जाता है। और उस से लाभ होता है। और भी-जो जो गुण परमात्मा में इस दृश्य जगत् द्वारा स्थापित किये जातेहैं उन गुणोंको अपनेमें भी स्थापित करना चाहिये यह श्रुतिका तात्पर्य्य है। जैसे यहां आकाश में मुख्यतया ज्यायस्त्व और परायणत्व दो गुण स्थापित किये गये हैं इन दोनों को तुम सब अपने में स्थापित करो अच्छे २ सदाचार, सुकर्म, सुप्रापण, नम्रता, ज्ञान, विज्ञान, सुशीलता आदिकों की वृद्धि से सब में श्रेष्ठ बनो और लोगों में साहाय्य पहुंचाना, यथाशक्ति दान देना निष्कारण विद्याप्रदान करना इत्यादि की उन्नति से लोगों का परायण (आश्रय) बनो॥ इति सङ्क्षेपतः।

इति आकाशनामविवेकः समाप्तः।

अथ प्राणनामविवेकः

रूपकुमारी-यद्यपि उपनिषदों में प्राण शब्द वायु विकार और परमात्मा इन दोनों अर्थों में बहुशः प्रयुक्त हुआ है और प्रकरण के अनुसार जहां तहां दोनो अर्थ प्रतीत हो जाते हैं। तथापि अनेक स्थलों में सन्देह भी उपस्थित होता है। अतः इस शब्द के ऊपर भी अति सङ्क्षेप व्याख्यान सूत्र भाष्यानुसार पूर्ववत् दिखलाऊंगी। ध्यान पूर्वक तुम सब इस को सुनो प्रसङ्ग से अन्यान्यविषय भी बहुत से विदित हो जायेंगे प्रसङ्ग इसप्रकारहै। एकसमय कुरुदेशमें

महादुर्भिक्ष से लोक अत्यन्त पीड़ित होगये वहां एक ब्रह्मवादी उषस्ति नाम के एक ऋषि रहते थे। वे अपनी स्त्री को साथ ले कुरुदेश से भाग किसी धन सम्पन्न ग्राम में जा पहुंचे। वे अत्यन्त क्षुधित हो गये थे उस ग्राम में कहीं एक हाथीवान (महावत) कुछ कुल्माष (एक प्रकार का अन्न) खा रहे थे। उषस्ति ने उस महावत से कुल्माष मांगा। उस ने कहा जो मैं खा रहा हूं येही कुल्माष हैं। यदि इन उच्छिष्ट कुल्माषों में से आप लेना चाहते हैं तो इन्हें लीजिये। ऋषि उन्हें लेकर चलने लगे तब गजरक्षक ने कहा कि इस जल को भी लीजिये। इस के उत्तर में उषस्ति ने कहा कि यह उच्छिष्ट है इस को न लूंगा।

गजरक्षक-क्या ये कुल्माष उच्छिष्ट नहीं हैं।

उषस्ति-निश्चय ये कुल्माष भी उच्छिष्ट हैं किन्तु यदि इन को मैं न खाऊं तो मैं जीवित नहीं रह सकता। जल तो यहां बहुत मिलता है तब उच्छिष्ट जल क्यों ग्रहण करूं।

इस प्रकार गजरक्षक से उच्छिष्ट कुल्माष ले उन्हें खा और उन में से कुछ बचा अपनी स्त्री के लिये घर पर ले आए। उनकी स्त्री पहले ही भिक्षा मांग खा चुकी थी। इस लिये उन कुल्माषों को रख लिया। प्रातःकाल उषस्ति उठ कर अपनी स्त्री से कहने लगे कि आज इस ग्राम का राजा यज्ञ करेगा मैं वहां जाना चाहता हूं। वह मुझ को अवश्य ही वरण देगा यदि तुम्हारे पास कुछ अन्न हो तो लाओ खालूं तब वहां जाऊंगा। स्त्री ने कहा हे पते! बहुत शोक की बात है कि घर में दूसरा अन्न नहीं कल आप जो कुल्माष ले आए थे वे ही हैं। तब चाक्रायण उषस्ति उन्हीं कुल्माषों को खाकर उस यज्ञमें पहुंचे। वहां जहां उद्गातृगण बैठे थे बैठ गये और प्रस्तोता नाम ऋत्विक् से पूछा।

उषस्ति-हे प्रस्तोता प्रस्ताव में जो देवता अन्वायत्त हैं अर्थात् प्रस्ताव में जिस देवता का आवाहन होता है उस को क्या आप जानते हैं। उस को विना जाने हुए यदि आप प्रस्ताव करेंगे तो

आप का मस्तक गिर पड़ेगा। इसी प्रकार उद्गाता से पूछा कि उद्गीथ सम्बन्धी देवता को आप जानते हैं। इसी प्रकार प्रति हर्ता नाम के ऋत्विक से भी पूछा किन्तु वे सब चुप रह गए कुछ भी उत्तर उन लोगों से न हुआ।

तब राजा यजमान ने उन से जिज्ञासा की कि आप कौन हैं। उत्तर मिला कि मैं उषस्तिचाक्रायण हूं। यह सुन प्रसन्न हो यजमान बोले कि मैंने आप का अन्वेषण बहुत करवाया किन्तु आप जब न मिल सके और पता भी कुछ न लगा तब मैंने इस यज्ञ का आरम्भ किया। कृपया अब मुख्य ऋत्विक् होकर इस की समाप्ति कीजिये इस प्रकार यज्ञ आरम्भ हुआ।

प्रस्तोता-आप ने प्रस्ताव देवता के सम्बन्ध में मुझ से जो प्रश्न पूछा था उस का उत्तर प्रथम दीजिये।

उषस्ति-वह प्राण देवता है क्योंकिः-

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभि संविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता।

हे प्रस्तोता! उस प्राण में ही सब भूत लीन होते और उसी से उदित होते हैं। वही प्राण रूप देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है।

उद्गाता-हे उषस्ति! मेरा भी उत्तर आप दीजिये उद्गीथ से किस देवता का सम्बन्ध है।

उषस्ति-उद्गीथ का देवता आदित्य है क्योंकि इसी को सब भूत उच्च स्वर से गाते हैं और यही सब से उच्च भी है।

प्रतिहर्त्ता-भगवन्! आपने मुझ से जो प्रश्न पूछा था उस का उत्तर क्या है।

उषस्ति-प्रतिहार का देवता अन्न है उसी को खाकर सब प्राणी जीते हैं।

यहां पुनः शङ्का होती है कि प्रस्ताव का देवता प्राण कहा गया है और उसी प्राण में निखिल भूतों का प्रवेश और उसीसे उद्गमन भी कहा गया है। यहां भी पूर्ववत् शङ्का समाधान होता है "अतएव प्राणः" इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य्य ने जैसी शङ्का और समाधान की है उस का आशय दिखलाया जाता है।

शिष्य—

"प्राणबन्धनम् हि सोम्य मनः। प्राणस्य प्राणम्"।

इत्यादि वचनों से प्राण शब्द ब्रह्मवाची देख पड़ता है और लोक वेद में वायुविकार वाचक प्राण शब्द प्रसिद्धतर है। तब किस अर्थ का ग्रहण और किसका त्याग किया जाय। इसहेतु संशय होता है।

शङ्कराचार्य्य—तो तुम यहां क्या युक्तितर समझते हो।

शिष्य—वायुविकार पञ्चवृत्ति वाले प्राण का ग्रहण करना मुझे उचित प्रतीत होता है। क्योंकि उसी में प्राण शब्द प्रसिद्ध है।

शङ्कर—पूर्ववत् यहां भी ब्रह्म के चिह्न पाए जाते हैं। क्योंकि वाक्यान्त में भूतों के प्रवेश और उद्गमन जो दो धर्म्म कहे गये हैं वे पारमेश्वर कर्म हैं। तब तुझे पुनः शङ्का क्यों हुई।

शिष्य—मुख्य प्राण में भी भूत प्रवेश और उद्गमन दोनों धर्म घट सकते हैं इसलिये मुझे सन्देह हुआहै। क्योंकि श्रुति कहती है—

यदा वै पुरुष स्वपिति प्राणं तर्हि वाग-प्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधि पुनर्जायन्ते।

श० ब्रा० १०।३।३।६

जब पुरुष सोता है तब वाणी प्राणमें लीन होतीहै। प्राणमें चक्षु, प्राणमें श्रोत्र और प्राणमें मन प्रविष्ठ होते हैं। और जब पुरुष जागता है तब प्राण से ही पुनः वे वागादि उत्पन्न होते हैं। यहां प्रत्यक्ष ही स्वाप काल में प्राणवृत्ति की क्रिया और उसमें इन्द्रियों का लय और

प्रबोध काल में उसी प्राण से उन सब इन्द्रियों का प्रादुर्भाव देखते हैं। अतःप्राण शब्द वायुविकार प्रतीत होता है। और भी–उद्गीथका देवता आदित्य और प्रतिहार का देवता अन्न कहा गया है। ये दोनों ब्रह्म नहीं। अतः इन की समानता से भी प्राण शब्द ब्रह्मवाची नहीं।

शङ्कर–इस में सन्देह नहीं कि ऐसा सन्देह पूर्वकाल में भी लोगों को हुआ था। अतएव इस के निर्णय में व्यासदेव को प्रवृत्त होना पड़ा किन्तु वेदार्थ पर अधिक मनन न करनेसे ही यह संशय उत्पन्न होता है। एवमस्तु अब इस का निर्णय सुनो। यहां प्रकरण के अनुसार प्राण शब्द ब्रह्मवाचक है क्योंकि ब्रह्म के मुख्य चिह्न इस में पाए जाते हैं क्योंकि प्राण में यहां सब भूतों का प्रलय और उदय रूप जो दो धर्म माने गए हैं वे ब्रह्म चिह्न हैं। और जहां प्राण में वागादिकों का लय और उदय कहा है वहां केवल इन्द्रियों का ही ग्रहण है। सर्व भूत शब्द का वहां प्रयोग नहीं अतः वहां प्राण शब्द वायुविकारवाची और यहां ब्रह्म वाची है। इस में सन्देह करना व्यर्थ है।

वेदान्त के अर्थ करने का संकेत यह है कि ब्रह्म के विशेषरूप से तीन धर्म कहे गए हैं। १–इससे सब भूतों की उत्पत्ति। २–इस से सब भूतों का पालन। ३–और इससे सब भूतों का संहार। इन तीनों धर्मों से जो जो वर्णन हो उसको ब्रह्मपरक जानो।

अब यह एक विचार उपस्थित होगा कि ब्रह्म का नाम प्राण क्यों हुआ। इसकाभी समाधान सहज और सरल है। मैं देखता हूं कियदि प्रत्येक जीवमें जब प्राण रहता है तब वह जीवित और प्राणके निकलने पर मृतक होता। लोग भी नाड़ी परीक्षा से इसी का निश्चय करते हैं अतः इसव्यष्टिशरीर में मुख्यता प्राण की ही देखती भी हैं, क्योंकि बहुत से मनुष्य अत्यन्त अन्ध हैं तो भी जी रहे हैं। एवं बधिर, घ्राणशक्तिविहीन, स्पर्शशक्तिरहित और रसनासामर्थ्य से क्षीण, हाथ पैर रहित अर्थ बहुत इन्द्रियों से रहित, भी जीव जीते रहते हैं किन्तु प्राणविहीन कोई जीव जीवित नहीं रहसकता। अतः

व्यष्टिदेह में प्राण की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता है यह सब को प्रत्यक्ष ही अनुभव होता है। इस हेतु जो समष्टि जगत् में चैतन्य देरहा है उसका भी तदनुगनाम होना उचित है। अतः प्राण भी उस परमात्मा का नाम है। अतः—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचोह वाचं सउ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः॥

वह श्रोत्र का श्रोत्र, मनका मन, वाणी का वाणी और प्राण का प्राण है। वही चक्षु का भी चक्षु है इत्यादि वर्णन सुसंगत होता है।

पुत्रियों! इस से उपदेश यह मिलता है कि प्रत्येक ब्रह्मवादी को प्राणवत् रहना चाहिये। यद्यपि इस की भी व्याख्या और भाष्य बहुत विस्तर हैं तथापि संक्षेप से यह समझो। जैसे इस शरीर में प्राण का कोई नियत स्थान नहीं, जैसे नेत्रादिकों के स्थान नियत हैं तथापि यह प्राण सब इन्द्रियों को वहां वहां व्याप्त होकर चिता रहा है चैतन्य उन में दे रहा है। सबमें वह उसी २ रूपसे विद्यमान है। यह प्राण नेत्र में नेत्र रूप से, पैर में पैर रूप से ही यह स्थित रहता है। ब्रह्म भी प्राणवत् ही सब में वही रूप हो रहा है। इसी प्रकार ब्रह्मवादी भी अपना कोई नियत स्थान न रक्खे और सर्वत्र जा जाकर सब मनुष्यों को भी सत्पथ में लायाकरें। वे कभी श्रान्त न हों। म्हान् न हों किन्तु सदा प्रसन्न चित्त होकर ही आलस्य, निद्रा, तन्द्रा आदि अवगुणों को त्याग सर्वत्र पहुंच सब को जगाते रहें। ऐ पुत्रियों! ज्ञान बिना मनुष्य मानो मृतक ही हैं। उन्हे ज्ञान देकर जिलाना ब्रह्मवादियों का कार्य्य है। इति संक्षेपतः

इति प्राणनामविवेकः समाप्तः।

अथ आपद्धर्म विवेकः

प्रियंवदा-भगवती जी! उषस्ति के उपाख्यान में एक यह संशय उत्पन्न हुआ कि ऐसे ब्रह्मवादी होकर गजरक्षक के उच्छिष्ट अन्न को

खाने में क्यों उषस्ति प्रवृत्त हुए। और अन्यत्र भी सुनती हूं कि ब्रह्म-वेत्ता को कोई दोष नहीं लगता। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है किः—

न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति।

ऐसे ब्रह्मवेत्ता के निमित्त कुछ भी अनन्न नहीं होता किन्तु सब अन्न ही होता है। पुनः वाजसनेयियों का यह कथन है।

न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्।

इस का भी यही आशय है कि इस ब्रह्मवित् का कुछ अनन्न न खाया जाता, न गृहीत होता अर्थात् वह जो कुछ खाता है वह सब खाद्य ही है। यहां यह संशय होता है कि जैसे शमदमादिक विद्या के एक एक अङ्ग हैं क्या वैसे ही सर्वान्न भक्षण भी कोई विधि है। ज्ञात होता है कि सर्वान्न भक्षण भी कोई विधि ही है क्योंकि प्रवृत्ति के लिये ही उपदेश होता है। यह प्राण विद्या का उपदेश है अतः उस का यह भी कोई अङ्ग प्रतीत होता है। यदि इस पर कोई कहे कि तब भक्ष्याभक्ष्य विभाग शास्त्र व्यर्थ हो जायंगे। यह दोष यहां न होगा क्योंकि सामान्य और विशेषविधि के उपदेश से बाध हुआ करेगा। जैसे सामान्यरूप से पशु हिंसा का प्रतिषेध है किन्तु यज्ञ में पशु हिंसा के विधान से सामान्य का विशेष से बाध होजाता है और भीः—" न कांचन परिहरेत् तद्व्रतम् " यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। वामदेव विद्या का यहां प्रसङ्ग है श्रुति का आशय यह है कि वामदेव विद्या में प्राप्त पुरुष किसी स्त्री को न त्यागे। यहां सर्व स्त्रियों का ग्रहण करना विशेष विधि है। इस से सामान्य विषयक जो गम्यागम्य विभाग शास्त्र उस का बाध इसी प्रकार प्राणविद्या विषयक सर्वान्न भक्षण वचन से भक्ष्याभक्ष्य विभाग शास्त्र बाधित होगा। ऐसी शङ्का होती है। इस की निवृत्ति श्रीमती जी करें।

श्रीरूपकुमारी—हे पुत्रियो! इस सन्देह को दूर करने के लिये व्यासदेव अपने वेदान्त शास्त्र में इस सूत्र को रचते हैंः—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्ययेतद्दर्शनात् ।

वे० । ३ । ४ । २८

यहां सर्वान्न भक्षण की कोई विधि नहीं, यहां विधायक शब्द कोई नहीं "न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति"- यहां "भवति" वर्तमानकाल का प्रयोग है। अतः जहां विधि न भी प्रतीत हो वहां प्रवृत्ति विशेष के लिये विधि मानना उचित नहीं। इस प्राण विद्या का प्रसङ्ग इस प्रकार है—सब वागादि इन्द्रियों को जीतकर मुख्य प्राण उन से बोला कि मेरा अन्न क्या होगा। इस के उत्तर में सब इन्द्रिय बोले कि इस लोक में कुत्ता तक और पक्षी तक सर्व प्राणियों का जो जो अन्न है वह २ सर्व अन्न आप का भक्ष्य है। अतः मनुष्यदेह से सब पदार्थों का भक्षण सर्वथा असंभव है अतः यह मनुष्य सम्बन्धी वर्णन नहीं किन्तु प्राण का वर्णन है। और यह उचित ही है क्योंकि सर्व जीवों में यह मुख्य प्राण स्थित है। कोई शूकर आदि जीव मल भी खा लेते हैं, बहुत से कीट पतङ्ग अन्यान्य क्षुद्रतर कीट पतङ्गों को खा जाते हैं इस प्रकार प्राण के सब ही पदार्थ भक्ष्य हैं। मनुष्य का नहीं, इसी को श्रुति भी दिखलाती है। तू ऐ प्रियंवदा! स्मरण रखती होगी कि जब चाक्रायण उषस्ति मरने लगे हैं तब उस गजरक्षक के उच्छिष्ट अन्न का भक्षण किया और वहां ही यह भी लिखा है कि उच्छिष्ट जल का ग्रहण ऋषि ने नहीं किया। इस से सिद्ध है कि (प्राणात्यये) प्राण की सङ्कटावस्था में (सर्वान्नानुमति) जहां अन्न मिले वहां खाले दोष नहीं। इसी का आपत्तिधर्म नाम है। प्राण के सङ्कट में भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करे ऐसा स्मृति भी कहती है यथा-

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥

इस प्रकार आपद्गत विश्वामित्र, वामदेव और अजीगर्त आदिकों ने भी प्रतिषिद्ध कर्म किये थे। अतः आपत्काल और सामान्य

कालिक धर्मविधि में भेद है। प्रत्येक विषय की मीमांसा वारंवार मनन से होती है। हे पुत्रियों! वह मनन केवल आत्मा से निकल समुन्नत होता है। आत्मा ही अन्वेष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, मीमांसीय और समाधेय है।

इति आपद्विवेकः समाप्तः

अथ अक्षरनामविवेकः

श्रीरूप०—' अक्षर ' यह नाम भी उस परमात्मा का है यह शब्द दो धातुओं से सिद्ध हो सकता है " नक्षरतीत्यक्षरम् " जो कभी विनष्ट न हो अर्थात् जो नित्य हो वह अक्षर यहां क्षर धातु से अक्षर कहा गया और " अश्नुते=व्याप्नोतीत्यक्षरम् " जो सर्वत्र व्याप्त हो वह अक्षर यहां अशधातु से भी अक्षर सिद्ध करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य्य अपने भाष्य में इन दो धातुओं से ही अक्षरशब्द सिद्ध कर नित्य और व्यापी अर्थ करते हैं। प्रथम इस शब्द का जैसे प्रसंग वाजसनेयी उपनिषद् में आया है उसे दिखला तब सूत्र और भाष्य का भी आशय दिखलाऊंगी। तुम सब सावधान हो इसे सुनो क्योंकि ये औपनिषद प्रसंग अनेक पापों का हरण करने वाला और परमज्ञान देने हारा है। वह यह है:—

एक समय विदेहाधिपति जनक के यज्ञ में नाना देशों से सब प्रकार के मनुष्य इकट्ठे हुए। कुरु और पञ्चालदेश से बहुत से ब्रह्मवित् ब्राह्मण और ब्रह्मवादिनी स्त्रियां भी आई थीं। जनक महाराज के मुख्य आचार्य्य श्री याज्ञवल्क्यजी थे और वह ऋषि अपने समय में बड़े प्रसिद्ध और ब्रह्मवादी विख्यात थे अतः इनसे अन्यान्य विद्वान् और अविद्वान् द्वेष और ईर्ष्या रखतेथे। इस कारण सभामें आए हुए ब्रह्मवादियों ने परीक्षा के लिये याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न पूछे। उनका उत्तर याज्ञवल्क्य देते गए। उस यज्ञ में प्रसिद्धविदुषी और ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी गार्गी भी आई थी। उन्होंने भी बहुतसे प्रश्न ऋषि से पूछे थे। इन ही गार्गी और याज्ञवल्क्य के सम्वाद में अक्षरशब्द का प्रसंग आया है। सभामें गार्गी इस प्रकार बोली:—

हे माननीय तथा पूज्य ब्राह्मणो ! मैं दो प्रश्न श्रीयाज्ञवल्क्य जी से पूछती हूं। यदि उन दोनों प्रश्नों का यथोचित उत्तर ये दे सकेंगे तो मुझको निश्चय हो जायगा कि आप में से कोई भी इन महाभाग विद्वान् से न जीतेंगे। श्री भगवन् याज्ञवल्क्य जी यदि आपकी आज्ञा और कृपा हो तो मैं आपसे पूछूं।

याज्ञवल्क्य-हे गार्गी ! अवश्य आप स्वेच्छानुसार प्रश्न पूछ सकती हैं। मैं अन्तःकरण से आज्ञा देता हूं।

गार्गी-मैं आप से दो प्रश्न पूछूंगी १-प्रथम प्रश्न यह है, हे याज्ञवल्क्य ! द्युलोक से जो ऊर्ध्व है और पृथिवी से जो नीचे है और जिस के मध्य में ये दोनों द्यौ और पृथिवी स्थित हैं और जो भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान कहाते हैं। ये सबही किस में ओत और प्रोत हैं यह मेरा प्रथम प्रश्न है इस का समाधान कृपया कीजिये।

याज्ञवल्क्य-श्रीमती गार्गी ! ये सब ही आकाश में ओत और प्रोत हैं।

गार्गी-नमस्तेऽस्तु भगवन् ! याज्ञवल्क्य ! आपने बड़ी योग्यता और सावधानता से इस का समाधान किया मुझे बहुत हर्ष प्राप्त हुआ। किन्तु मेरे द्वितीय प्रश्न का समाधान करें २-वह यह है कि सब तो आकाश में ओत और प्रोत हैं किन्तु वह आकाश किस में ओत और प्रोत है ?

याज्ञ०-हे गार्गी ! वह आकाश भी उस अक्षर में ओत और प्रोत है जिस अक्षर को ब्राह्मण—

" अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, अछाय, अतम, अवायु, अनाकाश, असङ्ग, अरस, अगन्ध, अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अवाक्, अमन, अतेजस्क, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर और अवाह्य कहते हैं। उस को कोई नहीं पाता, कोई नहीं पाता " पुनः-

हे गार्गी ! निश्चय, तू जान कि इसी अक्षर के प्रशासन (आज्ञा, नियम) में सूर्य्य और चन्द्र दोनों विधृत हो स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में द्यौ और पृथिवी दोनों विधृत हो स्थित हैं।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में निमेष, मुहूर्त, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु और सम्वत्सर विधृत हो स्थित हैं ।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में पूर्व दिशा की नदियां श्वेत पर्वतों से निकल कर बह रही हैं और पश्चिम की नदियां उस २ दिशा में जा रही हैं ।

हे गार्गी ! इसी अक्षर के प्रशासन में मनुष्य, देव, पितर और अन्यान्य सब ही प्राणी स्थित हैं ।

हे गार्गी ! इस अक्षर को अच्छी तरह से न जान कर जो इस लोक में हवन, यजन और दान इत्यादि कर्म करते अथवा सहस्रों वर्षों तक तप, पूजा, पाठ, स्तुति, प्रार्थना इत्यादि करते हैं वे सब कर्म निष्फल होते हैं उन का कुछ भी फल नहीं होता ।

हे गार्गी ! इस अक्षर को न जान कर जो इस लोक से प्रस्थान करता है वह कृपण है और इस को जान कर जो मरता है वही ब्राह्मण है ।

हे गार्गी ! यह अक्षर अदृष्ट, द्रष्टा, अश्रुत, श्रोता, अमत, मन्ता, अविज्ञात, विज्ञाता है । इस से अन्य द्रष्टा नहीं, इस से अन्य श्रोता नहीं, इससे अन्य मन्ता नहीं, इससे अन्य विज्ञाता नहीं । हे गार्गी ! इसी अक्षर में आकाश ओत और प्रोत हैं ।

ऐ पुत्रियो ! याज्ञवल्क्य के यथोचित प्रश्नोत्तर को सुन वाचक्नवी गार्गी ने सब ब्राह्मणों से कहा कि आप सब इस ब्रह्मचारी को नमस्कार कर के अपना २ दोष क्षमा करवाइये । इनसे पुनः द्वेष और ईर्ष्या कभी मत कीजिये । यह कह कर गार्गी चुप चाप बैठ गई । अब श्री शङ्कराचार्य्य के भाष्य का जो आशय है उसको यथावद्रूप में वर्णन करूंगी । वेदान्त के ये वक्ष्यमाण तीन सूत्र अक्षर के सम्बन्ध में हैं—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥ सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥ अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

वेदा० १ । ३

शिष्य–भगवन् गार्गी के सम्वाद में आए हुए अक्षर शब्द से वर्ण का अथवा परमेश्वर का ग्रहण है। क्योंकि "अथ अक्षरसमाम्नायः" इत्यादि स्थलों में अक्षर शब्द का अर्थ अ आ क ख इत्यादि वर्ण प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध को छोड़ अप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं। और भी–"ओंकार एवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुत्यन्तर में ओंकार वर्ण की उपासना विहित है क्योंकि यह ओंकार सर्वात्मक और आकाश पर्य्यन्त सब के धारण करने वाला है इस हेतु इस अक्षर शब्द का अर्थ वर्ण ही प्रतीत होता है।

शङ्कराचा०–हे शिष्य! यहां अक्षर शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है। क्योंकि "अम्बरान्तधृतेः" पृथिवी से लेकर आकाशान्त सकल विकारजात की धारणा इसी अक्षर में कही गई है। उसी अक्षर में अयविभक्त पृथिव्यादि समस्त विकारको "आकाश एव तदोतञ्च प्रोतञ्च" इस श्रुति से आकाश में प्रतिष्ठा कह कर "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" यह आकाश किस में ओत और प्रोत है। इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा कि:-

"एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च"

हे गार्गि! इसी अक्षर में आकाश ओत और प्रोत है। यह कहा है वह आकाशान्त धारणा ब्रह्म अतिरिक्त अन्य वर्णादिकमें नहीं घटसकती इस हेतु इस अक्षर का वाच्य परमात्मा है और जहां ओंकार अक्षर की प्रशंसा की गई है वहां भी ब्रह्म वाचक ओंकार के होने से वह की गई है। अतः क्षर् और अश् धातु यह अक्षर शब्द सिद्ध होता है– और नित्य और व्यापी इस के अर्थ हैं।

और भी–प्रकरण के अनुसार अनेक हेतु दिये जा सकते हैं जिस से अक्षर वाच्य परमेश्वर ही सिद्ध होगा। प्रकरण में आया है कि इसी अक्षर के प्रशासन में सूर्य्य, चन्द्र इत्यादि सबही चल रहेहैं। यह प्रशासन केवल परमेश्वर का कर्म है अचेतन प्रधान आदिकोंका नहीं। क्योंकि अचेतन घटादिक कारण मृत्तिकादि घटादि विषयों का शासन नहीं करते। और भी—प्रकरण में कहा गया है कि यह

अक्षरही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता इत्यादि कहे हैं। और भी–यह अक्षर अचक्षुष्क, अश्रोत्र, अमन इत्यादि भी कहा गया है। इत्यादि धर्म केवल परमात्मा में ही घट सकते हैं अन्यान्य जीवादिकों में नहीं।

उपदेश

हे पुत्रियों! इस ब्रह्म वाचक अक्षरशब्द से कौन उपदेश ग्रहण करने योग्य है। वास्तव में वेदान्त दृष्टि से यह विषय बहुत ही गम्भीर और सुख प्रद है। तथापि अति संक्षेप से इस को मैं दिखलाऊं गी। प्रथम वर्णात्मक अक्षर क्या हैं और इनकी गति कहां तक है इन को विचारो। क्या मनुष्यों के मुख से उच्चार्य्यमाण अक्षर और पशु पक्षियों के मुख से उच्चार्य्यमाण अक्षर दोनों समान हैं? और अक्षर शब्द के प्रकृति आदि भी अनेक अर्थ होते हैं। वास्तवमें मनुष्यों के मुख से विस्पष्ट अक्षर उच्चरित न होते तो निःसन्देह यह जाति भी पशुवत् जङ्गल में रहती। पश्वादिकों से विस्पष्ट अक्षर उच्चरित नहीं होते इसलिये मनुष्येतर जातियां स्वाभिप्रायः परस्पर प्रकट नहीं कर सकतीं। अतएव सृष्टि की आदि से अब तक उन में समानावस्था ही बनी रही और मनुष्य में विस्पष्ट अक्षर उच्चरित होते हैं इस हेतु वे परस्पर अपना भाव प्रकट कर इस अचिन्तनीय उन्नति तक प्राप्त हुए हैं। वास्तव में यह अक्षर भी अनादि है क्योंकि वेद अक्षरमय हैं और वे नित्य और अनादि कहे गए हैं। जब वेही वेद परमेश्वर की कृपा से ऋषियों के हृदय द्वारा मनुष्य जाति में आए तब से ही मनुष्य विस्पष्ट भाषी हुआ। यदि आदि गुरु परमात्मा इस जाति को विस्पष्ट भाषण न सिखलाता तो सम्भवतः यह जाति भी पशुवत् अविस्पष्टभाषी बनी रहती। एवमस्तु इस से शिक्षा क्या ग्रहण करनी चाहिये यह मुझे यहां दिखलाना है। जैसे मुखोच्चरित अक्षर निरवयव नीरूप और व्यापक वस्तु है किन्तु उन अक्षरों के स्थान में कल्पित जो अ आ क ख इत्यादि अक्षर हैं वे बहुविध और साकार हैं इसी प्रकार निरवयव व्यापी, नित्य, विभु, परमात्मा के स्थान में अथवा उससे कल्पित यह समस्त विकारजात

सावयव और परिच्छिन्न हैं किन्तु जैसे क ख इत्यादि लिपि कल्पित हैं तद्वत् यह जगत् भी कल्पित ही है। दूसरी बात यह है जैसे अक्षर मनुष्यजाति की शोभा है तद्वत् अपने समुदाय में भी सदाचार से शोभा बढ़ाते हुए प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिये।

इति अक्षरनामविवेकः समाप्तः

अथ भूतयोनिनाम विवेकः

भूतयोनि नाम भी परमात्मा ही का है। यह शब्द जिस प्रसङ्ग में आया हुआ है उसमें भी लोग अनेक प्रकार शङ्का समाधान करते हैं। इस लिये प्रथम उस प्रसङ्ग को दिखला कर पश्चात् सूत्र और भाष्य का आशय दिखलाऊंगी प्रसङ्ग इस प्रकार है—

अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में यों लिखा है कि ब्रह्मा ने सर्व विद्या प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या का अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा से उपदेश किया। अथर्वा ने अङ्गी से, और अङ्गी ने अङ्गिरा से वह ब्रह्मविद्या कही तब शौनक ऋषि अङ्गिरा के निकट विधिवत् पहुंच बोले कि—

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"॥

हे भगवन्! किस एक के जानने से यह सब विदित होता है। इस प्रश्न के उत्तर में अङ्गिरा कहने लगे कि—

"दो विद्याएं जाननी चाहियें। १-परा और दूसरी अपरा। अपरा विद्याएं ये हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष परा विद्या वह है जिस से उस अक्षर का बोध हो जो॥

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः"

(अद्रेश्यम्) बुद्धीन्द्रिय का अविषय है (अग्राह्यम्) जो कर्मेन्द्रियों का अगोचर है (अगोत्रम्) वश और कारण रहित है (अवर्णम्) ब्राह्मणत्वादि वर्णविहीन है वह न केवल इन्द्रियोंका अविषय है किन्तु इस के इन्द्रिय हैं ही नहीं। अतः आगे कहते हैं (अचक्षुश्रोत्रम्) चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय रहित है तथा (अपाणिपादम्) हस्त चरण रहित है इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों से रहित है। पुनः नित्य, विभु, सर्वगत, सुसूक्ष्म और जो भूतयोनि है धीरगण उस को अद्रश्यादि धर्मों से युक्त देखते हैं। पुनः-

" यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयःसंभवन्ति। यथा सतः पुरुषात केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम् "

जैसे मकरा सूत्र बनाता और समेट लेता है, जैसे पृथिवी में औषधियां वनस्पति वृक्षादिक होते हैं, जैसे जीवित पुरुष से केश लोम होते हैं वैसे ही इस अक्षर ब्रह्म से सम्पूर्ण जगत् होता है। और जो-

"यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्यज्ञानमयंतपः"

"जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है और जिस का तप ज्ञानमय है" इत्यादि उपदेश अङ्गिरा ने शौनक से किया। इस पर सूत्र और भाष्य का जो आशय है उसको सम्वादरूप से दिखलाती हूं।

शिष्य-भगवन्! यहां अद्रश्यत्वादि गुण वाला और भूतयोनि सांख्याभिमत प्रधान है अथवा जीव है अथवा परमेश्वर है। यहां प्रधान ही भूतयोनि है यह मुझे प्रतीत होता है। क्योंकि समस्त आकाशादि भूतों का जो योनि अर्थात् उपादान कारण है उस को भूतयोनि कहते हैं वह प्रकृति है ब्रह्म नहीं। और आगे अचेतनों का द्रष्टान्त भी दिया है। यहां तीन द्रष्टान्तहैं मकरा, पृथिवी और पुरुष। यदि कोई कहे कि ऊर्णनाभि (मकरा) और पुरुष ये दोनों चेतन हैं केवल पृथिवी अचेतन है। अतः द्रष्टान्त में चेतन अचेतन दोनों का

ग्रहण है इस लिये अचेतन प्रकृति का ग्रहण नहीं हो सकता। यह दोष यहां नहीं क्योंकि केवल चेतन ऊर्णनाभि अथवा पुरुष शरीर सूत्र का और केश, लोम का कारण नहीं। किन्तु चेतनाधिष्ठित अचेतन जो ऊर्णनाभि शरीर वह सूत्र का कारण होता है। इसी प्रकार पुरुष शरीर केशलोमों का कारण होता है। इस लिये यहां अचेतन प्रधान ही भूतयोनि प्रतीत होता है।

और भी—वह नित्य कहा गया है क्या वह परिणामी नित्य है अथवा कूटस्थ नित्य है। दोनों नित्यताएं चेतन परमात्मा में संघटित न होंगी। क्योंकि—

परिणामो विवर्तो वा सरूपस्योपलभ्यते।
चिदात्मनातु सारूप्यं जडानां नोपपद्यते॥
जडं प्रधानमेवातो जगद्योनिःप्रतीयताम्।
योनिशब्दोनिमित्तं चेत्कुतोजीवनिराक्रिया॥

सरूप (समान रूप वाले) का परिणाम वा विवर्त्त होता है चित्स्वरूप परमात्मा के साथ जड़ जगतों की सरूपता नहीं है अतः यहां जड़ प्रधान ही जगद्योनि है ऐसा समझना चाहिये। यदि कहो कि योनि शब्द निमित्त कारण परक है तो जीव जगत् योनि हो सकता है। भाव इस का यह है कि परिणाम समानरूप से होता है। जैसे ऊर्णनाभि की लाला (लार) का परिणाम तत्समान ही जाल है। बीज के समान ही वृक्ष परिणाम है। दूध के समान ही दधि परिणाम है। इसी प्रकार विवर्त्त भी विवर्त्तमान के सदृश ही होता है जैसे रज्जु में विवर्त्त सर्पादिक रज्जु के समान ही है। रज्जु में कुंजर का भ्रम कदापि नहीं होता। सुवर्णपिण्ड का परिणाम कदापि भी लूतातन्तु (मकरा का जाल) नहीं होता। तब अत्यन्त विरूप परमात्मा का परिणाम यह जड़ जगत् कैसे होगा इस हेतु जड़ प्रधान ही इस जड़ जगत् की योनि हो सकता है। इत्यादि शङ्का मेरे हृदय में उठ रही हैं। वेद भगवान् का परमार्थ

क्या है हम अज्ञानी पुरुषों को नहीं होता अतः इस का समाधानकीजिये।

श्रीशङ्कर-ऐसी २ शङ्का की निवृत्ति के लिये ही वेदान्त शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। श्री वेदव्यास इस उपलक्ष में कहते हैं कि:-

अदृश्यत्वादिगुण को धर्मोक्तेः। वे०१।२।२१

इसका आशय यह है कि जो यह अदृश्यत्व, अग्राह्यत्वादिगुणों से युक्त भूतयोनि है वह परमेश्वर ही है अन्य नहीं। कैसे यह ज्ञात होता है इसपर कहतेहैं कि (धर्मोक्तेः) क्योंकि परमेश्वर का ही धर्म उच्यमान यहां देखा जाता है। क्योंकि श्रुति यहां कहती है कि "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" अचेतन प्रधान का वा शरीरस्थ अतएव उपाधि-परिछिन्न जीवात्मा का सर्वज्ञत्व और सर्ववित्व संभवित नहीं। अतः भूतयोनि वाच्य ईश्वर है।

द्वितीय शङ्का इस प्रकार है कि प्रकरण में प्रथम अक्षर शब्द आया है और उसी को भूतयोनि कहा है। तत्पश्चात् "यः सर्वज्ञः" इत्यादि वर्णन है। अतः यहां यह विदित होता है कि भूतयोनि कोई अन्यवस्तु है और सर्वज्ञ कोई अन्य पदार्थ है। इस विभाग से भूतयोनि प्रधान और सर्वज्ञ परमात्मा है। इस प्रकार के व्याख्यान से सुसमन्वय हो सकता है। इस शङ्का का उत्तर है कि यह संभव नहीं क्योंकि "अक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्" इस वाक्य से प्रकृत भूतयोनि को दिखला अनन्त वाक्यों से भी उसी को सर्वज्ञ कहती है।

**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्मनाम रूपमन्नं च जायते॥**

इस निर्देश की समता से प्रत्यभिज्ञायमान प्रकृत अक्षर को ही भूतयोनि कहकर उसमें सर्वज्ञत्वादि धर्मों का निर्देश श्रुति करतीहै पुनः जो यह शङ्का की जाती है कि इसी मुण्डकोपनिषद् में आगे कहा है कि " अक्षरात् परतः परः " अक्षर से भी वह पर है यह कैसे-यहां भी प्रकृत भूतयोनि अक्षरसे पर अन्य कोई नहीं कहा जाता कैसे यह जाना जाता है। इस पर कहते हैं कि-

" येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् " ।

इस वाक्य से प्रकृत अक्षर को ही भूतयोनि कह अदृश्यत्वादि गुण उस में स्थापित करते हैं। अक्षर ही यहां प्रतिज्ञात है । तब " अक्षरात् परतःपरः" यह वाक्य कैसे कहा जाता है । इस का उत्तर सूत्र में कहूंगा।

यहां भूतयोनि परमात्मा है इस में सन्देह किञ्चित् भी नहीं । निरर्थक सन्देह उठाया गया है क्योंकि आदि में ही कहा गया है कि " दो विद्याएं जाननी चाहियें " यह कह कर आगे कहते हैं कि एक अपराविद्या । दूसरी पराविद्या ऋग्वेदादि अपराविद्या है और पराविद्या वह है जिससे अक्षर का ज्ञान होता है। अतः पराविद्या का विषय यहां अक्षर है । अब विचारना चाहिये कि यदि परमेश्वर से भिन्न अदृश्यत्वादिगुणवाला अक्षर हो तो वह पराविद्या कदापि नहीं कही जासकती । विद्या का जो यह परा अपराकृप विभाग किया गया है वह अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के लिये है । प्रधान विद्या का फल कहीं भी निःश्रेयस नहीं कहा गया है और तब तीन विद्याओं के ज्ञान की प्रतिज्ञा होनी चाहिये क्योंकि तुम्हारे पक्ष में भूतयोनि अक्षर से पर परमात्मा का कथन है। किन्तु " द्वे एव तु विद्ये वेदितव्ये " ऐसी ही प्रतिज्ञा है । पुनः " हे भगवन् किस एक के विज्ञान से यह सब विदित होता है " एक प्रश्न पूछा गया है । वह एक विज्ञान से सर्वज्ञानका होना केवल ईश्वरमें ही घट सकेगा अचेतन प्रधान में अथवा जीवात्मा में नहीं । और भी-

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।

उसने सर्वविद्याओं की प्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा से कहा। यहां ब्रह्म विद्या का आरंभ कर परापरविभाग से

पराविद्या को अक्षर सम्बन्धिनी दिखलाते हुए यह पराविद्या ब्रह्म विद्या है यह दिखला रहे हैं । इसी पराविद्या में अक्षर का अधिगम कहा है यदि यह अक्षर कोई दूसरा हो तब ब्रह्मविद्या का बोध होजायगा। ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिये ही ऋग्वेदादिकोंको अपरा विद्या नाम से पुकारते हैं क्योंकि वे सब ऋग्वेदादि कर्म परक हैं। कर्म की अश्रेष्ठता वहां दिखलाई गई है यथा।—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युंते पुनरेवापयन्ति । मुण्डक ।

ये यज्ञरूप नौकाएं अदृढ़ हैं जिन में १६ सोलह ऋत्विक्, एक यजमान और यजमान पत्नी मिल कर अष्टादश कार्य्यकर्ता होते हैं और वे अवर अर्थात् ज्ञानापेक्षा अतिनिकृष्ट हैं, जो मूढजन इसी कर्म को मुक्तिप्रद समझते हैं वे जन्म मरणप्रवाह में सदा गिरते रहतेहैं।

इत्यादि निन्दावाचक वहां ही उक्त हैं तब अपरा विद्या की निन्दा कर विरक्त सन्यासी के लिये परा विद्याका अधिकार दिखलाते हैं । यथा—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणोनिर्वेदमायान् नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ मुण्ड० ।

कर्मसञ्चित लोकों की पूरी परीक्षा कर ब्राह्मण उन से वैराग्य ही रक्खे क्योंकि कर्म से वह मुक्तिभागी नहीं हो सकता । उस ब्रह्मके ज्ञान के लिये समित्पाणि हो ब्रह्मनिष्ठ गुरु के निकट पहुंचे ।

यहां कर्मों से ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण सदा विरक्त रहे यह एक उपदेश है । दूसरा उपदेश इस में यह है कि विरक्त होकर ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप पहुंच ब्रह्म का उपदेश नम्रता से लेवे ।

अब जो यह शङ्का की गई थी कि अचेतन पृथिवी आदिकों के दृष्टान्त दिए गएहैं इसहेतु दार्ष्टान्तिक को भी अचेतन होना चाहिये वही अचेतन भूतयोनि है। यह दोष वास्तव में अदोष है क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों समानहो यह कोई नियम नहीं। और इस पर ध्यान दो कि पृथिवी आदि स्थूल पदार्थों का दृष्टांत दिया गया किन्तु दार्ष्टान्तिक भूतयोनि स्थूल ही अपेक्षित नहीं है। इस हेतु अदृश्यत्वादिगुणक भूतयोनि परमेश्वर हो है।

अब जो एक यह शङ्का की गई थी कि सारूप्य में परिणाम वा विवर्त होता है। यहां चेतन, शुद्ध कहा है अतः उस का विवर्त अचेतन अशुद्ध यह जगत् कैसे इसका समाधान इसप्रकार होता है-

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते॥

अपरिणामी ब्रह्म का यह प्रपञ्च विवर्त है इस में सन्देह नहीं। अनादि वासना से उद्भूत जो यह प्रपञ्च वह सरूपता की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि सब ही विभ्रम बाह्यसारूप्यके कारण से ही होता है यह कोई नियमनिमित्त नहीं। किन्तु आन्तर जो काम,क्रोध,भय उन्माद और स्वप्नादिक जो मानसिक अपराध हैं वे सारूप्य की अपेक्षा न करके अनेक विभ्रमों को बनाया करते हैं यह लोक में अतिप्रसिद्ध है। और भी-हेतुयुक्त विभ्रम में हेतुका अन्वेषण होसकता है किन्तु अनादि विद्या की वासना के महाप्रवाह में पतित यह प्रपञ्च है। इसके लिये सारूप्यका प्रश्न नहीं हो सकता। इसहेतु परमात्मा का विवर्त यह प्रपञ्च है और इसी कारण इस का यह योनि है, यह सिद्ध होता है। इति संक्षेपतः।

वक्ष्यमाण कारण से भी परमेश्वर ही भूतयोनि है अन्य अचेतन प्रधान अथवा जीव नहीं क्योंकि व्यासदेव कहते हैं कि:-

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ। वे०१।२।२२

(विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्) प्रकृत भूतयोनि को शारीर=जीव से विलक्षण कहते हैं। वहां ही लिखा है कि:-

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः। मु०। २। १। २

वह परमेश्वर दिव्य, अमूर्त, पुरुष=एव शरीररूप पुरी में रहने वाला बाह्य और अभ्यन्तर भी वही है। वही अज, अप्राण, अमनस्क और परम शुद्ध है।

इत्यादि विशेषण इस शरीर (जीव) में कैसे घट सकते हैं क्यों कि अविद्या से परिकल्पित जो नाम और रूप इन दोनों से यह शरीर परिछिन्न है और अविद्या कृत धर्मों को अपने में यह जीवात्मा मान लेता है अतएव यह अल्पज्ञ परिछिन्न अशुद्ध जीव दिव्यत्वादिगुणक नहीं हो सकता। अतः यहां साक्षात् औपनिषद् पुरुष ही भूतयोनि कहा गया है। तथा प्रधान को भी इस परमेश्वर से भिन्न बतलाते हैं। यथा "अक्षरात्परतः परः"। अव्याकृत, नाम रूप बीजशक्ति संयुक्त, ईश्वराश्रय भूतसूक्ष्म को यहां अक्षर कहते हैं और उसी का उपाधिभूत और सर्व विकार से पर जो अविकार है वह उस अक्षर से पर और उस से भी पर परमेश्वर है। इस वर्णन से विस्पष्टरूप से सिद्ध होता है कि प्रधान से भी परमेश्वरवाच्य भूत योनि का भेद है। पुनः—

रूपोपन्यासाच्च ॥ वेदा० १। २। २३

"अक्षरात्परतः परः" इस के अनन्तर "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादि वचन से पृथिवी पर्यन्त तत्वों की सृष्टि कह कर उसी भूत योनि के सर्वविकारात्मक रूप का उपन्यास करते हैं यथाः—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशःश्रोत्रं वाग्विवृताश्चवेदाः। वायुः प्राणोहृदयंविश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा। मु० २। १। ४

उस अन्तरात्मा परमेश्वर का मूर्धा द्युलोक है। नेत्र सूर्यचन्द्र हैं, श्रोत्र दिशाएं हैं, वाणी वेद है, प्राण वायु है, हृदय यह जगत् है, पैर पृथिवी है। यही सर्वभूतान्तरात्मा परमेश्वर है। यह रूपोपन्यास केवल परमेश्वर में ही घट सकेगा इतर प्रकृति अथवा शरीर में नहीं।

श्रोरूपकुमारी—ऐ पुत्रियो! इस प्रकार उपनिषद् के एक एक शब्द की विवेचनामें अनेक सूत्र और उनका सविस्तर शांकर भाष्य और उस भाष्य के ऊपर भी भामतिप्रभृति अनेक टीकाटिप्पणी की गई है। वे अध्ययन अध्यापन के लिये परमोपयोगी हैं किन्तु सब का अन्तिम फल केवल आत्मसाक्षात्कार है। यदि इन नाना उपायों से भी वह परमप्रिय आत्मा उपलब्ध न हुआ तोये सब साधन व्यर्थ ही होंगे। केवल गुरुमुख से सुन लेने मात्र से ज्ञाननहीं होता किन्तु श्रवण, मनन, और निदिध्यासन से और इन के उपयोगी शम, दम, तितिक्षा इत्यादि और यमनियम ईश्वरप्रणिधानादिक सर्वथा आकाङ्क्ष्य और धार्य हैं आस्तिकों के सहस्रशः ग्रन्थों से परमेश्वर ही जगत्कारण सिद्ध किया गया है। अब दो एक नामों की और भी व्याख्या सुनो॥

इति भूतयोनिनामविवेकः समाप्तः।

अथ अत्तृनामविवेकः।

जैसे श्रोतृ से श्रोता, धातृ से धाता इत्यादि शब्द कहे जाते हैं तद्वत् अत्तृ शब्द से अत्ता कहा जाता है। इसका भक्षिता, भक्षयिता, भोक्ता, संहर्ता इत्यादि अर्थ है। "अदुभक्षणे"=भक्षणार्थक अदुधातु से अत्ता बनता है। अत्ता नाम भी परमात्मा का है। यदि इस शब्द का केवल प्रख्यात भोक्ता अर्थ लिया जाय तो वास्तव में जीववत् परमात्मा भोक्ता नहीं क्योंकिः—

"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"

इस श्रुति से वह अभोक्ता सिद्ध होता है किन्तु उपचार से यदि

परमेश्वर में अतृत्व कल्पित किया जाय तो वास्तवमें वही अत्ता अर्थात् भक्षक है। क्योंकि वही पुनः २ सृष्टि रचता और उसका संहार भी कर लेता है। अतः संहर्तृत्व रूप से वह भोक्ता है। इस से बढ़ कर दूसरा अत्ता ही कौन ? अग्नि, जीव, भी अत्ता कहलाते हैं सही किन्तु जो भुवन का अत्ता है उस के निकट ये क्षुद्र अग्नि और जीव क्या हैं। उपनिषद् के जिस प्रकरण से यह विषय उपस्थित हुआ है प्रथम उस का श्रवण करो। वह यह है:-

यस्यब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं कइत्था वेद यत्र सः ॥

जिस परमात्मा का ओदन ब्राह्मण और क्षत्रिय होते हैं और सर्व प्राणियों का मारक मृत्यु ही जिस के ओदन पर घृत समान उपसेचन होता है वह आश्चर्य्यरूप भोक्ता कौन है उसको इस रूप से कौन जानता है।

यह कठवल्ली उपनिषद् का वचन है। यहां शङ्का हो सकती है कि यह वर्णन कदाचित् अग्नि का हो क्योंकि "अग्निरन्नादः" अग्नि अन्न का भोक्ता कहा गया है। अथवा जीव का ही यह निरूपण हो क्योंकि " तयोरन्यः पिप्पलम् स्वाद्वत्ति " परमेश्वर और जीव इन दोनों में से जीव ही सुख दुःख फलों को खाता है। इत्यादि सन्देह की निवृत्ति के लिये वेदव्यास सूत्र रचते हैं कि—

अत्ता चराचर ग्रहणात्। वेदान्त १।२।९।

समस्त जगत् का संहारकर्ता केवल वह परमदेव है। अतः वही अत्ता हो सकता है अन्य नहीं। और भी देखो-ब्राह्मण और क्षत्रिय येही दो वर्ण सर्वत्र प्रख्यात हैं। ज्ञान विज्ञानादि से युक्त ब्राह्मण और शौर्य बलादि गुणों से समेत क्षत्रिय कहलाता है। ये दोनों जिसके ओदन (भात) हों वह परमेश्वर ही हो सकता है क्योंकि इनके गर्व का विध्वंस समय २ पर वही किया करता है। और भी-मृत्यु जिस का उपसेचन (घृत आदि) हो वह कौन है ? वह ईश्वर ही है अन्य नहीं और इसी का प्रकरण भी है। यथाः—

न जायते म्रियते वा विपश्चित् ।

न वह जन्मता न वह मरता वही सर्व द्रष्टा विज्ञानी है। अतः अत्ता नाम भी परमेश्वर का है। इस पर विचार करो।

इति अत्तृनामविवेकः समाप्तः

अथ अन्तर्यामिनामविवेकः ।

श्रीरूपकु०-हे पुत्रियो! अनन्त नामों में से एक अन्तर्यामी नाम भी परमात्मा का है। जो सर्वजगत् के भीतर रह कर सबको कार्य्य में लगावे अर्थात् जो सब का प्रेरक हो उसे अन्तर्यामी कहते हैं। अन्तः=अभ्यन्तर। यामी=प्रेरक, शासक, कराने वाला, भ्रमयिता, कारयिता इत्यादि। जो सबके भीतरमें स्थित होकर प्रेरक हो वह अन्तर्यामीहै। यह नाम परमेश्वर का है। श्रुति में जिस प्रसंग से इस का प्रयोग आया है प्रथम उसका श्रवण करो। उससे आत्मा पवित्र और ईश्वराभिमुख होगा। वह प्रसंग इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् में आम्नात है:-

" अरुणपुत्र उद्दालक ने जनक महाराज की महासभा में याज्ञवल्क्य से यों पूछा कि हे याज्ञवल्क्य! हम सब कतिपय विद्यार्थी कपिगोत्रोद्भव पतञ्चल के गृह में निवास करते थे और उनसे ही यज्ञविद्या का भी अध्यन कर रहे थे। वे काप्य पतञ्चल मद्रदेश के रहने वाले थे उनकी भार्य्या भी किसी उत्तम गन्धर्व अध्यापक से पढ़ती थी। वह अथर्वा का पुत्र था नाम उसका कबन्ध था। उस गन्धर्व अध्यापक ने एक समय किसी प्रसङ्ग से काप्य पतञ्चल को तथा हम लोगों को भी पूछा कि आप लोग क्या उस सूत्र को जानते हैं-

येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति। बृ०। ३। ७। १।

जिस से यह लोक, और लोक और सब पृथिव्यादिभूत ग्रथित हैं।

इसको सुनकर पतञ्जल ने कहा कि भगवन् ! उस सूत्र को हम लोग नहीं जानते हैं। तब पुनः उस गन्धर्व ने हम सब से पूछा कि क्या आप लोग उस अन्तर्यामी को जानते हैं:—

यइमञ्च लोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति। बृ० उ०। ३। ७। १

जो (अन्तरः) अभ्यन्तर में रहकर इस लोकको, परलोक को और पृथिव्यादि समस्तभूतों को (यमयति) स्व स्व कार्य्य में लगा रहा है। जो सब का प्रेरक है उस अन्तर्यामी को जानते हैं।

काप्य पतञ्जल ने कहा कि भगवन् हम लोग नहीं जानते,

गन्धर्व-हे पतञ्जलतथा हे याज्ञिको ! जो उस सूत्र को तथा उस अन्तर्यामी को जानले वही ब्रह्मवित्, वही लोकवित्, वही देववित्, वही वेदवित्, वही भूतवित्, वही आत्मवित्, वही सर्ववित् है।

इस प्रकार हम लोगों में बातें हुई। पश्चात् उस गन्धर्वअध्यापक ने उस सूत्र और अन्तर्यामी पुरुष को हम लोगों से अच्छीतरह समझाया। मुझको सब बातें स्मरणमें हैं। हे याज्ञवल्क्य ! क्या आप उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानते हैं। यदि जानते हैं तो इस महाराज की महतीसभा में समस्त विद्वानों के समीप वर्णन करें तब ही वास्तव में आप ब्रह्मवित् माने जा सकेंगें।

याज्ञवल्क्यवोले १—प्रथम प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है हे गौतम! वह सूत्र वायु है। उसी वायु से यह लोक, पर लोक और सर्वभूत ग्रथित हैं।

उद्दालकः—हेयाज्ञवल्क्य सत्य है। अब आप अन्तर्यामीको बतलावें।

याज्ञवल्क्य—यः पृथिव्यां तिष्ठन् (१) पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवी मन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।

१-जो पृथिवी में स्थित होकर वर्तमान है, वह अन्तर्यामी है, जो पृथिवी का अभ्यन्तर है, जिस को पृथिवी नहीं जानती, जिस का पृथिवी शरीर है, जो अभ्यन्तर स्थित होकर पृथिवी को अपने कार्य्य में लगा रहा है वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

२-जो जल में स्थित होकर वर्तमान है वह अन्तर्यामी है जो जल का अभ्यन्तर है। इत्यादि पूर्ववत्।

३-जो अग्नि में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

४-जो अन्तरिक्ष में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

५-जो वायु में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

६-जो द्यु लोक में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

७-जो आदित्य में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

८-जो दिशाओं में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

९-जोचन्द्रतारकों में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

१०-जो आकाश में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

११-जोतम में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्॥

१२-जो तेज में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि पूर्ववत्।

यह अधिदैवत है।

अथ अधिभूत

१३-जो सब भूतों में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि

१४-जो प्राण में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि।

१५-जो वाणी में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यामी।

१६-जो श्रोत्र में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि।

१७-जो मन में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि।

१८-जो त्वचा में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि।

१९-जो विज्ञान में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि।

२०-जो रेत में स्थित है वह अन्तर्यामी है इत्यादि।

यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो पुनः—

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥

अदृष्ट और द्रष्टा है, अश्रुत और श्रोता है, जो अमत और मन्ता है, जो अविज्ञात और विज्ञाता है, इस से अन्य द्रष्टा नहीं, इस से अन्य श्रोता नहीं, इस से अन्य मन्ता नहीं, इस से अन्य विज्ञाता नहीं, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इस आत्मविज्ञान से भिन्न विज्ञान दुःखप्रद है। याज्ञवल्क्य का उत्तर सुन आरुणि उद्दालक चुप हो गया। इत्यादि वर्णन यहां है।

यहां यह भी जान लेना चाहिये कि अधिदैवत, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्म इन सब का वर्णन है। यद्यपि यहां भी शङ्का करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो सब में स्थित है वह परमात्मा ही हो सकता है अन्य नहीं। और भी–जो किसी से न देखा जाय, सब को देखे इत्यादि अदृष्टत्व द्रष्टत्व अश्रुतत्व श्रोतृत्व आदि धर्म उसी परमेश्वर में घट सकते हैं। तो भी शङ्कासमाधान करके–

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ।

इत्यादि सूत्रों और भाष्य द्वारा यही सिद्ध किया गया है कि वह अन्तर्यामी परमेश्वर ही है।

उपदेश

इस अन्तर्यामी शब्द से हम कौनसे उपदेश ग्रहण करसकते हैं। इस पर थोड़ासा विचार किया जाता है। प्रथम यह प्रत्यक्ष है कि परमेश्वर सब में स्थित है और वही हमारा भी आत्मा है इस से भी अभेद ही सिद्ध होता है। किन्तु इस से एक अन्य संशय यह

उत्पन्न होता है कि जब वही उर प्रेरक है तो जीव को पाप पुण्य क्यों होना चाहिये। यह शङ्का भी व्यर्थ ही है क्योंकि यह जीव भी तो उस परमात्मा से भिन्न नहीं केवल घटाकाश और महाकाश के समान भेद है वास्तव में नहीं। बारंबार मैं कह चुकी हूं कि यह जीव अविद्या में फंसकर अपने स्वरूप को भूल "मैं सुखी, मैं दुखी हूं" इत्यादि व्यवहार भाग होता है। निःसन्देह जब यह जीव अपने उपाधियों को जान लेगा तब यह संसार ही इस के साथ न होगा। पुनः पुण्य पाप का विभाग ही क्या और जीवही क्यों पुण्यपापकरे।

अब ईश्वर की प्रेरकता की ओर ध्यान दो। सब मनुष्य ही समान क्यों न होते। यदि कहो कि देश, काल, अवस्था, परिस्थिति और उद्योग आदि अनेक कारण हैं जिन से मनुष्य जाति में इतनी भिन्नता पाई जाती है। इस पर मैं पूछती हूं कि किसी को परमोद्योगी बनने की उत्कट इच्छा होती है और कोई आलसी निरुद्योगी सदा बना रहता है। एक ही गृह में प्रत्येक भ्राता का भिन्न २ विचार और भिन्न २ कर्म देखते हैं, यह भेद क्यों? अतः वही प्रेरक है इस में सन्देह नहीं। तब यदि कहो कि व्यभिचारी, लम्पट और बालघाती आदि महापातकी क्यों दण्डनीय हों। हे पुत्रियो! इसी को समझना चाहिये। अरे! यह तो देखो किस की प्रेरणा से दण्ड शास्त्र की रचना हुई। कहना पड़ेगा कि उस का भी तो प्रेरक वह परमेश्वर ही है। अतः दण्ड्य पुरुष को दण्ड भोगना इत्यादि सर्व लौकिक व्यवहार सिद्ध होता है।

तब यदि कोई प्रश्न करे कि मैं आज से सकल व्यवहार से उपरत हो बैठ जाता हूं। देखें ईश्वर कैसे मुझ को कार्य्य में लगाता है और उस की प्रेरणा भी कैसे होती है। इस का भी समाधान सहज है। क्योंकि उस की ऐसी बलवती प्रेरणा है कि वह किसी को एक क्षण बैठने नहीं देती। पशुपक्षियों को देखो! यदि परीक्षार्थ मनुष्य बैठ भी रहे तो भी आन्तरिक क्रिया अवश्य होती रहेगी और क्षुधा पिपासा ये दोनों ऐसी बलवती प्रेरणाएं हैं कि बड़े २ विज्ञानी और

योगी को भी नचाया करती हैं। तुम सब देखती हो कि विश्राम सब ही प्राणी करना चाहते हैं किन्तु करते नहीं। मरण क्षण तक लोग चिन्तानिमग्न रहते हैं अनेक मुमूर्षुजन मृत्यु समय रोने लगते हैं जब तक कण्ठावरोध नहीं होता तब तक पुत्र पौत्रादिकों को कुछ समझाते रहते हैं। ईश्वरीय माया अत्यन्त प्रबला है। उस से कोटियों में एक ही आध बच जाता है।

'एवमस्तु। इस शब्द से विशेष शिक्षा यह लेनी चाहिये कि हम मनुष्य भी अपने अबोध भाइयों को सुकर्ममें लगाया करें और जहां तक हो ज्ञान विज्ञान के प्रसार में बहुत तत्पर रहें। लोगों के दुःख हरणार्थ पाठशाला, चिकित्सालय, व्यापार, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य इत्यादि की उन्नति के लिये मनुष्यों को प्रोत्साह न देवें। इन सबसे बढ़कर लोगों को परमार्थ की ओर आने के लिये भूयोभूयः प्रेरणा किया करें और मन में सदा यह ध्यान रक्खें कि हमारे निखिल क्रियमाण कर्मों को वह आत्मस्वरूप अन्तर्यामी देखता है। यदि दुष्कर्मों से हम निवृत्त न रहे तो अत्यन्त अधःपतन अवश्यम्भावीहै अतः सर्वभाव से उस की शरण में अपने को समर्पित कर व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक कार्य्य करते रहें।

इति अन्तर्यामीनामविवेकः समाप्तः

अथ गृहप्रविष्टनाम विवेकः

श्रीरूपकुमारी–कठवल्ली उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन आता है कि:—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे॥
छायातपौ ब्रह्मविदोवदन्ति।
पञ्चाग्नयो येच त्रिणाचिकेताः॥

(परमे) उत्कृष्ट (परार्धे) हृदय में स्थित जो गुहा उस (गुहाम्) गुहा में (प्रविष्टौ) प्रविष्ट दो पदार्थ हैं । जो (सुकृतस्य) सुकर्म के (लोके) लोक में अर्थात् सुकर्मसे प्राप्त इस देह में (ऋतम्) अव- श्यंभावी कर्मफल को (पिबन्तौ) भोगते हुए वर्तमान हैं। उन दोनों को (ब्रह्मविदः) ब्रह्म वादी गण और (पञ्चाग्नयः) कार्मिकगण और जो (त्रिणाचिकेताः) त्रिणाचिकेत हैं वे सब (छायातपौ) छाया और आतप के समान (वदन्ति) भिन्न २ कहते हैं । परार्ध =पर=परमात्मा । अर्ध=स्थान । परमात्मा का जो स्थान उसको परार्ध कहते हैं । यह हृदय भी परमेश्वर का स्थान है अतः यह भी परार्ध कहाता है । त्रिणाचिकेत=नाचिकेत अग्निको जो तीनस्थानों में स्थापित करे वह त्रिणाचिकेत । अर्थात् नाचिकेत वाक्यों का अध्ययन, तदर्थज्ञान और तदनुष्ठान इन तीनों से तात्पर्य है । यहां पर इस प्रकार शङ्का और समाधान होता है।

शिष्य-भगवन् ! यहां यह सन्देह होता है कि बुद्धि और जीव यहां कहे गए हैं अथवा जीव और परमात्मा । इन दोनों पक्षों में से कौन पक्ष समीचीन है । यदि बुद्धि और जीव । तब इस कार्य्य कारण समूहात्मक बुद्धियुक्तशरीर से जीव भिन्न है यह भी दिख- लाना चाहिये क्योंकि श्रुति कहती है कि:-

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नाय- मस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

हे यम ! मनुष्य समाज में जो यह जीवात्मसम्बन्धी संशय है कि कोई कहते हैं कि यह जीव शरीर से भिन्न है और कोई कहते हैं कि इस शरीर से पृथक् जीव नहीं है । इस विषय को भी मैं आप से जानना चाहता हूं यह मेरा तृतीय वर है । यहां बुद्धिविशिष्ट शरीर से भिन्न आत्मसम्बन्धी प्रश्न है ।

यदि गुहा प्रविष्ट जीव और परमेश्वर अभिप्रेत हो तो जीव से

विलक्षण परमात्मा प्रतिपादित होता है इस को भी विस्पष्टरूप से दिखलाना चाहिये। क्योंकिः-

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥

जो धर्म, अधर्म, कृत, अकृत, भूत और भविष्यत् इत्यादि सबसे विलक्षण हो उसको आप देखते हैं। उसका उपदेश मुझको कीजिये। इत्यादि वर्णन से जीव विलक्षण ईश्वर सिद्ध होता है। यहां आक्षेप कर्ता कहते हैं कि यहां दोनों पक्ष संभव नहीं। क्योंकि ऋतशब्द का अर्थ कर्मफल है उसका पान चेतन जीव करता है अचेतना बुद्धि नहीं। किन्तु " पिबन्तौ " यह द्विवचनान्त है। दोनों पी नहीं सकते अतः बुद्धि और जीव नहीं हो सकते। इसी कारण परमात्मा और जीव भी नहीं हो सकते। क्योंकि परमात्मा यद्यपि चेतन है तथा कर्मफल भोक्ता वह नहीं। श्रुत्यन्तर में कहा है " अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " न खाता हुआ वह सब देख रहा है। यदि इस पर कोई कहे। जैसे एक राजा छत्र लगाकर चलता है वहां लोग कहते हैं कि " छत्रिणो गच्छन्ति " सब छत्र वाले जाते हैं। समस्त-राजसमाज मे छत्रित्वका आरोप करके वैसा प्रयोग करते हैं। तद्वत्-उपचार से एक पीने वाले के साथ द्वितीय भी पीने वाला समझा गया हो। यद्वा जीव पीता है उसको ईश्वर पिलाता है। पाययिता (पिलाने वाला) भी पाता (पीने वाला) कहलाता है यह लोक व्यवहार है। पकवाने वाले को भी पकाने वाला कहते हैं। इसी प्रकार बुद्धि और जीव भी अर्थ हो सकते हैं यद्यपि जीवकर्ता और बुद्धि करण है तथापि करण में भी कर्तृत्व का कथन होता है। जैसे " एधांसि पचन्ति " इन्धन पकाते हैं। यह संस्कृतप्रयोग होता है और अध्यात्माधिकार में दो अन्य नहीं कहे जा सकते। अतः या तो यहां बुद्धि और जीव का या जीव और परमात्मा का ग्रहण हो सकता है।

किन्तु मुझको बुद्धि और जीव ये ही दोनों यहां अभिप्रेत हैं यही समीचीन पक्ष प्रतीत होता है क्योंकि 'गुहा में प्रविष्ट' ऐसा विशेषण यहां उक्त है। गुहाशरीर हो अथवा हृदय हो दोनों प्रकारों से गुहा में प्रविष्ट जीव बुद्धि हो सकती है। जब यह अर्थ सुसंगत हो सकता है तब सर्वगत ब्रह्म का एक देश में स्थान कल्पना करना उचित नहीं। यहां सुकृत और दुष्कृत लोक में ये दोनों कर्म फल भोगते हैं ऐसा भी कहा है किन्तु परमात्मा इन दोनों से रहित है।

"नकर्मणा वर्धते नो कनीयान्"

यह कर्मसे न बढ़ता और घटता है इत्यादि श्रुति प्रमाण है। और छाया और आतप ये दोनों शब्द चैतनत्व अचेतनत्वरूप विलक्षणता दिखलाते हैं। इस कारण बुद्धि और जीवका ग्रहण यहां समीचीन है। इस शङ्का की निवृत्ति के लिये-

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। वेदा०१।२।११

इस सूत्र को व्यास रचते हैं। भाष्य में शङ्कराचार्य्य कहते हैं यहां विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा का ही ग्रहण है क्योंकि वे दोनों चेतन आत्मा समानस्वभाव वाले हैं जहां संख्या श्रवण होता है वहां समान स्वभाव वालों में ही प्रतीति होती है। जैसे इस बैल का जोड़ा दूसरा खोजो। यहां द्वितीय बैल को ही लोक अन्वेषण करते हैं। अश्व वा गजका अन्वेषण नहीं होता इस कारण ऋतपान से जीवात्मा की सिद्धि होने पर द्वितीय की अन्वेषणा- में समान स्वभाव चेतन परमात्माही होगा अन्य नहीं। यदि कहो कि सर्वगतपरमेश्वर की हृदय देशमें स्थिति की कल्पना अन्याय है तो यह दोष नहीं। गुहा में प्रवेश के दर्शन से ही परमेश्वर सिद्ध होता है क्योंकि श्रुतियों और स्मृतियों में गुहाप्रविष्ट परमेश्वर को वारम्वार कहा है। यथा—

१-गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। कठ० १। २। १२

२-यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्। तै०२।१

३–आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम् ॥

इत्यादि अनेक वचनों में परमात्मा को गुहा में प्रविष्ट कह रहे हैं इस हेतु सर्वगत परमात्मा का भी स्थान उपासना के लिये हृदय देश में कहा गया है तो कोई क्षति नहीं और सुकृत लोक में दोनों का रहना " छाते वाले जाते हैं " इस न्याय के समान हो सकता है। इस कारण विज्ञानात्मा और परमात्मा का ही यहां ग्रहण है। और भी–

विशेषणाच्च ॥ वेदा० १.। २ । १२

यहां उन दोनों के विशेषण भी आगे कहे गए हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु ॥

इत्यादि उत्तर ग्रन्थ से आत्मा को रथी और इस शरीर को रथ इस लिये कहा है कि संसार मोक्षके पार और पाने वाला जीवात्मा है पुनः–

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमंपदम्।

यह जीवात्मा मार्ग का पार पहुंचता है वही परमात्मा का परमपद है। यहां गन्ता जीवात्मा और गन्तव्य परमात्मा है तथाः–

तं दुर्दर्शं गूढमनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

धीरबुद्धिमान् विद्वान् यागादिद्वारा उस देवको जानकर हर्ष और शोक त्याग देते हैं। जो अत्यन्त दुर्दर्शनीय, गूढ, सब में प्रविष्ट गुहा में स्थित, चिरन्तन और नित्यत्वादि गुण युक्त है। यहां देखते हैं कि मन्ता जीवात्मा और मन्तव्य परमेश्वर है। येही दोनों पूर्व प्रसङ्ग में भी कहे गए हैं। अतः जीव और परमात्मा का ही यहां ग्रहण है अन्य का नहीं इसी प्रकारः–

" द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया "

इत्यादि स्थलों में सङ्गति लगानी चाहिये।

उपदेश

श्रीरूपकुमारी–ऐ पुत्रियों! इस महाप्रविष्ट शब्द का व्याख्यान और शङ्का समाधान आदि सूत्र और भाष्य के अनुसार दिखलाया गया है। किन्तु इस परमात्मावाची शब्द से तुम कौनसी शिक्षा ग्रहण करती हो। यहां पुनः उस अन्तर्यामी शब्द का स्मरण करती जाओ। जो परमेश्वर हमारे हृदय में व्यापक है वह क्या हमसे भिन्न है नहीं कदापि नहीं जो यहां भेद दिखला करके द्विवचनान्त शब्द आया है। वह केवल उपाधिमात्र भेद है। घटाकाश और महाकाशवत्। अब आगे देखो। श्रुति इस प्रकार सर्वव्यापी को अल्पदेशस्थित क्यों कहती है इस पर ध्यान देना चाहिये। जब वह सर्वगत है तब हमारे हृदय में भी है यह श्रुतिका कथन सर्वथा उचित ही है किन्तु ऐसे २ वर्णन पर अधिक विचार क्योंकर किया गया है। इस में सन्देह नहीं कि श्रुति के अनेक भाव हैं। यहां एक दो आशय बतलाए जाते हैं। १–प्रथम जब परमेश्वर हमारे हृदय में ही स्थित है तो इस का अन्वेषण अन्यत्र करना अज्ञानियों का काम है। जैसे हमारे प्राण, वाणी और आत्मादिक में वह स्थित है वैसे ही सूर्य्य चन्द्र, तारका, पृथिवी आदि में भी वह स्थित है। तब इसकी प्राप्ति के लिये सूर्य्यादिक प्रतीक में उस की उपासना क्यों की जाय और सूर्य्यादि देवताओं की अपेक्षा से मनुष्य शरीर सर्वथा श्रेष्ठ है। यह कई स्थलों में उपदिष्ट हुआ है। इसीकारण तब अन्यत्र जगन्नाथादिक तीर्थों में उसकी अन्वेषणा करनी भी वैसी ही अज्ञानता है। अतएव वारंवार श्रुति कहती है कि इस आत्मा से अन्यत्र अन्वेषण करने वाले अज्ञानी हैं। और अभेद सूचनार्थ "अहम् ब्रह्मास्मि" अयमात्मा ब्रह्म 'तत्वमसि' इत्यादि वाक्यों का उपदेश किया गया है।

२–द्वितीय यह है कि परमात्मा सबके हृदय में स्थित होकर सब

के शुभाशुभ कर्म देखरहा है। हे मनुष्यो! तुम्हारे साक्षी स्वयं परमात्मा हैं अतः पाप कर्मों में मत प्रवृत्त हो। जब एक सज्जन धर्मात्मा, माता, पिता, आचार्य्य गुरु, राजा, पुरोहित इत्यादि के समीप दुष्कर्म नहीं करते तब सर्वद्रष्टा, सर्वधाता परमात्मा के निकट क्योंकर पाप कर्म करने चाहियें। वहां वही शासक, वही साक्षी, वही दण्डविधाता, वही न्यायाधीश आदि है। अतः वारंवार श्रुति कहती है कि वह तेरे हृदय में स्थित है। ३-तृतीय बात यह है कि ये जीव और परमेश्वर समान, साथ रहने वाले, सखा इत्यादि भी कहे गए हैं। इस से जीवों को चितौनी दी जाती है कि ऐ जीवो! तुम्हारा परममित्र तुम्हारे साथ ही है। तुम क्योंकर सोचते और क्योंकर महादुःखसागरमें पतित हो। वहां ही वह परेशस्थित है उसको साक्षात् देख निज भ्रम दूर करो। इत्यादि अनेक उपदेश मिलते हैं। हे पुत्रियो! मनुष्य में कितनी अज्ञानता है इस का वर्णन कोई नहीं कर सकता। अपने आत्मा को अथवा तत्समीपस्थ परमात्मा को न जानकर इधर उधर मारे फिरते हैं। जो परमानन्दस्वरूप निज आत्मा है उस में आनन्द न ढूंढ कर पुत्र, कलत्र, धन, धान्य, भोग विलास आदिकों में सुख खोजते हैं। पुत्रियो! तुम गुहाप्रविष्ट आत्मा को जानो।

इति गुहाप्रविष्टनामविवेकः समाप्तः

अथ अङ्गुष्ठमात्रनाम विवेकः

श्रीरूपकुमारी-वेद के अनेक स्थानों में इस प्रकार उपदेश आता है:—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनितिष्ठति।

तथा

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाऽधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य सएवाद्य स उश्वएतद्वैतत्॥

शरीर के मध्य में अंगुष्ठमात्र पुरुष विद्यमान है। वह पुरुष

अंगुष्ठमात्र है, धूम रहित ज्योति के समान है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान का वह शासक है, वही आज, वही कल, वही सदा रहने वाला है। इत्यादि स्थल में जो यह अंगुष्ठमात्र शब्द आत्मा है वह जीवात्म वाचक है अथवा परमात्मवाचक है ? यह संशय प्रायः सब को होगा। अतः इस का निर्णय वेदान्तशास्त्र में किस प्रकार है इस को संक्षेपरूप से यहां दिखलाती हूं। तुम सब मन को एकाग्र कर सुनो।

शिष्य—यहां अंगुष्ठमात्र परिमाण कहा जाता अतः विज्ञानात्मा जीव का ही प्रतिपादन प्रतीत होता है। क्योंकि अनन्त आयाम और विस्तारयुक्त परमेश्वर का अंगुष्ठमात्र परिमाण कहना सर्वथा अयुक्त है। जीवात्मा उपाधि परिछिन्न है अतः किसी कल्पना द्वारा उसको अंगुष्ठमात्र कह सकेंगे। यहां स्मृति भी कहती है।

अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशं गतम्।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्॥

सत्यवान् के शरीर से यम ने बलात्कार उस अंगुष्ठमात्र जीवको निकाल लिया। इत्यादि प्रमाण से भी जीव ही प्रतीत होता है क्यों कि परमेश्वर को कोई भी खैंच नहीं सकता। हे गुरु ! इस सन्देह की निवृत्ति कृपया आप करें।

श्रीशङ्कर—यहां अंगुष्ठमात्र शब्द से परमेश्वर का ग्रहण है जीवात्मा का नहीं अतएव वेदव्यास कहते हैं—

शब्दादेव प्रमितः। वेदा० । १ । ३ । २४

वेद के प्रकरणस्थ शब्द से यहां अंगुष्ठमात्र ईश्वर ही है क्योंकि " ईशानो भूत भव्यस्य " भूत और भविष्यत् का वही शासक है ऐसा कहा है। परमेश्वर को छोड़ अन्य कोई भी भूत और भव्य का शासक नहीं हो सकता। और भी—वहां ही कहा गया है कि:—

अन्यत्रधर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद।

वह धर्म से, अधर्म से, कृत से, प्रकृत से, भूत से और भव्य से पृथक् है। हे यम आप कदाचित् उसको देखते हैं उसका उपदेश मुझको भी दीजिये। इत्यादि कठवल्ली उपनिषद् में जो वर्णन आया है। वह केवल ईश्वर में ही घट सकता है।

तब यदि पूछो कि सर्वगत ईश्वर का परिणामोपदेश कैसे ? इस सन्देह को दूर करने के लिये वेदव्यास इस सूत्र को रचते हैं:-

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्। वेदा०१।३ २

सर्वगत भी परमेश्वर का हृदय में स्थान है इस अपेक्षा से वह अंगुष्ठमात्र कहा जाता है। जैसे किसी छिद्रगत आकाश को कहे कि यहां अति अल्पआकाश है। यदि कहो कि अनन्त जीवों के अनन्त हृदय हैं सब का हृदय तुल्य नहीं तब पुनः वह अंगुष्ठमात्र कैसे ? इसके उत्तर में (मनुष्याधिकारत्वात्) यह कहते हैं। आशय इसका यह है कि यद्यपि सबके लिये शास्त्र प्रवृत्त है तथापि शास्त्र केवल मनुष्य के लिये ही है। क्योंकि यज्ञादि और उपासनादि यही कर सकता है। यही फलका प्रार्थी भी होता है। मनुष्य का काम नियतपरिमाण वाला है प्रायः उचितरूप से वही परिमाण होता है और शास्त्र में केवल मनुष्य का ही अधिकार सिद्ध होता है अत मनुष्य के हृदय की अपेक्षा से परमात्मा अंगुष्ठमात्र कहा गया है

इति संक्षेपतः।

इति अंगुष्ठमात्रनामविवेकः समाप्तः।

अथ ज्योतिःस्वरूपनाम विवेकः

पुनः उपनिषदों में यह वर्णन आता है, कि—

न तत्र सूर्यो भाति नचन्द्रतारकं-
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा-
सर्वमिदं विभाति। मु० २।२।१०।

इस का आशय यह है कि उसको सूर्य्य प्रकाशित नहीं करता, उसको चन्द्र और ताराएं भासित नहीं करतीं, उसको ये विद्युत् भासित नहीं करती। तब यह क्षुद्र अग्नि वहां किस गणना में है। वही प्रकाशित हो रहा है। उसी के प्रकाश से सब ही प्रकाशित होते हैं। यहां भी संशय हो सकता है कि जिसके प्रकाश के पश्चात् सब प्रकाशपाता है वह कोई तेजोधातु है अथवा प्राज्ञ आत्मा है। यहां भी प्रायः प्रथम तेजोधातु ही कहा जायगा। क्योंकि तेजोधातु से सूर्य्यादिक पदार्थ हैं उन के भान का वहां प्रतिषेध है। चन्द्र तारक आदि भी तेज स्वभाव वाले हैं। दिन में तेजोरूप सूर्य्य के भासमान होनेसे ये चन्द्र तारक आदि अभिभूत होकर भासित नहीं होते। तब जिसके भासमान होने से ये सूर्य्यादिक भी भासमान न होतेहैं अर्थात् अभिभूत होजातेहैं वह भी कोई महा तेजस्वी धातुमय पदार्थ ही होना चाहिये। यहांभी यही निश्चय करना चाहिये कि वह परमेश्वर ही है। यद्यपि सूर्य्यादिवत् वह प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित नहीं होता तथापि इस के आधार पर यह सम्पूर्ण जगत् है। यही सबका जीवन है। इसी प्रकार सूर्य्यचन्द्रादिक में उसी की शक्ति है जिससे वे भासरहे हैं "तेजोऽसितेजोमयि धेहि" इत्यादि प्रमाण से वही वास्तव में ज्योतिःस्वरूप है। सूर्य्या दिक में परमात्मा का ही तेज है। गीता कहती है—

न तद्भासयते सूर्यो नशशाङ्को न पावकः
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्

उस ब्रह्म को न सूर्य्य, न चन्द्र, न अग्नि, प्रकाशित करता है ज हां जाकर नहीं लौटते हैं वह मेरा परम धाम है। जो सूर्य्यगत है इस अखिल जगत् को भासित कर रहा है और चन्द्र और अग्नि में तेज है वह सब मेरा ही है। इत्यादिकः ॥

इसी प्रकार—

अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषुलोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।

छा० ३ । १३ । ७

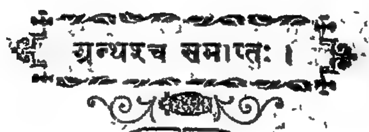
(यत्+ज्योतिः) जो ज्योति (अतः दिवः) इस द्युलोक से (परः) पर (दीप्यते) प्रदीप्त हो रहा है। जो (विश्वतः+पृष्ठेषु) सब के ऊपर स्थित है (अनुत्तमेषु) सब से उत्तम लोकों में और उत्तम लोको में प्रकाशित हो रहा है वह ज्योति यह है जो पुरुष के अभ्यन्तर में स्थित है।

इत्यादि स्थलों में भी ज्योतिः शब्द से उसी परमात्मा का ग्रहण है। इस पर " ज्योतिश्चरणाभिधानात् " इत्यादि वेदान्त सूत्रों को देखो। यहां मैं अनेक ईश्वरीय नामों की व्याख्या दिखलाकर ईश्वर का स्वरूप बतलाआई हूं इनसब पर अधिकमनन करने से ही ईश्वरीय महिमा प्रतीत होती है । वेदान्तशास्त्र पितृस्वरूप होकर सब को उत्तम उपदेश देकर मुक्ति की ओर लेजाना चाहता है। जो कुछ इस में है और जो कुछ इस से पर है वह सब ही ईश्वर का ही अंश है यह निश्चय समझो।

इस प्रकरण में भूमा, वैश्वानर, आकाश, प्राण, अक्षर, भूतयोनि, अन्तर्यामी, अत्ता, अंगुष्ठमात्र और गुहाप्रविष्ट आदि अनेक नामों की व्याख्या की है ये नाम विशेष कर वेद से सम्बन्ध रखते हैं इस के अतिरिक्त आनन्दमय, विज्ञानमय, इन्द्र, यम, अग्नि, मित्र, वरुण आदि भी बहुत से नाम हैं। महाभारत में विष्णु के एक सहस्र नाम कहे गए हैं। तन्त्रादिकों में भगवती के नाम एक एक सहस्र गिनाए गए हैं। जितनी मानव भाषाएं इस पृथिवी पर हैं उतने नाम भी ईश्वर के होंगे इस में भी सन्देह नहीं। अपनी २ भाषा में कविगणों ने अच्छे २ नाम ईश्वर के बनाए हैं। पृथिवीस्थ सब ही मनुष्य इस

ईश्वर का गुण किसी न किसी नामसे गाते हैं किन्तु वेदान्तशास्त्र का विलक्षण सिद्धान्त है। यह नाम और रूप को कल्पित मानता है। केवल नाम से इस का कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। स्वरूप ज्ञान से प्रयोजन सिद्ध होता है यह वेदान्तका परमार्थ है। अतः किसी प्रकार आत्मबोध करो इस आत्मा को न गिराओ ॥

इति श्री रूपकुमारी कृते वेदान्त
पुष्पाञ्जली चित्स्वरूपविवेकः
समाप्तः।





सूचना-

छापी लेखक की भूल से इस पुस्तक में पृष्ठ ६० से आगे पुनः पृष्ट १ से २२ तक पृष्ठ संख्या छपी है। २२ पृष्ठ से आगे ८३ पृष्ठांक मिलेगा आगे क्रम ठीक है।